जनवरी १९४२ : २०००
मूल्य
सवा रुपया

प्रकाशक,
मार्तण्ड उपाध्याय, मन्त्री,
सस्ता साहित्य मण्डल,
नई दिल्ली

मुद्रक,
देवीप्रसाद शर्मा,
हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस,
नई दिल्ली

लेखक की ओर से

"हमारी सारी शिक्षा व्यर्थ है, हमारी पाठशालाओं, विद्यालयों आदि पर जो कुछ व्यय किया जारहा है; हम अक्षर-ज्ञान में जो अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं, वह सब व्यर्थ है, जबतक कि हमें अपने साधारण नागरिक कर्त्तव्यों और अधिकारों की शिक्षा नहीं दी जाती। शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य यही है कि व्यक्ति अपने को अपने लिए, अपने कुटम्ब के लिए, अपने समाज के लिए यथासंभव उपयोगी बना सके और समाज में अपना उपयुक्त स्थान प्राप्त कर सके। सच्चा नागरिक ही वास्तविक शिक्षा-प्राप्त व्यक्ति है। मेरी तो यही आशा है, आकांक्षा है, यही अभिलाषा है। मैं तो उस दिन की उत्कण्ठा से प्रतीक्षा कर रहा हूँ जब हमारे देश में सच्चे नागरिकों, वास्तव में कार्यकुशल नर-नारियों की हर प्रकार के कार्य में इतनी बहुतायत होगी कि हम सच्ची स्वतंत्रता प्राप्त कर उसे निबाह सकेंगे, उसे स्थापित कर सकेंगे और अपने देश में उसी प्रकार से आत्मसम्मान-युक्त, स्वतंत्र-पुरुषोचित जीवन व्यतीत कर सकेंगे, जैसा अन्य देशों के स्त्री-पुरुष कर रहे हैं।"

काशी के सुप्रसिद्ध कर्मशील विद्वान् श्री श्रीप्रकाश एम. एल. ए. ने अपने एक लेख के अन्त में उपर्युक्त विचार प्रकट किये हैं। वास्तव में शिक्षा उस समय तक व्यर्थ है जबतक कि वह व्यक्ति को एक उपयोगी श्रेष्ठ नागरिक नहीं बनाती।

आज हम बड़े गौरव के साथ यह कहते हैं कि आर्य-संस्कृति सर्वोत्कृष्ट है, आर्य-धर्म तथा आर्य-सभ्यता सर्वश्रेष्ठ है। हम अपने ऐतिहासिक अतीत पर गर्व करते हैं। यह सब ठीक है और इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि गौरवमय अतीत उज्वल भविष्य के लिए स्फूर्ति और बल प्रदान करता है। परन्तु जब हम अपने नागरिक जीवन पर दृष्टि डालते हैं तो हमें घोर निराशा होती है यद्यपि जैसे-जैसे हमारे देश में राष्ट्रीय नवचेतना बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे हमारे नेताओं में

नागरिक-जीवन के सर्वतोमुख सुधार के लिए तीव्र अभिलाषा तथा चेष्टा भी स्पष्ट दीख पड़ती है।

संसार का इतिहास यह वतलाता है कि किसी देश ने अपनी जो उन्नति की उसका श्रेय वहाँके नागरिकों के श्रेष्ठ और उच्चतम नागरिक-जीवन को ही रहा है। किसी देश में किसी महात्मा या महान् उन्नायक के जन्म लेने मात्र से ही राष्ट्र में जीवन का संचार नहीं होने लगता। इसके लिए तो समूचे राष्ट्र की आत्मा में चेतना की आवश्यकता होती है। प्रत्येक देश में महान् धार्मिक तथा राजनीतिक नेता तथा महापुरुष पैदा हुए हैं; परन्तु वास्तव में उन्नति उन देशों ने ही की है जिनकी जनता ने वहु-संख्यक श्रेष्ठ नागरिकों को जन्म दिया।

नागरिक-जीवन को श्रेष्ठ वनाने की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या हमारे देश के सामने भी है। अभीतक हमारी शिक्षा-प्रणाली में इस महत्त्वपूर्ण अंग की उपेक्षा की गयी है। नागरिक-शास्त्र के ज्ञान के लिए कोई व्यावहारिक शिक्षा का प्रवंध हमारे विद्यालयों व विश्व-विद्यालयों में नहीं किया गया। हमारी शिक्षा-संस्थाओं में नागरिक शात्र (Civics) की सामान्य शिक्षा का प्रवन्ध तो है; पर वह पहले तो प्रत्येक विद्यार्थी के लिए अनिवार्य विषय नहीं है और जो है उससे उसे कोई उपयोगी व्यावहारिक लाभ नहीं मिलता। विद्यार्थियों को नागरिक-शास्त्र की केवल सैद्धान्तिक शिक्षा दी जाती है जिससे वे अपने जीवन में न कोई लाभ उठा सकते हैं और न वास्तविक भारतीय सांस्कृतिक एवं नागरिक जीवन से ही परिचय प्राप्त कर सकते हैं।

संसारभर के शिक्षा-विशारद इससे सहमत हैं कि शिक्षा ही समाज के पुर्ननिर्माण का आधार है। अतः हमें भारतीय शिक्षा-प्रणाली में ऐसे सुधार करने चाहिएं जिससे हमारे भावी नर-नारियों में अपनी संस्कृति, अपने आदर्शों, अपने विचारों एवं अपनी जीवनप्रणाली के प्रति अनुराग एवं श्रद्धा का भाव उदय हो और वे वास्तविक अर्थ में सच्चे उपयोगी नागरिक वन सकें। सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन् के शब्दों में 'हमारा एक उद्देश्य यह होना चाहिए कि हम भारत को संयुक्त, शान्त और

गौरवपूर्ण देखें जिसमें हमें जीवन का एक नवीन दृश्य देखने को मिले। हमें आर्थिक न्याय, सामाजिक समता तथा राजनीतिक स्वाधीनता के महान् आदर्शों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए।'

आज के युग में विज्ञान तथा वैज्ञानिक आविष्कारों के चमत्कारों ने सारे संसार को एक परिवार वना दिया है। आज हमने इनके प्रताप से समय तथा दूरी पर आश्चर्यजनक विजय प्राप्त करली है। इसलिए इस युग में हमारी नागरिकता केवल नगर या राष्ट्र तक ही परिमित नहीं रह सकती। वास्तव में मानव-संस्कृति का लक्ष्य तो मानव-एकता है। इसलिए मैंने इस पुस्तक में नागरिकता पर व्यापक दृष्टि से विचार किया है और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीयता का नागरिक-जीवन से जो घनिष्ठ सम्बन्ध है, उसकी ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करने के साथ-साथ नागरिकता के सिद्धान्तों की मीमांसा करते हुए नागरिक-जीवन के पारवारिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक आदि सभी पहलुओं पर सविस्तर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है।

आर्य संस्कृति ही संसार की सबसे प्राचीन तथा महान् संस्कृति है। अन्य संस्कृतियाँ इससे पैदा हुई हैं अथवा इसके विकृत रूप हैं। भारत में हिन्दू संस्कृति के रूप में यह संस्कृति आज भी विद्यमान है। परन्तु आज भारत में 'मुस्लिम संस्कृति का भी अस्तित्व है। मैं इन दोनों संस्कृतियों को एक तो नहीं मानता क्योंकि दोनों में भारी मौलिक भेद हैं, तो भी मैं भारत में सांस्कृतिक एकता का समर्थक हूँ क्योंकि इस प्रकार के प्रयास से ही हमारे नागरिक-जीवन में समन्वय और सहकारिता की भावना जाग उठेगी और उससे समूचे राष्ट्र का कल्याण होगा।

'सांस्कृतिक-जीवन' अध्याय वड़ा होगया है। वह इस पुस्तक का मेरुदण्ड है। इसके अन्तर्गत शिक्षा, भाषा, राष्ट्रभाषा, लिपि, साहित्य कला और संस्कृतियों पर विचार किया गया है। जहाँ भारतीय साहित्य एवं कला के विषय में विवेचन है, वहाँ मेरा अभिप्राय उनकी विशेषताओं तथा आदर्शों एवं विचारधाराओं पर ही प्रकाश डालना रहा है। मैंने भारतीय साहित्य तथा प्रान्तीय भाषाओं का क्रम-बद्ध

विवेचन करना उचित नहीं समझा। इस कारण केवल हिन्दी-साहित्य को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करके भारतीय साहित्य के आदर्शों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। इसका यह अर्थ नहीं कि मैं प्रान्तीय भाषाओं और उनके साहित्य की आवश्यकता एवं महत्त्व को स्वीकार नहीं करता।

मैंने इस ग्रन्थ में प्रत्येक धर्म, संस्कृति और राजनीतिक विचार-धारा के मूल सिद्धान्तों एवं प्रवृत्तियों को जहाँतक हो सका सच्चाई के साथ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है और प्रत्येक विषय का विवेचन इस ढंग से किया है कि कोई बात विवाद-ग्रस्त न बन जाये, परन्तु आवश्यकतानुसार कहीं-कहीं सिद्धान्तों व प्रवृत्तियों की आलोचना भी की गयी है।

इस ग्रन्थ द्वारा मैंने सांस्कृतिक प्रकाश में भारत के नागरिक-जीवन की एक झलक प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इस प्रयास में मुझे कहाँतक सफलता मिली है, इसका निर्णय मैं विज्ञ पाठकों तथा उदार-हृदय विद्वान् समालोचकों पर ही छोड़ता हूँ।

इस रचना में जो विचार तथा भाषा-सम्बन्धी त्रुटियाँ रह गयी हैं, मैं कृपालु पाठकों से विनयपूर्वक क्षमा चाहता हूँ। आगामी संस्करण में उन्हें दूर कर दिया जायेगा।

इस ग्रन्थ की रचना में मुझे जिन ग्रन्थों से सहायता मिली है उसे मैंने यथास्थान स्वीकार किया है और सहायक-ग्रंथों की एक सूची भी अन्त में जोड़ दी है। मैं हृदय से उनके विद्वान् लेखकों एवं प्रकाशकों को धन्यवाद देता हूँ।

१५ दिसम्बर, १९४०
राजामण्डी, आगरा

रामनारायण यादवेन्दु

विषय-सूची

१. विषय-प्रवेश

राज्य—राज्य के आवश्यक अंग—राज्य और शासन में अन्तर—राज्य और नागरिक—नागरिक-शास्त्र क्या है ?—राजनीति-विज्ञान और नागरिक शास्त्र में अन्तर। ३–१२

२. नागरिक-शिक्षा

नागरिक-शास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता—इतिहास का अध्ययन और नागरिकता—सामाजिक विज्ञानों का उद्देश्य—नागरिक शास्त्र के अध्ययन की पद्धति। १३–१६

३. मानव-समाज

मानव-समाज का संगठन—संसार के महान् राज्य—संसार की पराधीन जातियाँ—एशिया के पराधीन राष्ट्र—अफ्रीका के उपनिवेश—अमरीका में मुनरो सिद्धान्त। २०–३०

४. साम्राज्यवादी प्रवृत्तियाँ

आर्थिक साम्राज्यवाद—राष्ट्रीय स्वाधीनता का शत्रु : साम्राज्य-वाद—जनता का आर्थिक शोषण—राष्ट्रीय जागरण का दमन—विश्व की अशान्ति का कारण। ३१–३६

५. अन्तर्राष्ट्रीयता

अन्तर्राष्ट्रीयता क्या है ?—राष्ट्रों की अन्योन्याश्रयता—प्रभुत्व का सिद्धान्त—अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ—राष्ट्रसंघ की विफलता और उसके कारण—अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सहयोग। ३७–५१

६. भारतवर्ष और अन्तर्राष्ट्रीयता

भारत का विश्वप्रेम—विश्व-बंधुत्व और सम्राट् अशोक—संसार की स्थिति और भारतवर्ष—भारत का अंग-भंग—प्रवासी भारतीय—साम्राज्य-विरोधी संघ—पी० ई० एन० और भारत। ५२–६७

७. राष्ट्रीयता

राष्ट्रीयता क्या है ?—राष्ट्रीयता के उदय के कारण—राष्ट्रीयता की भावनाएँ—भारतीय राष्ट्रीयता और पं० जवाहरलाल नेहरू। ६८–८५

८. नागरिक-स्वाधीनता

अधिकार और कर्त्तव्य—नागरिक समानता—भारत का शासन-विधान और मौलिक अधिकार—आर्थिक समानता—वैयक्तिक स्वाधीनता—शरीर स्वाधीनता—विचार स्वाधीनता—गृह-विद्रोह या युद्ध-काल में नागरिक स्वाधीनता—समाचार पत्रों की स्वाधीनता—सभा-संगठन की स्वाधीनता—धार्मिक स्वाधीनता—व्यावसायिक स्वाधीनता—अन्य नागरिक अधिकार—राजनीतिक अधिकार। ८६–११४

९. नागरिकों के कर्तव्य

अधिकार और कर्त्तव्य—कर्त्तव्य-परायणता की आवश्यकता—कर्त्तव्यों के प्रकार—शासन-प्रबन्ध में सहयोग—क़ानून-निर्माण में नागरिकों का योगदान—राज्यों के कानूनों का पालन—शान्ति-रक्षा में सहयोग—राज्य-कोष में कर तथा लगान आदि देना—स्वदेश-रक्षा—कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय। ११५–१२९

१०. प्रजातन्त्र

प्रजातन्त्र क्या है ?—प्रजातन्त्र के प्रकार—प्रजातन्त्र का आधार—प्रजातन्त्र के तत्त्व—प्रजातन्त्र शासन के गुण—प्रजातन्त्र शासन के दोष—भारतवर्ष और प्रजातन्त्र—पाकिस्तान। १३०–१३९

११. धार्मिक जीवन

नागरिक जीवन और धर्म—वैदिक धर्म—जैन-मत—बौद्धमत—सिख-मत—हिन्दू-समाज के अन्य मत-मतान्तर—इस्लाम धर्म—ईसाई-धर्म—पारसी-धर्म। १४०–१५२

१२. सामाजिक जीवन

हिन्दू-जीवन—वैदिक वर्ण-व्यवस्था—वर्तमान-युग में वर्ण-

व्यवस्था—जाति-प्रथा—कुटुम्ब का प्रयोजन—संयुक्त-कुटुम्ब-प्रथा—संयुक्त-कुटुम्ब में स्त्री-पुरुष के अधिकार—संयुक्त-कुटुम्ब-प्रथा का भविष्य—आश्रम - व्यवस्था—अस्पृश्यता—**मुस्लिम-जीवन**—उत्तराधिकार—विवाह—तलाक़। १५३–१७२

१३. नागरिकों का स्वास्थ्य

स्त्री-पुरुषों की मृत्यु-संख्या का अनुपात—भारत की मृत्यु संख्या—भारत की जन-संख्या में वृद्धि—प्रसूति-काल में मृत्यु—जीवन-काल का औसत—संक्रामक रोगों की वृद्धि और भीषणता—भारत के अपाहिज—अस्वास्थ्य के कारण—स्वास्थ्य-सुधार के उपाय। १७३–१८७

१४. सांस्कृतिक जीवन

शिक्षा—प्राचीन काल में शिक्षा—स्त्रियों की शिक्षा—वर्तमान शिक्षा-प्रणाली—अन्य शिक्षा संस्थाएँ—दलित जातियों में शिक्षा—वर्धा-शिक्षा-पद्धति—**भाषा और लिपि**—हिन्दी-राष्ट्रभाषा—हिन्दी-भाषी प्रान्त—अहिन्दी-भाषी प्रान्त—हिन्दुस्तानी—हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और राष्ट्रभाषा—भारतीय साहित्य-परिषद और 'हिन्दी हिन्दुस्तानी'—राष्ट्रभाषा प्रचार समिति और हिन्दुस्तानी—राष्ट्र-लिपि की समस्या—**साहित्य**—हिन्दी-साहित्य—**कला**—भारतीय कला के आदर्श—संगीत-कला—नृत्य कला—चित्र कला—वास्तु कला—मूर्ति-कला—नागरिक जीवन और कला—**संस्कृति**—संस्कृति क्या है?—आर्य-संस्कृति के आदर्श—आर्य-संस्कृति की प्रवृत्तियाँ—अरबी और मुस्लिम संस्कृति—मुस्लिम संस्कृति में परिवर्तन—आर्य-संस्कृति पर मुस्लिम संस्कृति का प्रभाव—मुस्लिम संस्कृति पर आर्य-संस्कृति का प्रभाव—भारतीय-संस्कृति पर पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव। १८८–२४५

१५. आर्थिक जीवन

आर्थिक स्थिति—औद्योगिक स्थिति—व्यापारिक स्थिति—भारत के आर्थिक साधन—भारत का आर्थिक संगठन—भारत की ग़रीबी के मूल कारण। २४६–२७६

कृषि—भूमि-प्रणालियाँ—बन्दोबस्त—लगान की दर—जमींदारी प्रथा की उत्पत्ति और विकास—संयुक्तप्रान्त में जमींदार और उनके अधिकार—संयुक्तप्रान्त में किसान और उनके अधिकार—किसानों का कर्जा—उद्योग-व्यवसाय—कारखाने—पैदावार—ज्वायण्ट स्टॉक कम्पनियों की पूँजी—मजदूरों की दशा—मजदूरों के हित के लिए कानून।

१६. राष्ट्रीय जीवन

शासन-पद्धति—भारतीय संघ-शासन—प्रान्तीय शासन-प्रणाली—गवर्नरों के अधिकार—प्रान्तीय व्यवस्थापक-मण्डल—स्थानिक स्वायत्त शासन—म्यूनिसिपल बोर्ड—जिला-बोर्ड—ग्राम-पंचायतें।

राष्ट्रीय नवजागरण—राष्ट्रीयता का उदय—राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना—राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) की स्थापना—वंगभंग और स्वदेशी आन्दोलन—स्वराज की माँग।

राष्ट्रीय आन्दोलन—गांधीयुग का आरम्भ—दमन तथा शासन-सुधार—असहयोग-आन्दोलन—स्वराज्य दल का जन्म—पूर्ण स्वराज की ओर—सत्याग्रह-आन्दोलन—गोलमेज-परिषद्—ऐतिहासिक उपवास—विधानवाद की ओर—नया शासन-विधान और कांग्रेस—कांग्रेस-मंत्रि-मण्डलों का पदत्याग—युद्धविरोधी सत्याग्रह—मुस्लिम लीग की राजनीति—नरमदल की राजनीति—हिन्दू-महासभा की राजनीति—भारतीय ईसाई और राष्ट्रीयता—दलितवर्ग और उसकी राजनीति।

२७६—३१४

भारतीय संस्कृति

और

नागरिक जीवन

: १ :

विषय-प्रवेश

समाज ऐसे व्यक्तियों का समूह है, जिन्होंने व्यक्तिगत हितों की सार्वजनिक रक्षा के लिए, सार्वजनिक व्यवहार में समता उत्पन्न करने-वाले कुछ सामान्य नियमों से शासित होने का समझौता कर लिया है। प्रत्येक व्यक्ति में व्यक्तिगत विशेषताएँ होती है। इसी प्रकार समाज की भी विशेषताएँ होती हैं। समाज में व्यक्ति इन दोनों—व्यक्तिगत एवं समाजगत—विशेषताओं की रक्षा के लिए नियम बनाते हैं। समाज की प्रारम्भिक अवस्था में ये नियम अत्यन्त स्थूल और सामान्य होते हैं और जैसे-जैसे समाज विकसित और प्रगतिशील होता जाता है, वैसे-वैसे सामाजिक नियम अत्यन्त विस्तृत, विशद और जटिल होते जाते हैं। मानव-समाज का ऐतिहासिक दृष्टि से अवलोकन करनें से यह कथन भली भाँति प्रमाणित होता है।

अनेक भारतीय और यूरोपीय राजनीति-विज्ञान-विशारदों का यह मत है कि राज्य की उत्पत्ति से पहले समाज में अराजकता थी। समाज में न्याय और व्यवस्था के स्थान में शक्ति का शासन था। शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति दुर्बल व्यक्तियों का दमन करते थे। इसलिए इस दशा से तंग आकर सबने इकट्ठे होकर समझौता किया और उसके फलस्वरूप राज्य की उत्पत्ति हुई। यह सामाजिक समझौता ही राज्य की उत्पति का मूल है। मध्यकालीन यूरोपीय विचारक हॉब्स के अनुसार भी राज्य की उत्पत्ति से पूर्व अराजक दशा थी। हॉब्स के कथनानुसार इस अराजक दशा में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से निरन्तर लड़ा करता था। यह निरन्तर संघर्ष की दशा थी। सब एक-दूसरे पर सन्देह और अविश्वास करते थे। जिस तरह गुस्सैल भेड़िये एक-दूसरे को मार खाने के लिए एक-दूसरे पर झपटते रहते हैं, उसी तरह मनुष्य भी आपस में एक-दूसरे का विनाश करने के लिए संघर्ष करते रहते थे। उस समय न्याय-अन्याय और

965

उचित-अनुचित में कोई भेद नहीं था। उस समय शरीर-बल ही सब-कुछ था। महाभारत में अनेक स्थलों पर राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इस प्रकार के विचार मिलते हैं :

"अराजक राष्ट्रों में धर्म स्थिर नहीं रह सकता। अराजक अवस्था में लोग एक-दूसरे को खा जाते हैं। अराजक दशा में पापी लोग दूसरों का धन छीनने ही में आनन्द अनुभव करते हैं। पर जब दूसरे लोग इन पापियों को लूटने लगते हैं, तब इन्हें राजा की आवश्यकता होती है। इस भयंकर दशा में पापियों का भी तो भला नहीं होता, क्योंकि दो मिलकर एक को लूट खाते हैं और बहुत-से मिलकर दो को लूट लेते हैं। जो दास नहीं हैं, अराजक दशा में उन्हें दास बना लिया जाता है और स्त्रियों का बलपूर्वक अपहरण किया जाता है।"

प्राचीन भारतीय विद्वान धर्म की स्थिति के लिए राजा को अनिवार्य समझते थे। यह पहले कहा जा चुका है कि अराजक दशा में धर्म नहीं रह सकता। धर्म तथा सामान्य जीवन भी राजा के बिना नहीं रह सकता। प्राणियों का उत्पत्ति-क्रम जारी रखने के लिए राजा चाहिए ही। धर्म, अर्थ, काम—इस त्रिवर्ग की प्राप्ति राज्य के बिना नहीं हो सकती।[१] मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह किसी नियामक के बिना नियंत्रण में रह ही नहीं सकता। समाज में जहाँ कहीं भी सुव्यवस्था दृष्टिगोचर होती है, उसका कारण नियामक की सत्ता है। यदि मनुष्य सामाजिक मर्यादाओं एवं बन्धनों के अधीन न रहे, तो उसकी स्वच्छंदता के फलस्वरूप फिर अराजक दशा उत्पन्न हो जायगी। इस नियामक सत्ता के लिए महाभारत के शान्ति-पर्व तथा अन्य राज्य-विज्ञान के ग्रन्थों में 'दण्ड' शब्द का प्रयोग किया गया है :

"मनुष्य कहीं सम्मोह में पड़कर नष्ट न हो जायें, सम्पत्ति की रक्षा की जा सके, इसके लिए कोई मर्यादा चाहिए। इसी मर्यादा का नाम दण्ड है।"[२]

---

१. महाभारत: शान्तिपर्व, अध्याय १५, श्लोक ३

२. " " " १५, श्लोक १०

महाभारत में मानव-स्वभाव के सम्बन्ध में लिखा है—

"वह (मनुष्य) यदि यज्ञ करता है या दूसरे की भलाई करता है, तो केवल दण्ड के भय से। यदि वह दान करता है, तो केवल दण्ड के भय से। मनुष्य जो ठीक रास्ते पर चलता है, अपने व्यवहार को स्थिर रखता है उसका एक मात्र कारण दण्ड है।"[१]

इस प्रकार राज्य की उत्पत्ति हुई। भारतीय विचारकों के मतानुसार राजा ही धर्म, अर्थ, काम की उत्पत्ति का मूलाधार है। प्राचीन काल में राजा की इस महत्ता के कारण ही कुछ विचारकों ने राजा में दैवी शक्ति की कल्पना की। पद्म-पुराण में लिखा है—'राजा नारायण या परमेश्वर के अंश से उत्पन्न हुआ है, वह किसी भी अवस्था में मनुष्य नहीं है।"[२]

यूरोप में मध्यकाल में यूरोपीय विचारक तथा राजा राज्य की उत्पत्ति के ईश्वरीय या दैवी अधिकार में विश्वास करते थे। इस मत का पूर्ण विकास इंग्लैण्ड में स्टुअर्ट शासकों और फ्रांस में चौदहवें लुई के समय में हुआ। चौदहवाँ लुई बड़े गर्व के साथ कहा करता था—'मैं राजा हूँ। मेरी इच्छा राज्य की इच्छा है। मेरी आज्ञा राज्य का क़ानून है।' इसी सिद्धान्त के आधार पर इंग्लैण्ड के राजा चार्ल्स प्रथम और जेम्स अपने विरुद्ध आन्दोलन करनेवालों को ईश्वर की सत्ता के विरुद्ध आन्दोलन करने का अपराधी समझकर दण्ड दिया करते थे।

यद्यपि भारतवर्ष में राज्य का दैवी सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन काल में प्रचलित था, तथापि उसका इतना विकास नहीं हुआ था। वैदिक काल में राजा को ईश्वर या ईश्वर का प्रतिनिधि नहीं समझा जाता था। भारत में कुछ मध्यकालीन विचारकों ने राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि राज्य की उत्पत्ति का कारण यह था कि व्यक्ति पारस्परिक लूटमार,

---

१. महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय १५, श्लोक १२-१३

२. बालोऽपि नावमंतव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति॥

अन्याय और अव्यवस्था के परिणामस्वरूप दुःखी थे, अतः उन्होंने इकट्ठे होकर यह निश्चय किया कि समाज में नियम और मर्यादा द्वारा शांति और सुव्यवस्था की प्रतिष्ठा के लिए राज्य की स्थापना की जाये।

राज्य के आवश्यक अंग

'राज्य' शब्द एक निश्चित प्रदेश में वैध ढंग से ऐसी सुव्यवस्थित प्रजा का बोधक है जिसकी संख्या चाहे कम हो या अधिक, पर जो स्थायी रूप से उस प्रदेश में रहनेवाली हो और बाह्य नियंत्रण से मुक्त हो। साथ ही जिसका अपना शासन हो और जो स्वभावतः उसकी आज्ञा-पालक भी हो। राज्य के प्रमुख अंग निम्नलिखित हैं—

१. **प्रजा**—यह राज्य का प्रमुख और अनिवार्य अंग है। प्रजा के अभाव में राज्य की कल्पना सम्भव नहीं; पर राज्य के लिए प्रजा की संख्या निर्धारित नहीं है। प्राचीन युग में रोम और यूनान में नगर-राज्य थे। परन्तु जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता गया, युद्धों का भय अधिकाधिक बढ़ता गया तथा नवीन-नूतन आविष्कारों की वृद्धि होती गयी, वैसे-वैसे राज्य बड़े-बड़े होते गये और एक-एक राज्य में ३०-३० और ४०-४० करोड़ की प्रजा रहने लगी।

२. **भू-खण्ड**—प्रजा की तरह भू-खण्ड—निश्चित भू-खण्ड भी आवश्यक अंग है। भू-खण्ड के बिना भी राज्य की कल्पना सम्भव नहीं। यदि कोई जन-समुदाय समाज द्वारा निर्धारित नियमों का पालन करे भी और उसका एक प्रमुख भी हो, परन्तु यदि वह एक निश्चित भू-खण्ड में स्थायी रूप से निवास न करे तो वह राज्य का निर्माण नहीं कर सकता। जन-समुदाय राज्य का निर्माण उसी दशा में कर सकता है, जब कि वह किसी प्रदेश में स्थायी रूप से निवास करता हो। यह भू-खण्ड ऐसा होना चाहिए कि जिसपर किसी बाहरी सत्ता का अधिकार या नियन्त्रण न हो।

३. **हित-एकता**—राज्य के निर्माण के लिए एक निर्दिष्ट भूखण्ड पर रहनेवाली प्रजा में हितों की एकता का होना भी आवश्यक है। भाषा, संस्कृति, इतिहास और धर्म की दृष्टि से उनमें सामंजस्य होना जरूरी

है। जिस राज्य की प्रजा में स्वाभाविक रूप से धार्मिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक एवं भाषा-सम्बन्धी एकता एवं सामंजस्य नहीं होता, उस राज्य में सामाजिक शांति स्थायी नहीं रहती। जातीय एकता भी अत्यन्त आवश्यक है। राज्य की जनता में जाति, धर्म, सभ्यता, संस्कृति और भाषा-सम्बन्धी भेद-भाव ऐसे न हों जो राज्य-शासन और सामाजिक जीवन में अव्यवस्था और अशान्ति पैदा कर दें।

४. **शासन**—शासन भी राज्य का प्रमुख अंग है। यदि किसी निश्चित प्रदेश में जनता स्थायी रूप से रहती है और उसमें पारस्परिक एकता भी है, परन्तु यदि वह किसी शासन के अधीन नहीं है, तो वह राज्य नहीं कहला सकती। शासन के अभाव में प्रजा के ऐसे संगठन धार्मिक, आर्थिक या साम्प्रदायिक ही हो सकते हैं—राजनीतिक नहीं हो सकते।

५. **प्रभुता**—प्रभुता भी राज्य का प्रमुख और आवश्यक अंग है। प्रभुता का अर्थ यह है कि वह निर्दिष्ट प्रदेश जिसपर प्रजा स्थायी रूप से रहती है, और जिसका अपना शासन है, वह किसी वाह्य सत्ता के नियन्त्रण में न हो। स्वाधीनता के विना कोई ऐसा प्रदेश राज्य नहीं कहला सकता। उदाहरण के लिए, भारतवर्ष में सन् १९३१ की जन-गणना के अनुसार ३५ करोड़ जन हैं। परन्तु भारत का शासन और प्रभुता भारतीय प्रजा के हाथ में नहीं है। इसीलिए राजनीतिक परिभाषा में भारत राज्य नहीं है।

राज्य और शासन में अन्तर

उपर्युक्त विवेचन से राज्य और शासन का अंतर स्पष्ट है। सामान्यतया राज्य और शासन को पर्याय या समानार्थक माना जाता है। परन्तु ऐसी धारणा ग़लत है। राजनीतिक भाषा में राज्य और शासन में बड़ा भारी अंतर है। राज्य एक राजनीतिक समुदाय है और शासन उसका एक अंग है। देश के सभी निवासी सामान्यतया राज्य के सदस्य होते हैं, परन्तु शासन-यंत्र का संचालन अल्प-संख्यक प्रजा के हाथ में होता है। यह तो संभव

है कि किसी राज्य की शासन-नीति में परिवर्तन करना समस्त जनता के हाथ में हो, परन्तु उस नीति के अनुसार शासन-प्रबन्ध का कार्य एक विशिष्ट वर्ग के हाथ में होता है। शासन में परिवर्तन होते रहते हैं; एक शासन का स्थान दूसरा शासन लेता है। परन्तु राज्य में परिवर्तन नहीं होता वह स्थायी रूप से वैसा ही रहता है। शासन राज्य का अंग है और राज्य की सुव्यवस्था के लिए शासन अनिवार्य है। यही कारण है कि शासन का महत्त्व राज्य से अधिक है।

राज्य और नागरिक

राज्य के सदस्य को नागरिक कहा जाता है। इलाहाबाद विश्व-विद्यालय के राजनीति के प्रोफेसर डा० श्री वेणीप्रसाद के मतानुसार प्राचीनकाल में रोम-निवासी अधिकारों को ही नागरिकता समझते थे। जब रोम का साम्राज्य बढ़ा तब नागरिकता की नयी श्रेणियाँ हो गयीं। सबसे नीचे दर्जे की श्रेणी वह थी जिसमें लोगों को केवल दो-चार इने-गिने नागरिक-अधिकार ही प्राप्त थे और सबसे ऊँची श्रेणी वह थी जिसके लोगों को सभी नागरिक और सभी राजनीतिक अधिकार प्राप्त थे। वहाँ नागरिकता शब्द ही प्रचलित था, क्योंकि एथेन्स तथा अन्य यूनानी बस्तियों की तरह रोम भी पहले-पहल वास्तव में एक नगर-राज्य ही था। अधिकारों का संबंध, सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में पहले केवल नागरिकों से था। बाद में एकान्तरूप से नागरिकों के साथ उनका संबंध केवल सिद्धान्त में ही रह गया। सिर्फ नगर में निवास करना ही नागरिक की योग्यता थी। जो नगर में रहता था वही नागरिक कहलाता था। बाद को उसका यह अर्थ नहीं रह गया। नागरिकता का सम्बन्ध मुख्यतः अधिकारों ही से रह गया। जो लोग नगर में रहते लेकिन अधिकारों से वंचित होते थे, वे नागरिक नहीं कहलाते थे। उदाहरणस्वरूप गुलाम नागरिक नहीं थे, यद्यपि कई पीढ़ियों तक उन्होंने नगर में निवास किया था। इसके विपरीत वे लोग, जो असल में नगर के अन्दर तो निवास नहीं करते थे, लेकिन नगर के सदस्य माने जाते और अधिकार-

युक्त होते थे, नागरिक कहलाते थे।[1]

रोम और यूनान के नगर-राज्यों के निवासियों को 'नागरिक' कहा जाता था। उस समय नागरिकता से अभिप्राय नागरिक के अधिकारों से होता था और आधुनिक समय में भी नागरिकता से यही अभिप्राय है। परन्तु आधुनिक युग में नगर-राज्य नहीं हैं। उनके स्थान पर राष्ट्र-राज्य हैं। कालान्तर में नागरिकता की भावना में भी परिवर्तन हो गया है। नागरिकता का उदय रोम के छोटे-से नगर-राज्य में हुआ, परन्तु आधुनिक युग में वह समग्र देश-राज्य और राष्ट्र-राज्य में व्याप्त हो गयी है। प्रत्येक नागरिक, चाहे वह नगर-निवासी हो चाहे ग्राम-निवासी, समानरूप से नागरिक अधिकारों का उपभोग कर सकता है।

प्रोफेसर डा० बेनीप्रसाद का यह मत है कि

"अधिकारों के लिहाज से ग्रामवासी भी उसी प्रकार नागरिक हैं जिस प्रकार शहरवाले। यह बात जरूर है कि नगर राजनीतिक जीवन, धन, सभ्यता और संस्कृति के केन्द्र हैं; किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि शहरवालों के हित के आगे हम गाँववालों के हित का विचार न करें। ग्रामवासियों के हित को नगर-वासियों के हित के अधीन करना उचित नहीं है। दोनों के हितों पर बराबर ध्यान रखना चाहिए। इसी प्रकार सबसे काम करने की आशा भी करनी चाहिए। व्यवसाय, सम्पत्ति-रक्षा, न्याय, कौटुम्बिक जीवन, धार्मिक तथा सांस्कृतिक स्वतंत्रता, सार्वजनिक जीवन, तथा संघ-समिति के अधिकार और उनके साथ लगे हुए कर्त्तव्य गाँववालों से उतना ही सम्बन्ध रखते हैं जितना कि नगर-निवासियों से।"[2]

हिन्दी-साहित्य में 'नागरिक' शब्द का प्रयोग नगर-निवासी के अर्थ में प्राचीन समय से होता रहा है। हिन्दी में 'नागर' या 'नागरिक' शब्द का

---

१. डा० बेनीप्रसाद : नागरिक शास्त्र : चौथा अध्याय, पृ० ७४-७५ (सन् १९३७)

२. उपर्युक्त।

अर्थ है नगर में रहनेवाला। प्राचीन-काल में 'नागरिक' शब्द चतुर, शिष्ट तथा सभ्य के अर्थ में भी प्रयुक्त होता था। अंग्रेज़ी में 'सिटीज़नशिप' का जो अर्थ है, वही अर्थ हिन्दी में 'नागरिकता' का भी है।

इस सम्बन्ध में संक्षेप में यह जान लेना उचित होगा कि राजनीतिक भाषा में 'नागरिक' और 'प्रजा' इन दोनों में अन्तर है। स्वाधीन राज्य के निवासी नागरिक कहलाते हैं, और परतंत्र, अर्द्धपरतंत्र या एकतंत्र राज्य के निवासी 'प्रजा' कहलाते हैं, यद्यपि वैदिक और भारतीय साहित्य में 'प्रजा' शब्द का प्रयोग नागरिक के अर्थ में ही किया गया है। वेदों के अनेक मंत्रों में राजा-प्रजा के कर्त्तव्यों और अधिकारों का उल्लेख मिलता है। किन्तु आधुनिक समय में 'प्रजा' शब्द 'नागरिक' शब्द से हीन कोटि का है। 'प्रजा' से एक ऐसे जन-समुदाय का बोध होता है, जो ऐसे शासन के नियंत्रण में रहता है; जिसके संचालन में उसका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी भी रूप में हाथ नहीं।

परन्तु इस सम्बन्ध में एक अपवाद है। इंग्लैण्ड के नागरिक 'प्रजा' कहलाते हैं; यद्यपि वे नागरिकता के अधिकारों से युक्त हैं। दूसरी ओर भारत के निवासी भी प्रजा कहलाते हैं, नागरिक नहीं; यद्यपि भारतीयों को नागरिकता के पूर्ण अधिकार प्राप्त नहीं हैं।

नागरिक-शास्त्र क्या है?

जिस समय यूनानियों ने अपने देश में नगर-राज्यों की स्थापना की उसी समय में रोमवासियों ने इटली में वैसे ही नगर-राज्य स्थापित किये। वे नगर को 'सिविटस' कहते थे। अंग्रेज़ी में 'सिटी'—नगर—शब्द की उत्पत्ति इसी शब्द से हुई है। लैटिन भाषा के 'सिविस' शब्द का अर्थ नागरिक है। प्राचीन समय में यूनान में 'पॉलिटिक्स' शब्द का प्रयोग नगर के मामलों के सम्बन्ध में किया जाता था। इसी प्रकार इटली में नगर के मामलों के सम्बन्ध में 'सिविक्स' शब्द का प्रयोग किया जाता था। इस प्रकार भाषा-विज्ञान के अनुसार पॉलिटिक्स, राजनीति, 'सिविक्स' और नागरिक-शास्त्र का एक-सा ही अर्थ है। रोम और यूनान की

सभ्यता का प्रभाव समस्त यूरोप के देशों पर पड़ा और नागरिकता, नागरिक सभ्यता आदि शब्दों का प्रयोग अन्य भाषाओं में भी होने लगा। यही कारण है कि राजनीति और नागरिक शास्त्र में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि उनके बीच विभाजक रेखा खींचना असम्भव नहीं तो कठिन जरूर है।

राजनीति-विज्ञान और नागरिक-शास्त्र दोनों ही का राज्य के नागरिकों से सम्बन्ध है। वे मनुष्यों, मानव-समाज तथा राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का विवेचन करते हैं। नागरिकों के अधिकारों और राज्य के प्रति उनके कर्त्तव्यों का प्रतिपादन नागरिक-विज्ञान का विषय है। नागरिक-शास्त्र ऐसी अवस्थाओं और परिस्थितियों का निर्देश करता है जो नागरिकों के अनुकूल होती हैं और जिनमें रहकर वे व्यक्तिगत एवं सामाजिक उन्नति कर सकते हैं। नागरिक-शास्त्र इस बातका विवेचन करता है कि नागरिक-जीवन किस प्रकार उत्तम और सुखी बनाया जा सकता है। नागरिक जीवन को श्रेष्ठ बनाने के लिए राज्य की ओर से क्या-क्या सुयोग, सुविधाएँ होनी आवश्यक हैं; किन-किन कार्यों में राज्य को व्यक्तियों के कार्यों में हस्तक्षेप करना चाहिए और ऐसे कौन-से उपाय हैं जिनके द्वारा प्रत्येक नागरिकको यह विश्वास हो जाये कि वह शान्तिपूर्वक अपने श्रम के फल का उपभोग करता हुआ अपने राष्ट्र, नगर और विश्व में शान्ति-स्थापित करने में योग दे सकेगा।

राजनीति-विज्ञान और नागरिक-शास्त्र में अन्तर

विषय की दृष्टि से इन दोनों में तनिक भी अन्तर नहीं है। भेद केवल इतना ही है कि एक जिस बात पर अधिक जोर देता है दूसरा उसपर उतना जोर नहीं देता। निम्नलिखित तुलनात्मक वर्णन से यह सहज में जाना जा सकता है—

राजनीति-विज्ञान	नागरिक-शास्त्र
१. राजनीति-विज्ञान विशेषतः राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय विषयों	१. नागरिक-शास्त्र विशेषतः स्थानीय विषयों से सम्बन्ध रखता

का विवेचन करता है ।	है ।
२. राजनीति-विज्ञान राजनीतिक संस्थाओं और व्यवस्थाओं के विकास का इतिहास बतलाता है ।	२. नागरिक-शास्त्र उसविकास को पहले से ही मान लेता है ।
३. राजनीति-विज्ञान मुख्यतः अधिकारों और उनकी प्राप्ति के उपायों पर ज़ोर देता है ।	३. नागरिक–शास्त्र मुख्यतः कर्त्तव्यों और उनके सम्पादन के लिए आवश्यक शिक्षा और आचरण पर ज़ोर देता है ।

अतः यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि नागरिक-शास्त्र का विषय समूचे नागरिक-जीवन को श्रेष्ठ बनाना है—उसकी उन्नति करना है । वह सामाजिक अवस्थाओं और परिस्थितियों की जाँच-पड़ताल करता है, इसलिए विज्ञान है और अनुसंधान के परिणामों का उपयोग नागरिक जीवन की उन्नति के लिए करता है, इसलिए वह कला भी है ।

: २ :

नागरिक शिक्षा

नागरिक-शास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता

नागरिक-शास्त्र का उद्देश्य नागरिक-जीवन को पूर्ण और श्रेष्ठ बनाना है। राज्य के प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह अनिवार्य है कि वह नागरिक के कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों का यथावत् ज्ञान प्राप्त करके उनका पालन करे। यह ज्ञान तभी प्राप्त हो सकता है जब वह नागरिक-शास्त्र का भली भाँति अध्ययन करके उसके सिद्धान्तों, आदर्शों एवं नियमों के अनुसार अपने जीवन को बनाने का प्रयत्न करे। भारत में स्कूलों और कालेजों के छात्रों व छात्राओं को यह विषय पढ़ाया जाता है। परन्तु यह विषय वैज्ञानिक ही है। अभी तक नागरिक शास्त्र का अनिवार्य रूप से इन संस्थाओं में अध्ययन नहीं किया जाता। इस कारण अधिकांश छात्र नागरिक-शास्त्र के सिद्धान्तों व नियमों से अनभिज्ञ ही रहते हैं। इसका परिणाम प्रत्यक्षतः व्यावहारिक जीवन में देख पड़ता है। हममें नागरिक-भावना के अभाव का यह एक बड़ा कारण है।

प्रजातंत्र की सफलता के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि राज्य के नागरिकों को शासन-कार्यों के प्रति दिलचस्पी हो। जिस राज्य के नागरिक स्वदेश की राजनीति में अधिक दिलचस्पी लेते हैं, उसमें प्रजातंत्र की सफलता की अधिक संभावना होती है। जबसे भारत के ११ प्रान्तों में 'प्रान्तीय स्वशासन' की स्थापना हुई है, तबसे शासन-कार्य में जनता को दिलचस्पी पैदा होने लगी है। जनता अपने अधिकारों की रक्षा के लिए सतर्क होगयी है। यदि शासन नागरिकों के अधिकारों पर कुठाराघात करनेवाली किसी नीति या कार्य को करने का निश्चय करे, तो यदि नागरिक अपने अधिकारों के प्रति सतर्क हैं, वे उसका विरोध करके सरकार को उसे बदल देने के लिए बाध्य कर सकते हैं।

भारत में शिक्षा-शास्त्री और लोक-नेता यह अनुभव करने

लगे हैं कि भारत की शिक्षा-प्रणाली का पुनर्निर्माण इस ढंग से किया जाये कि उसमें भारतीय संस्कृति का पूरा विचार रखते हुए नागरिकता के श्रेष्ठ आदर्शों को स्थान मिले, जिससे शिक्षा जीवनोपयोगी बनने के साथ-साथ जीवन को ऊँचा उठानेवाली भी बन सके। वर्धा-शिक्षा-कमेटी की रिपोर्ट में इसी मत का प्रकाशन किया गया है। इस रिपोर्ट के योग्य लेखकों का यह मत विचारणीय है कि

"हमारी यह आकांक्षा है कि वे अध्यापक और शिक्षा-विशारद जो इस नवीन शिक्षा-सम्बन्धी प्रयोग को अपने हाथों में लें, इस योजना में निहित नागरिकता के आदर्शों को भलीभाँति समझ लें। आधुनिक भारत में नागरिकता देश के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन में अधिकाधिक प्रजातंत्रीय हो जायगी। कम-से-कम नये युग की सन्तति को अपनी समस्याओं, अपने कर्त्तव्यों और अधिकारों को जानने-समझने के लिए सुयोग मिलना चाहिए। नागरिक कर्त्तव्यों एवं अधिकारों के विवेकपूर्ण उपभोग के लिए कम-से-कम शिक्षा-प्राप्ति के निमित्त एक सर्वथा नयी प्रणाली की आवश्यकता है। दूसरे, आधुनिक समय में, विवेकशील नागरिक को समाज का सक्रिय सदस्य बनना चाहिए। उसमें इतनी क्षमता हो कि वह अपने समाज के सदस्य की हैसियत से किसी उपयोगी सेवा के रूप में समाज को प्रतिदान कर सके।"[1]

इतिहास का अध्ययन और नागरिकता

इतिहास, भूगोल, समाज-विज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीति-शास्त्र, नागरिक-शास्त्र आदि सब विज्ञान सामाजिक विज्ञान हैं। इन विज्ञानों का मानव-समाज से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अथवा यों कहना अधिक उपयुक्त होगा कि मानव-समाज के आधार पर ही इन विज्ञानों का विकास हुआ है। इन विज्ञानों का परस्पर इतना घनिष्ठ संबंध है कि हम उन्हें एक को दूसरे से अलग करके समझ नहीं सकते। वास्तव में वे मानव-समाज

---

१. वर्धा-शिक्षा समिति की रिपोर्ट (१९३७)

पर विचार करने के विभिन्न दृष्टिकोण हैं।

इतिहास मानव-समाज की अतीत काल की घटनाओं, कार्यों, ज्ञान और अनुभवों का वैज्ञानिक वर्णन है। प्राचीन युग के मानव-समाज के रीति-नियमादि के अध्ययन के आधार पर ही सामाजिक विज्ञानों का विकास हुआ है। नागरिक शास्त्र के उपादान तो स्पष्टतः इतिहास से प्राप्त किये गये हैं। समाज की अवस्था के विकास के साथ-साथ, उसके आदर्शों, नियमों एवं अवस्थाओं में भी परिवर्तन होते रहते हैं। इन परिवर्तनों और अनुभवों के प्रकाश में सामाजिक विज्ञानों में भी परिवर्तन होते रहते हैं। अतः इतिहास के साथ साथ नागरिक-शास्त्र का भी अध्ययन जरूरी है।

सामाजिक विज्ञानों का उद्देश्य

सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन का उद्देश्य यह है कि मानव-जाति के उत्कर्ष और कल्याण के लिए नागरिकों में मानव-हित का सम्यक् विकास हो। समाज में जो अभाव और जो आवश्यकताएँ हैं, उनकी पूर्ति के लिए नागरिकों को प्रेरणा व स्फूर्ति मिले। नागरिकों में मातृ-भूमि के लिए भक्ति-भावना तथा मानव के प्रति अनुराग पैदा हो और वे सत्य, न्याय, प्रेम के आधार पर समाज-रचना कर सकें। नागरिकों को अपने कर्त्तव्यों तथा उत्तरदायित्वों का ज्ञान पैदा हो और वे अपने अधिकारों की प्राप्ति, रक्षा एवं भोग कर सकें। सारांश यह है कि मानवता के चरम उत्कर्ष के लिए नागरिकों को सामाजिक विज्ञानों का अध्ययन करना अनिवार्य है। यदि मानव-हित की भावना से इनका अध्ययन करके, उनके द्वारा प्रतिष्ठित मानवीय आदर्शों के अनुसार अपने जीवन को सुसंस्कृत बनाया जाय तो विश्व में सहकारिता, न्याय, प्रेम और सत्य का राज्य स्थापित होना असंभव नहीं।

नागरिक-शास्त्र के अध्ययन की पद्धति

नागरिक-शास्त्र का अध्ययन केवल ज्ञान-वर्द्धक ही नहीं होना चाहिए

बल्कि उसे शिक्षाप्रद और प्रयोगात्मक भी होना चाहिए। नागरिक-शिक्षा ज्ञानवर्द्धक के साथ शिक्षाप्रद और प्रयोगात्मक होनी चाहिए। आज-कल स्कूलों व कालेजों में इस विषय की जो शिक्षा दी जाती है, वह केवल ज्ञानवर्द्धक ही है। व्यावहारिक न होने से वह जीवनोपयोगी नहीं है।

नागरिक-शिक्षा ज्ञान-वर्द्धक हो—इसका अभिप्राय यह है कि पाठक को नगर की, देश की और संसार की स्थिति और अवस्था का ज्ञान हो जाये। देश के राष्ट्रीय जीवन के विविध क्षेत्रों का ज्ञान ज़रूरी है। देश की नागरिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक अवस्था का ज्ञान प्रत्येक नागरिक को होना चाहिए। इस आवश्यक ज्ञान के अभाव में वह अपने कर्त्तव्य कार्यों का यथाविध पालन नहीं कर सकता।

नागरिक-शिक्षा शिक्षाप्रद भी हो—इसका मतलब यह है कि नागरिकों को शिक्षा ऐसे ढंग से दी जाये कि वे अपने परिवार, पाठशाला, कालेज, पड़ौस, वस्ती, ग्राम, नगर, समाज, राज्य और अन्त में विश्व के मानवों के प्रति सामाजिक व्यवहार के आधारभूत सिद्धान्तों को हृदयंगम कर सकें। उन्हें अपना नागरिक जीवन सुखी और श्रेष्ठ बनाने के लिए पथ-प्रदर्शन मिले तथा उनमें सामाजिक संस्थाओं के प्रति आदर और श्रद्धा पैदा हो तथा वे उनके संचालन एवं प्रबंध में सहयोगपूर्वक भाग ले सकें। नागरिकों को इस प्रकार से शिक्षा दी जाये कि वे लोक-संग्रह, सामाजिक न्याय, सहकारिता, राष्ट्रीय एकता और अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता के सिद्धान्तों को भली भाँति समझ लें।

नागरिक-शिक्षा सैद्धान्तिक होने के साथ-साथ प्रयोगात्मक एवं व्यावहारिक भी हो। नागरिक शिक्षा और नागरिक जीवन में स्पष्ट संबंध होना चाहिए। जिस प्रकार रसायन या भौतिक विज्ञान के विद्यार्थी अपनी प्रयोगशाला में परीक्षण करते हैं, उसी प्रकार नागरिक-शास्त्र के विद्यार्थियों को मानव-समाज की प्रयोग-शाला में प्रयोग करने का अवसर मिलना चाहिए। स्वदेश और संसार के मानव समाज के संस्कारों, रीति-रिवाजों, सामाजिक दशाओं और नागरिक दशाओं का अध्ययन

और अन्वेषण करके नागरिक जीवन के अनेक तथ्यों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है यही नागरिक शिक्षा की व्यावहारिकता है। अपने नगर या ग्राम के जन-समाज की सामाजिक स्थिति, जीवनचर्या, आर्थिक जीवन आदि की जाँच-पड़ताल द्वारा प्रयोग शुरू किया जा सकता है और समय और सुविधा के अनुसार यह प्रयोग एक बड़े पैमाने पर भी किया जा सकता है।

नागरिक-शिक्षा के लिए तीक्ष्ण बुद्धि, कल्पना-शक्ति, सहानुभूति और सेवाभाव की बहुत जरूरत है। नागरिक-शास्त्र के विद्यार्थी को विचार-शक्ति से अधिक काम लेना चाहिए। अपने से अधिक श्रेष्ठ विद्वानों के विचारों, सिद्धान्तों और सम्मतियों से प्रभावित होकर, तर्क की कसौटी पर उन्हें परखे बिना अपनाने से उसका प्रयोग निष्पक्षता से पूरा नहीं हो सकता। विद्यार्थी को चाहिए कि वह देश या संसार के मानव-समाज की स्थितियों और सामाजिक जीवन की जाँच-पड़ताल करते समय साम्प्रदायिक या संकीर्ण मनोवृत्ति से काम न ले। उसमें कल्पना-शक्ति की भी आवश्यकता है। कल्पना-शक्ति के अभाव में उसका प्रयोग सफल हो सकेगा, इसमें सन्देह है। जब हम समाज के विभिन्न व्यक्तियों, समुदायों और वर्गों की स्थितियों का निरीक्षण करते हैं, तो हम एक सीमा तक अपने को भी उन स्थितियों में अनुभव करके, उनकी दशा पर विचार करते हैं। उदाहरणार्थ, अगर प्रयाग-विश्वविद्यालय का राजनीति का एक छात्र संयुक्तप्रान्त के किसी पूर्वी जिले के ग्राम-जीवन का अध्ययन और निरीक्षण करना चाहे तो उसे अपने मानसिक दृष्टिकोण में बड़ा परिवर्तन करना पड़ेगा। जिस छात्र ने अपने जीवन का अधिक समय होस्टलों में सुख और आनन्द के साथ बिताया है, जिसने नागरिक जीवन के लिए विज्ञान और आधुनिक अन्वेषणों ने जो सुविधाएँ और साधन प्रदान किये हैं, उनका उपभोग किया है; जिसने सिनेमा, नाटक, थियेटर, संगीत तथा नृत्य का आनन्द उठाया है और जो हर समय 'शिक्षित वातावरण' में साँस लेता रहा है, ऐसा विद्यार्थी यदि सहसा ग्राम-जीवन के अध्ययन के लिए किसी गाँव को चल पड़े तो उसकी सारी दुनिया ही

बदल जायेगी। वह अपने को एक सर्वथा नये और अपरिचित वातावरण में पायेगा। इस ग्राम-जगत की झाँकी के लिए उसे एक ग्रामीण बनना होगा और ग्रामीण बनकर ही वह उनके मनोभावों, विचारों, अभावों और आवश्यकताओं को जान और समझ सकेगा, अन्यथा नहीं। इसके लिए उसे कल्पना-शक्ति की आवश्यकता पड़ेगी। उसमें सेवा-भाव का भी होना जरूरी है। इसके बिना वह जीवन का अध्ययन सफलतापूर्वक नहीं कर सकेगा। सेवा-भाव सहानुभूति से उत्पन्न होता है। सहानुभूति का अर्थ है दूसरों के दुख-सुख की अनुभूति। विद्यार्थियों में नागरिक-भावना का विकास करने के लिए यह आवश्यक है कि उनमें लोक-संग्रह की भावना जगायी जाये। समाज-सेवा के लिए विस्तृत क्षेत्र है। केवल जरूरत है विद्यार्थी-वर्ग में समाज-सेवा के लिए सच्ची लगन की, प्रदर्शन की नहीं।

अपने गाँव के किसानों, अपने नगर के मजदूरों तथा दूसरे शोषित वर्गों के सामाजिक और आर्थिक जीवन की जाँच-पड़ताल की जा सकती है। इस प्रकार वे उनके जीवन को सुधारने के लिए उपाय सोच सकते हैं। इस प्रकार के कार्यों से न केवल उनका ज्ञान ही बढ़ेगा बल्कि वे पीड़ित मानवता की सेवा भी कर सकेंगे।

विश्वविद्यालयों और कालेजों के छात्र एवं छात्राएँ 'सेवासंघ' बनाकर निकटवर्ती गाँवों के निवासियों के सम्पर्क में आकर उनकी सामाजिक दशा का निरीक्षण कर सकते हैं। इन सेवा-संघों द्वारा ग्रामवासियों को स्वास्थ्य, ज्ञान और शक्ति का सन्देश दिया जा सकता है। साक्षरता के प्रसार के लिए प्रौढ़-पाठशालाओं का संचालन, रोगियों की सेवा, जनता में स्वास्थ्य के सिद्धान्तों व सफ़ाई के नियमों का प्रचार, किसानों को अपनी कृषि तथा धन्धों में सुधार करने के उपाय बतलाना, नगरों में मजदूरों के स्वास्थ्य के सुधार के लिए प्रयत्न करना आदि आदि जन-सेवा के अनेक मार्ग हैं। इन साधनों द्वारा नागरिक शिक्षा का व्यावहारिक अध्ययन किया जा सकता है।

मैसूर विश्वविद्यालय के दीक्षान्त-उत्सव में ६ अक्तूबर १९३८ को स्वर्गीय दीनबन्धु सी० एफ० एण्ड्रूज ने अपने दीक्षान्त भाषण में इसी प्रकार

के विचार व्यक्त किये थे :

'मेरा ध्यान इस बात की ओर दिलाया गया है कि इस विश्वविद्यालय के विद्यार्थी गाँवों में जाते हैं, और अपनी कल्पना के अनुरूप कार्य का प्रतीक मैंने बंगलौर में शुरू कर दिये गये काम में पा लिया है। लेकिन मैं तो चाहता हूँ कि इस दिशा में इससे भी अधिक एकनिष्ठ प्रयत्न किया जाये। क्या कोई ऐसा आश्रम या बस्ती नहीं हो सकती, जिसका विश्वविद्यालय से सीधा सम्बन्ध हो, जिसकी अपनी इमारतें हों और जहां विश्वविद्यालय के वे स्नातक जा सकें जो दीन-दुखियों के दुःख में घुल-मिल जाने का संकल्प कर चुके हैं ?'

: ३ :

मानव-समाज

मानव-समाज का संगठन

मानव - समाज अर्थात् समस्त संसार के मनुष्य जाति, रंग, धर्म, संस्कृति, सभ्यता, राज्य-शासन-प्रणाली आदि कारणों से विविध समुदायों में बँटे हुए हैं। संसार की जन-संख्या १ अरब ९९ करोड़ २५ लाख है। परिवार या कुटुम्ब सबसे छोटा मानव-समुदाय है। यह समुदाय सृष्टि के आदि से आज तक विद्यमान है और अन्त तक कायम रहेगा। परिवार ही वास्तव में मानव-संगठन का मूल आधार है। उसका कार्य संतान का पालन-पोषण और सृष्टि-क्रम का संचालन है। यह कार्य मानव-जीवन में सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए मानव सदैव परिवार की रक्षा के लिए प्रयत्नशील और जागरूक रहा है। परिवार के विनाश से मानव-समाज की सभ्यता तथा संस्कृति पर कैसा आघात होगा, इसकी कल्पना भयंकर है।

जातियों के आधार पर मानव-समाज अनेक भागों में बँटा हुआ है। जैसे—आर्य्य, अनार्य्य, द्राविड़, अरब, पारसी, नीग्रो, हूण, नॉर्डिक, स्लेव, कैल्ट, नार्मन, सेक्सन आदि। धर्म के आधार पर भी अनेक विभाग हैं—हिंदू, ईसाई, मुसलमान, बौद्ध, कन्फूशियन, यहूदी आदि और इनके भी अनेक उप-विभाग हैं। ऐसे भी जन-समुदाय हैं, जो धर्म और ईश्वर में विश्वास नहीं करते। वे निरीश्वरवादी हैं। वर्त्तमान समय में सोवियट रूस ईश्वर-विरोधी है। वर्ग अर्थात् रंग की दृष्टि से भी मानव-समाज कई भागों में विभाजित है—गौरांग, पीतांग, कृष्णांग इत्यादि। शीतप्रधान देशों में गौरांग जन हैं। ये अपने को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। उष्ण देशों में कृष्णांग मिलते हैं। चीन-जापान में पीतांग जन हैं। व्यावसायिक आधार पर भी मानव कई भागों में विभाजित हैं—किसान, मजदूर, व्यापारी, पूँजीपति आदि। इनके अतिरिक्त प्रत्येक देश में सांस्कृतिक समुदाय भी हैं—विश्व-

विद्यालय, विद्वन्मण्डल, संगीत-परिषद्, नाट्य-परिषद्, साहित्य-परिषद् आदि। कुछ मानव-समुदाय स्वतंत्र हैं, दूसरे परतंत्र हैं और कुछ ऐसे भी हैं जो स्वतंत्र देशों के प्रभाव में हैं अथवा अर्द्ध-स्वतंत्र हैं।

इन समस्त समुदायों में राज्य, धर्म और जाति-सम्बन्धी समुदाय ही प्रमुख हैं। आज के मानव-समाज में ये तीन तत्त्व मानव-एकता, मानव-संगठन और विश्व-शान्ति के लिए महान् संकट सिद्ध हो रहे हैं।

संसार में प्रत्येक स्वतन्त्र राज्य उग्र राष्ट्रवादी है। वह संसार के दूसरे राष्ट्रों को अपने आधिपत्य, प्रभाव या अधिकार में लाना चाहता है। आज यूरोप, अमरीका, एशिया और अफ्रीका में इसका प्रत्यक्षीकरण किया जा सकता है। जर्मनी समस्त संसार में चक्रवर्ती राज्य की कामना करता है। इसी उद्देश्य से वह यूरोप में युद्ध में तल्लीन है। जापान एशिया का शिरोमणि होना चाहता है और इसलिए वह चीन और हिन्द-चीन को दबाता हुआ ब्रह्मा की ओर पैर बढ़ा रहा है। इटली रोमराज्य का मधुर स्वप्न देख रहा है, इसलिए अफ्रीका में वह बमवर्षा कर रहा है। इस प्रकार ये स्वाधीन राष्ट्र-राज्य संसार की स्वाधीनता को कुचल रहे हैं।

धर्म, जो वास्तव में मानव-समाज में एकता और आध्यात्मिक प्रेम तथा सहकारिता पैदा करने के लिए है, आज उग्र राष्ट्रवादी देशों की साम्राज्य-विस्तार की कामना की पूर्ति का साधन बन गया है। धर्म के नाम पर बड़े-से-बड़ा पाप किया जा रहा है और उसे पवित्र कृत्य सिद्ध कराने के लिए धर्माचार्यों तथा पोप-पादरियों को खरीदा जा रहा है।

इसी प्रकार जाति (Race) की उग्र आत्म-चेतना आज संसार-संकट का कारण बन रही है। अबतक गोरी जातियाँ यह दावा करती रहीं कि हमें ईश्वर ने संसार की अन्य (काली, पीली, भूरी) जातियों को सभ्यता का सन्देश देने के लिए पैदा किया है, हमीं संसार पर आधिपत्य करने के योग्य हैं; परन्तु अब इस युग में जर्मनी में हेर हिटलर का यह दावा हो रहा है कि केवल जर्मन ही पवित्र आर्य्य जाति के हैं, शेष यूरोप की जातियाँ वर्ण-संकर हैं। इसी कारण जर्मन रक्त की पवित्रता की रक्षा करने

के लिए हिटलर ने अपने राज्य से यहूदियों को देश-निकाला दे दिया।

पिछले महायुद्ध (१९१४-१८) के वाद यूरोप के राष्ट्रों ने धर्म राज्य तथा जाति के वन्धनों से ऊपर अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के विकास के लिए राष्ट्रसंघ की स्थापना करने का प्रयत्न किया। परन्तु उसमें उन्हें सफलता नहीं मिली।

संसार के महान् राज्य

आधुनिक काल में ग्रेट-ब्रिटेन, संयुक्त-राज्य अमरीका, सोवियट रूस, जर्मनी, फ्रांस, जापान, इटली, चीन विश्व के महान् राज्य हैं। पृथ्वी पर चार वड़े-वड़े महाद्वीप हैं—एशिया, यूरोप, अफ्रीका और अमरीका (उत्तरी व दक्षिणी)। इनमें अमरीका की राजनीति की कुंजी संयुक्त-राज्य अमरीका के हाथ में है। दक्षिणी अमरीका के राज्यों पर उसका प्रभाव और अधिकार है। प्रायः १०० वर्षों से संयुक्त-राज्य मुनरो-सिद्धान्त के अनुसार यूरोपीय राष्ट्रों के हस्तक्षेप से दक्षिणी अमरीका को मुक्त रखे हुए है। इसके वाद ग्रेट-ब्रिटेन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह ब्रिटिश राष्ट्र-समूह की धुरी है और उसके चारों ओर उपनिवेश तथा पराधीन देश हैं। दक्षिणी अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड, कनाडा और आयरलैण्ड में ब्रिटेन का साम्राज्य है। भारतवर्ष भी १५० वर्षों से ब्रिटेन के आधिपत्य में है। इस प्रकार ब्रिटिश साम्राज्य आज संसार में सबसे वड़ा राज्य है।

विश्व-राजनीति में यूरोप का स्थान अन्यतम है। यूरोप में ब्रिटेन फ्रांस, इटली, जर्मनी और रूस ये पाँच वड़े राज्य हैं। आजतक यूरोप के इन देशों में शक्ति-साम्य के लिए वरावर संघर्ष और विग्रह होते रहे हैं। कभी किसी देश का प्रभाव अधिक वढ़ गया, तो दूसरे देश को उसका प्रभाव घटाने की चिन्ता हो गयी। इस प्रकार यूरोप सदैव युद्ध-भूमि रहा है।

पिछले महायुद्ध के वाद यूरोप में कई नये देश वनाये गये। इसके फल-स्वरूप यूरोप में इस समय ३४ राज्य हैं। इनमें केवल अभी कहे गये

पाँच राज्य बड़े हैं और वे शेष २९ राज्यों पर अपना प्रभाव बनाये हुए हैं। जब उनको अपने किसी हित में बाधा जान पड़ती है तो वे दूसरे राष्ट्र में अपने अल्पमत की रक्षा के नाम पर युद्ध में प्रवृत्त हो जाते हैं। वर्त्तमान् यूरोपीय युद्ध का आरम्भ भी इसी बहाने हुआ है। जर्मनी का यह अभियोग था कि पोलैण्ड में बसनेवाले जर्मनों के साथ पोल (पोलैंडवासी) बड़े नृशंस और भीषण अत्याचार करते हैं। उनकी रक्षा के लिए ही जर्मनी ने पोलैण्ड पर आक्रमण किया, ऐसा हेर हिटलर का दावा है। यूरोप के इन बड़े राष्ट्रों के अफ्रीका और एशिया में साम्राज्य हैं—उपनिवेश हैं, प्रभाव-क्षेत्र हैं। प्रत्येक महान् राष्ट्र का सदैव यही प्रयत्न रहा है कि वह अपने साम्राज्य, उपनिवेशों तथा प्रभाव-क्षेत्रों को सुरक्षित रखे तथा उनमें वृद्धि करे।

संसार की पराधीन जातियाँ

एशिया, अफ्रीका और दक्षिणी अमरीका में पराधीन और अर्द्ध-परतंत्र जातियों की प्रधानता है। सन् १९२९ की जन-संख्या के अनुसार संसार के समस्त देशों की कुल जन-संख्या १,९९,२५,२९,००० है।[1] एशिया, अफ्रीका और अमरीका में ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, जापान, संयुक्त-राष्ट्र, नैदरलैण्ड, पुर्तगाल आदि देशों के साम्राज्य और उपनिवेश हैं। सन् १९१४-१८ के यूरोपीय महायुद्ध के पहले अफ्रीका में जर्मनी के भी उपनिवेश थे; परन्तु वार्साई की सन्धि के अनुसार उनका अधिकार जर्मनी से ले लिया गया और वे मित्र-राष्ट्रों के नियंत्रण में आ गये। ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत पराधीन जातियों की जन-संख्या ४० करोड़ ५८ लाख २४ हजार है। यह संसार में सबसे बड़ा साम्राज्य है। इसके बाद नैदरलैण्ड का स्थान है। इस देश के साम्राज्य के अन्तर्गत पराधीन जातियों की जनसंख्या ६ करोड़ २ लाख १९ हजार है। फ्रांस तीसरा साम्राज्यवादी राष्ट्र है। उसके साम्राज्य के अन्तर्गत पराधीन जातियों की आबादी

---

१. लीग ऑफ नेशन्स की 'स्टेटिस्टिकल ईअरबुक': १९३०-३१

५ करोड़ ७३ लाख २० हजार है। जापान का चौथा स्थान है। उसके साम्राज्य की जनसंख्या २ करोड़ ६९ लाख २० हजार है।[१] संयुक्तराज्य अमरीका का पाँचवा स्थान है। इसके साम्राज्य की आवादी १ करोड़ ४२ लाख २८ हजार है। इटली का छठा स्थान है। अफ्रीका में अबीसीनिया उसका साम्राज्य है जिसकी जनसंख्या १ करोड़ ३० लाख १० हजार है। सातवाँ स्थान पुर्तगाल का है जिसके साम्राज्य की जनसंख्या ८० लाख ४ हजार है। वर्तमान यूरोपीय महायुद्ध से पूर्व जर्मनी ने आस्ट्रिया व चेकोस्लोवाकिया को अपने राज्य में मिला लिया था।[२] इन पराधीन देशों के अतिरिक्त इंग्लैण्ड, फ्रांस, वेलजियम, दक्षिणी अफ्रीका यूनियन, न्यूजीलैण्ड, आस्ट्रेलिया और जापान के अधिकार में राष्ट्रसंघ द्वारा सौंपे हुए वे देश भी हैं जिनका शासन-प्रवन्ध शासनादेश-प्रणाली से होता है। ऐसे प्रदेशों की कुल जनसंख्या २ करोड़ २८ हजार है। इस प्रकार संसार में प्रायः ६०½ करोड़ की विशाल जनसंख्या पराधीन है। इसमें ३५ करोड़ भारतीय भी शामिल हैं। इस प्रकार भारत की पराधीन जनसंख्या संसार की पराधीन जनसंख्या के आधे भाग से भी अधिक है।

---

१. जापान ने सन् १९३२ के बाद चीन पर आक्रमण करके जो उसके प्रदेश अपने अधिकार में ले लिये उनकी जनसंख्या इसमें शामिल नहीं है।

२. जर्मनी ने अप्रैल सन् १९३८ में आस्ट्रिया और सितम्बर १९३८ में चेकोस्लावाकिया को अपने राज्य में मिला लिया। इसी प्रकार इटली ने अलबानिया को अपने अधीन कर लिया। इन प्रदेशों की संख्या निम्न प्रकार है :

आस्ट्रिया	—	६८ लाख
चेकोस्लोवाकिया	—	५० लाख
अलबानिया	—	११ लाख

एशिया के पराधीन राष्ट्र

एशिया में केवल दो राष्ट्र ऐसे हैं जो पाश्चात्य देशों के साथ प्रतियोगिता में ठहर सकते हैं। वे हैं जापान और तुर्किस्तान। इन दोनों राष्ट्रों ने आधी सदी में ही अपने देशों में कायापलट करदी। एशिया में जापान, चीन, ब्रह्मा, तुर्किस्तान, तिब्बत, नेपाल, भारत, लंका, हिन्दचीन, स्याम, इन्डोनेशिया, फारस, सीरिया, इराक, फिलस्तीन, कोरिया और फिलिपाइन द्वीप आदि राष्ट्र हैं। इनमें भारतवर्ष, ब्रह्मा, तथा लंका ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत हैं। फिलस्तीन राष्ट्रसंघ के शासनादेश के अनुसार ब्रिटेन के नियन्त्रण में है। सीरिया पर फ्रांस का नियंत्रण है। नेपाल स्वतंत्र राज्य है, तो भी वह ब्रिटेन के प्रभाव में है। हिन्दचीन में फ्रांस का साम्राज्य है। इराक और सीरिया भी ब्रिटेन के कब्जे में हैं।

चीन यद्यपि स्वाधीन राष्ट्र है, तो भी उसकी दशा पराधीन राष्ट्र तक से गयी-बीती है। उसपर दस वर्षों से साम्राज्यवादी जापान की कोपदृष्टि है। उसने चीन के कई प्रान्तों का अपहरण कर लिया है और अब भी उसकी साम्राज्य-पिपासा शान्त नहीं हुई है। जापान का सिद्धान्त है कि एशिया एशियायी लोगों के लिए है। उसपर गैर-एशियायी राष्ट्रों को आधिपत्य जमाने का कोई अधिकार नहीं है। जापान जो आज से ५० वर्ष पहले औद्योगिक दृष्टि से बहुत पिछड़ा देश था, आज यूरोप से कला-कौशल सीखकर न केवल विज्ञान और कला की नक़ल अपने देश में कर रहा है बल्कि वह यूरोप की जैसी भयंकर स्थिति एशिया में भी पैदा कर रहा है। उसने यूरोप के सैनिकवाद और साम्राज्यवाद की नक़ल करने में सफलता प्राप्त की है और आज एशिया जापान के साम्राज्यवाद से सहम रहा है।

चीन में आन्तरिक कलह वर्षों से है। राष्ट्रीय एकता के अभाव से जापान ने सन् १९३१ में चीन पर आक्रमण कर दिया और उसके कई प्रदेशों को हड़प लिया। उस समय जापान राष्ट्रसंघ का सदस्य था। चीन भी राष्ट्रसंघ का सदस्य था। जब चीन पर जापान का आक्रमण

965

हुआ तो उसने राष्ट्रसंघ से यह अनुरोध किया कि वह अपने विधान की १०वीं और १५वीं धारा के अनुसार जापान के विरुद्ध कार्रवाई करे। परन्तु राष्ट्रसंघ ने चीन की सहायता के लिए कुछ भी नहीं किया। इससे जापान का उत्साह बढ़ गया और उसने संघ के विधान को ठुकरा दिया। उसने मंचूरिया तथा मंगोलिया के प्रदेश हड़प लिये तथा मञ्चूको नामक एक नाममात्र का स्वतंत्र राज्य क़ायम कर दिया।

चीन में न केवल जापान का हित है, बल्कि ब्रिटेन और संयुक्त-राज्य अमरीका के भी हित हैं। चीन के आर्थिक जीवन पर इन साम्राज्य-वादी राष्ट्रों का नियंत्रण है। यहाँ तक कि विदेशी राष्ट्रों की सेनाएँ भी चीन में हैं। चीन में विदेशी राष्ट्रों की जनता चीन के न्यायालय तथा पुलिस के नियंत्रण से भी मुक्त हैं! विदेशियों ने चीन में अपने उपनिवेश स्थापित कर रखे हैं। उनकी चीन में स्थानीय सरकारें भी हैं और चीन के समुद्रतट पर उनके बन्दरगाह भी हैं। ऐसा है स्वाधीन चीन जो परा-धीनता का बुरी तरह शिकार बना हुआ है।[1]

चीन के बाद दूसरा प्रमुख देश भारत है। भारत प्राय: १५० वर्षों से ब्रिटेन के आधिपत्य में है। इतने वर्षों तक पराधीनता की स्थिति में रहने से भारतीयों का न केवल राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक पतन ही हुआ है बल्कि उनका नैतिक पतन भी होगया है। पराधीनता शारीरिक बंधन ही नहीं है; वह तो आत्मा को भी गिरा देती है। परन्तु अब अर्द्ध-शताब्दी से भारत में राष्ट्रीय नवचेतन और राजनीतिक जागरण हो रहा है और सन् १९१४–१८ के यूरोपीय महायुद्ध के बाद तो भारतीय राष्ट्र में नवचेतना इतनी अधिकता से आ गयी है कि उसके जीवन का कोई भी विभाग उसके आश्चर्यकारी प्रभाव से अछूता नहीं रहा है। महात्मा गांधी के नेतृत्व में समस्त राष्ट्र की जनता में एक अभूतपूर्व जागरण के लक्षण दिखायी देने लगे हैं।

---

१ लियोनार्ड वुल्फ़ : 'इंटेलिजैण्ट मैंस वे टु प्रीवेंट वार' (१९३३) पृ० २०६

भारत में विदेशी राज्य ने भारत को राष्ट्रीयता की चेतना प्रदान की है। आज भारत में राष्ट्रीयता का अधिक प्रभाव है और इसने राष्ट्र के सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक जीवन पर अपनी गहरी छाप लगा दी है। भारत के प्रान्तों में ही नहीं बल्कि देशी राजाओं के राज्यों की जनता में भी स्वाधीनता पानें की आकांक्षा उत्पन्न होगयी है। राष्ट्रीय-महासभा—कांग्रेस—का भारत के राष्ट्रीय जीवन में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह भारत की सबसे अधिक शक्तिशाली संस्था ही नहीं है वरन् एक अपूर्व राष्ट्रीय शक्ति है। उसका लक्ष्य है भारत की जनता के लिए स्वाधीनता प्राप्त करना। आज भारतीय जनता स्वाधीनता के पथ पर अग्रसर है। सन् १९३५ के भारतीय शासन-विधान के अनुसार भारत के ११ प्रान्तों में प्रान्तीय स्वशासन (उत्तरदायी शासन) की स्थापना १ अप्रैल सन् १९३७ से हो चुकी है। सात प्रान्तों में कांग्रेस-पार्टी के मंत्रि-मण्डलों ने शासन चलाया है। कांग्रेस उपर्युक्त शासन-विधान को राष्ट्र के लिए अपर्याप्त और असन्तोषजनक मानती है और उसे अस्वीकार्य घोषित करती है। भारत के दूसरे राजनीतिक एवं साम्प्रदायिक वर्गों ने भी इस विधान को असन्तोषप्रद घोषित किया और विशेष रूप से विधान की संघ-योजना का कांग्रेस और मुसलिम-लीग नें घोर विरोध किया यद्यपि विरोध करने में दोनों के उद्देश्य भिन्न-भिन्न रहे हैं।

भारत की स्वाधीनता की समस्या आज बड़ी जटिल बन गयी है। भारत में साम्प्रदायिक कलह के कारण राष्ट्रीय एकता का अभाव है। इसके अतिरिक्त देशी राज्यों के नरेश भी स्वाधीनता-प्राप्ति में रोड़े अटकाते हैं। १ सितम्बर १९३९ को यूरोप में महायुद्ध छिड़ जानें से ब्रिटेन पोलैण्ड की रक्षा के लिए युद्ध में उतर पड़ा और भारत को भी युद्धरत राष्ट्र घोषित कर दिया। राष्ट्रीय महासभा ने ब्रिटिश सरकार की इस नीति पर असन्तोष प्रकट किया। उसका कहना है कि भारतीय जनता की सम्मति लिए बिना उसे युद्ध में शामिल करना उचित नहीं इस प्रकार युद्ध नें भारत में एक बड़ा वैधानिक संकट पैदा कर दिया है।

इराक, फिलस्तीन और सीरिया राष्ट्रसंघ के शासनादेश के अनुसार

ब्रिटेन और फ्रांस के नियन्त्रण में हैं। सीरिया पर फ्रांस का नियन्त्रण है।

फिलस्तीन अंग्रेजों के संरक्षण में है। वास्तव में यह अरबों का देश है। एक अंग्रेज हाई कमिश्नर उसका शासन-प्रबन्ध एक कमिटी की सलाह से करता है। अरब इस प्रकार के संरक्षण के सदा से विरोधी रहे हैं। जबसे जर्मनी ने यहूदियों को निकाल दिया है तबसे उनके उपनिवेश के लिए तरह-तरह की योजनाएँ सोची जा रही हैं। यहूदी और अरब ये दो विभिन्न जातियाँ हैं। यहूदियों में बड़े-बड़े पूँजीपति हैं। उन्होंने फिलस्तीन में बसकर उसे चमन बना दिया है। उनकी आर्थिक दशा में बड़ा सुधार हो गया है। परन्तु इन दोनों में संघर्ष जारी है। अरब यह नहीं चाहते कि उनके देश का बँटवारा हो। दूसरी ओर यहूदियों की बढ़ती हुई संख्या के लिए प्रदेश की आवश्यकता है। यहूदी-अरब संघर्ष का अन्त करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने एक शाही कमीशन नियुक्त किया। इस कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में यह सिफ़ारिश की कि फिलस्तीन को अरब और यहूदियों में बाँट दिया जाय। इस प्रकार अरबों में और भी असन्तोष पैदा हो गया है।

सीरिया फ्रांस के आधिपत्य में है। परन्तु सन् १९२८ में वहाँ उत्तरदायी शासन की स्थापना कर दी गयी।

भारत के उत्तर में स्थित तिब्बत देश पर भी ब्रिटेन का प्रभुत्व है। इन्डोनेशिया डच (हालैण्ड के) साम्राज्यवाद का शिकार है। इस देश में सन् १९२७ से स्वाधीनता-प्राप्ति का आन्दोलन हो रहा है। परन्तु अभीतक उसे स्वतन्त्रता नहीं मिल पायी है।

हिन्द-चीन फ्रांस का उपनिवेश है। उसकी प्रजा विदेशी शासन के विरुद्ध है। वह भी विदेशी बन्धन से मुक्त होने के लिए प्रयत्नशील है। इस समय जापान इस देश पर आक्रमण कर रहा है।

फिलिपाइन द्वीप पर संयुक्तराज्य अमरीका का आधिपत्य है। इस देश के निवासी वर्षों से स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए आन्दोलन कर रहे हैं। परन्तु उन्हें आजतक स्वतन्त्रता नहीं मिली है।

अफ्रीका के उपनिवेश

अफ्रीका सबसे पिछड़ा हुआ देश है। सोलहवीं सदी में जब दास-व्यापार बड़े वेग के साथ चल रहा था, तब यूरोप की जातियों ने इस स्वर्ण-भूमि पर पदार्पण किया था! कई शताब्दियों तक सभ्यता का पाठ सिखानेवाले गोरों के सम्पर्क में रहते हुए भी आज अफ्रीका के असली निवासी सभ्यता और संस्कृति में बहुत पिछड़े हैं। यूरोपीय जातियों को अफ्रीका में अपना आधिपत्य जमाने के लिए अधिक संघर्ष या युद्ध नहीं करना पड़ा, क्योंकि वहाँ की अधिकांश जातियाँ वन्य और असभ्य थीं। उन्होंने विदेशियों के चरणों में आत्म-समर्पण कर दिया। पिछले महायुद्ध (१९४१-१८) से पहले अफ्रीका में जर्मनी के कई उपनिवेश थे। परन्तु शान्ति-सन्धि के अनुसार ये उपनिवेश ब्रिटेन, फ्रांस और बेलजियम के अधिकार में आगये।

टेंगानिका ब्रिटेन के आधिपत्य में चला गया। इसका कुछ उत्तरी-पश्चिमी भाग बेलजियम को मिला। जर्मन केमरूंस का अधिकांश भाग फ्रांस के हिस्से में आया। टोगालैण्ड फ्रांस और ब्रिटेन के बीच में बाँटा गया। 'दक्षिणी अफ्रीका यूनियन' ब्रिटिश साम्राज्य का उपनिवेश है। मिस्र पहले ब्रिटेन के अधीन था। परन्तु अब वह स्वतन्त्र राष्ट्र है। फिर भी ब्रिटेन का उसपर प्रभाव है। सन् १९३४ में इटली ने स्वतन्त्र राज्य अबीसीनिया को युद्ध में हराकर उसे अपने अधीन कर लिया। अब केवल लिबेरिया ही एकमात्र स्वतन्त्र राज्य है।

अमरीका में मुनरो-सिद्धान्त

संयुक्तराज्य अमरीका कई सदियों से यूरोप की राजनीति से अलग रहा है। वह यूरोप की संकटपूर्ण राजनीति की उलझन से अपने आपको सदैव बचाता रहा है। अमरीका के राष्ट्रपति वाशिङ्गटन ने पहले-पहल १७ सितम्बर १७९६ को अपने भाषण में यह भावना व्यक्त की कि अमरीका को यूरोपीय झगड़ों से अलग रहना चाहिए। इसके बाद सन् १८२३ में राष्ट्रपति मुनरो ने अपने संदेश में अमरीका की नीति का

स्पष्टीकरण किया। इस सन्देश में मुनरो ने यह घोषणा की कि यूरोप के राष्ट्रों को अब अमरीका (उत्तरी व दक्षिणी) में अपने उपनिवेश स्थापित करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। यूरोपीय देशों के ऐसे युद्धों में, जिनसे अमरीका का कोई संबंध नहीं, वह भाग नहीं लेगा और न ऐसा करना उसकी नीति के अनुकूल ही है। यूरोपीय देशों ने साम्राज्य-स्थापना की भावना से अमरीका महाद्वीप में प्रवेश किया तो उनका यह प्रयत्न अमरीका की शान्ति के लिए खतरा होगा। इस समय अमरीका में जो यूरोपीय उपनिवेश या पराधीन राज्य हैं, उनके साथ अमरीका का संबंध वैसा ही बना रहेगा और संयुक्तराज्य अमरीका उसमें हस्तक्षेप नहीं करेगा। यह सिद्धान्त 'मुनरो सिद्धान्त' के नाम से विख्यात है। इस सिद्धान्त का भविष्य में जो विकास हुआ उसके कारण संयुक्तराज्य समूचे अमरीका महाद्वीप का संरक्षक बन गया। इस समय समस्त अमरीका संयुक्तराज्य के आर्थिक साम्राज्यवाद का शिकार है। उसका अमरीका तट के निकटवर्ती द्वीपों पर अधिकार है। यही नहीं, सुदूर द्वीपों पर भी उसने अपना अधिकार जमा लिया है। हवाई और फिलिपाइन द्वीप संयुक्त-राज्य अमरीका के आधिपत्य में हैं। इसके अतिरिक्त उसने क्यूबा, हेटी, साण्टो डोमीनगो के साथ सन्धि करके उनकी भी स्वाधीनता पर अनेक प्रतिबन्ध लगा दिये हैं। पनामा और निकारागुआ राज्यों के चुनावों के समय संयुक्तराज्य की सेनाओं का प्रबन्ध रहता है। इन सब राज्यों की वैदेशिक नीति पर भी उसका प्रभाव है।

: ४ :

साम्राज्यवादी प्रवृत्तियाँ

साम्राज्यवाद क्या है—इसका मर्मस्पर्शी और वास्तविक विवरण एक भारतीय विद्वान के शब्दों में इस प्रकार है : "स्वाधीनता और मानवता की राख से साम्राज्यवाद का जन्म हुआ है। बरसों नर-नारियों की आहों और अभिशापों से बना मुकुट साम्राज्य के सिर पर है। इसके कपडे लाल रंग के हैं, इसके साथी अकाल, महामारी और भीषण रोग हैं। इसके आने के साथ भीषण आतंक छा जाता है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है। दूसरी भाषा, दूसरी सभ्यता और संस्कृति जबर्दस्ती से लाद दी जाती है। अपनी इच्छा को दूसरे की इच्छा का अनुगामी बनना पड़ता है। क्या यह साम्राज्यवाद दुनिया के लिए मंगलमय, सुखप्रद, और जीवनदाता हो सकता है ?"

यह है साम्राज्यवाद का सजीव स्वरूप। इससे अच्छी उसकी व्याख्या और क्या हो सकती है ! साम्राज्यवाद पूंजीवाद का अन्तिम और निखरा रूप है। पूंजीवाद एक आर्थिक प्रणाली है। इसलिए साम्राज्यवाद भी आर्थिक है। आज का युग ही अर्थ-प्रधान है। राजनीति भी अर्थ-नीति की अनुचरी है। इसलिए आज के साम्राज्यवाद को आर्थिक साम्राज्यवाद कहा जाता है।

आर्थिक साम्राज्यवाद

आर्थिक साम्राज्यवाद का प्रादुर्भाव फ्रांस की राज्य-क्रान्ति और औद्योगिक क्रान्ति के बाद हुआ। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति का प्रभाव समस्त यूरोप पर पड़ा। फलस्वरूप यूरोप के अधिकांश देशों में प्रजातन्त्र का बोलबाला रहा। जनता ने स्वेच्छाचारी एकतन्त्र शासन का अन्त कर के शासन की बागडोर अपने हाथ में ली। इससे सारे यूरोप में समता, स्वतन्त्रता और बन्धुत्व के आदर्श की धूम मच गयी। प्रजातन्त्र के

प्रताप से राजसत्ता स्वेच्छाचारी राजाओं के हाथ से निकलकर उच्च मध्यमवर्ग के लोगों के हाथ में आ गयी। इससे मध्यमवर्ग नें लाभ उठाया। उद्योग-धंधों में आश्चर्यजनक उन्नति हुई। अब पूंजीपति वर्ग के सामने अपना तैयार माल बाहर के देशों में भेजने की समस्या उपस्थित हुई।

अब ऐसे देशों की खोज होने लगी जिनमें तैयार माल बेचा और उनसे कच्चा माल सस्ते भाव में खरीदा जा सके। इसलिए उपनिवेशों की खोज के लिए साहसी नाविक निकल पड़े। रेल, तार, जहाज तथा मशीनों के आविष्कार नें उद्योग-धंधों में आश्चर्यजनक उन्नति करदी। सबसे पहले एशिया, अफ्रीका आदि के देशों में यूरोपियन जातियों ने प्रवेश किया। इनमें उद्योग-धंधे बड़ी पिछड़ी दशा में थे। इसलिए उन्हें इन देशों में अपना माल खपाने और कच्चा माल खरीदनें को एक बड़ा क्षेत्र और सुयोग हाथ लगा। इस उपनिवेश-विजय में प्रतियोगिता भी बीज-रूप में विद्यमान थी। जब सबसे पहले यूरोप की विविध जातियाँ या देशवासी अफ्रीका और एशिया में आये तब उनका एकमात्र ध्येय व्यावसायिक ही था। वे इन महाद्वीपों के देशों में अपना व्यवसाय चाहते थे। परन्तु दूसरे देशवालों की प्रतिस्पर्द्धा से अपनी रक्षा करनें के लिए हरएक की चेष्टा यह रही कि मेरा ही एकाधिकार क़ायम होजाये। इसके लिए प्रतियोगियों में संघर्ष चला। युद्ध लड़े गये। जब एक जाति का एकाधिकार इन महाद्वीपों में जम गया, तब इस बात की चेष्टा होनें लगी कि इनके देशों पर राजनीतिक प्रभुत्व भी क़ायम किया जाये। विदेशियों की प्रतिस्पर्द्धा से अपने आपको सुरक्षित करनें के लिए राजनीतिक आधिपत्य क़ायम किया गया। इस प्रकार यूरोप के साम्राज्य-वादी राष्ट्रों ने एशिया और अफ्रीका में उद्योग-धन्धों में अपनी पूंजी लगाने के साथ-साथ उसकी रक्षा के लिए राज-सत्ता भी स्थापित की।

सुप्रसिद्ध लेखक श्री ड्राउल्ट नें यूरोप और अफ्रीका की औपनिवेशिक प्रतिस्पर्द्धा के सम्बन्ध में लिखा है—

"यूरोप और अमरीका ने हाल ही के कुछ वर्षों में चीन के सिवा संसार के सभी स्वतन्त्र देशों पर आधिपत्य जमा लिया है। इस समय

में सब प्रकार के देशों पर आधिपत्य जमाने के लिए हुए। सभी देश जल्दी करना चाहते थे। जिन राष्ट्रों के पास उपनिवेश नहीं हैं उन्हें भविष्य में मिलने की आशा नहीं थी। यदि उन्हें उपनिवेश नहीं मिलेंगे, तो बीसवीं शताब्दी के होनेवाले आर्थिक शोषण में उनको सुयोग नहीं मिलेगा। यही कारण है जिससे यूरोपीय राष्ट्र साम्राज्यवादी नीति के कारण उन्मत्त होगये हैं।'[1]

राष्ट्रीय स्वाधीनता का शत्रु—साम्राज्यवाद

यद्यपि साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति मूलतः आर्थिक ही है, तो भी पूंजीपतियों का शासन पर प्रभुत्व होने के कारण साम्राज्यवाद अधिकृत देशों व उपनिवेशों में केवल जनता का आर्थिक शोषण ही नहीं करता वरन् उनके शासन-यंत्र का भी संचालन करता है। इसलिए साम्राज्य-वाद की प्रवृत्ति राजनीतिक भी रही है। प्राचीन भारत और यूरोप में जो विशाल साम्राज्य स्थापित किये गये, उनका उद्देश्य राजनीतिक प्रभुता ही थी। आज भी इसी प्रभुता के लिए दूसरे देशों की स्वाधीनता का अपहरण किया जा रहा है।

यूरोपीय तथा अमरीकन राष्ट्र जहाँ-जहाँ अपने देशों की पताका लेकर गये वहाँ-वहाँ की राष्ट्रीय स्वाधीनता का दमन करके उनकी जनता को उन्होंने पराधीन बनाया। उन्होंने वर्षों तक युद्ध जारी रखे, लाखों सैनिकों ने अपने जीवन की आहुतियाँ दीं और अपार धन-सम्पत्ति युद्ध-देवता के चरणों पर चढ़ायी। इस बलिदान के प्रसाद में उन्हें एशिया और अफ्रीका के देशों में 'राजनीतिक प्रभुता' प्राप्त हुई। यह उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं कि यह 'राजनीतिक प्रभुता' विजित देशों की स्वाधीनता के लिए घातक सिद्ध हुई। इस तरह साम्राज्यवाद ने अधिकृत देशों की जनता का आर्थिक शोषण करके ही विश्राम नहीं लिया, बल्कि उसके आध्यात्मिक, नैतिक, सामाजिक पतन के लिए भी अविराम प्रयत्न किया है।

---

१. एड ड्राउल्ट : 'सोशल एण्ड पोलिटिकल प्रॉब्लेम्स एट द एण्ड ऑफ द नाइन्टीअथ सेञ्चुरी'।

जनता का आर्थिक शोषण

यह तो ऊपर कहा जा चुका है कि साम्राज्यवाद पूंजीवाद का अन्तिम सोपान है। पूंजीवाद जब उस स्थिति में पहुँच जाता है जबकि किसी देश के पास अपार धन-राशि और तैयार माल जमा हो जाता है, जो स्वदेश की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के बाद भी बच रहता है, तब तैयार अधिक माल को बेचने के लिए दूसरे देशों की खोज की जाती है। बस यही साम्राज्यवाद के उदय का कारण है। एक पूंजीवादी देश दूसरे पूंजीवादी देश में अपना तैयार माल मुनाफे के साथ नहीं बेच सकता। इसीलिए वे ऐसे देशों की खोज करते हैं जो औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए हों। ऐसे ही देशों में वे अपना तैयार माल अधिक मुनाफे के साथ बेच सकते हैं और कच्चा माल सस्ते दामों में खरीद सकते हैं।

साम्राज्यवादी राष्ट्र अधीनस्थ देश के उद्योग-धन्धों का नाश करके जनता को स्वदेशी धनोपार्जन के साधनों से वंचित करता है तथा अपनी पूंजी से उस देश में उद्योग-धन्धे खड़े करता है। इस प्रकार पिछड़े हुए देश में बड़े-बड़े कारखाने खुल जाते हैं और साम्राज्यवादी राष्ट्र पूर्णतया उसके आर्थिक जीवन का नियन्त्रण करने लगता है। कालान्तर में अधिकृत देश में भी पूंजीवाद का शासन स्थापित होजाता है।

राष्ट्रीय जागरण का दमन

साम्राज्यवादी राष्ट्र का हित इस बात में है कि वह अपने अधिकृत देश या उपनिवेश की प्रजा को सदैव प्रगति तथा प्रकाश से अलग रखे। वह उसे नवयुग की नवीन विचारधारा, संसार की सामाजिक क्रान्तियों के अमर सन्देश तथा ज्ञान-विज्ञान से वंचित रखकर अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है। अधिकृत देश में नवीन प्रगतिशील विचारधाराओं का प्रतिपादन करनेवाले साहित्य और रचनाओं पर रोक लगायी जाती है; समाचारपत्रों पर कड़ी नज़र रखी जाती है और जब जनता में विदेशी बन्धन से मुक्ति पाने के लिए नवीन चेतना का जागरण होता है तब उसे कुचल देने का प्रयत्न किया जाता है; क्योंकि

साम्राज्यवादी राष्ट्र यह भलीभाँति अनुभव करता है कि राष्ट्रीय जागरण उसके हित के लिए घातक सिद्ध होगा। परन्तु सच तो यह है कि साम्राज्यवादी राष्ट्र अपने सुव्यवस्थित कड़े शासन, दमन और शोषण से भी राष्ट्रीय जागरण को रोक नहीं सकता। ब्रिटेन के सुप्रसिद्ध राजनीतिक लेखक प्रोफेसर श्री हैराल्ड लास्की का कथन है कि **"साम्राज्यवाद पराधीन राष्ट्र की जनता में राष्ट्रीयता को जन्म देता है।"** राष्ट्रीय जागरण तो साम्राज्यवाद की एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया है, जिसे रोकने की शक्ति स्वयं उसमें भी नहीं है।

भारत में राष्ट्रीयता का उदय वंग-भंग के साथ होता है। इसी समय स्वदेशी-आन्दोलन शुरू होजाता है। सन् १९१४ में जब यूरोपीय महायुद्ध शुरू हुआ, तब भारत में राष्ट्रीय असन्तोष अधिक बढ़ गया। इस असन्तोष को दबाने का ज्यों-ज्यों प्रयत्न किया गया, त्यों-त्यों वह उग्रतर होता गया। और जब युद्ध की समाप्ति पर भारत में रौलट बिल पास किया गया, तब भारतीय असन्तोष ने उग्रतम रूप धारण कर लिया। इसी समय महात्मा गांधी भारतीय राजनीतिक क्षितिज पर उदय हुए। महात्मा गांधी ने दमन का विरोध करने के लिए जनता को अहिंसात्मक आन्दोलन का अस्त्र प्रदान किया। इससे जनता में निर्भयता, साहस और बलिदान की भावना पैदा हुई।

सच तो यह है कि स्वाधीनता मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। किसी भी राष्ट्र को किसी दूसरे राष्ट्र की जनता को इस मानवीय अधिकार से वंचित करने का कोई अधिकार नहीं है। आजतक साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने इस सत्य को अनुभव नहीं किया। परन्तु इस बीसवीं सदी में यह प्रकाश के समान स्पष्ट है कि कोई भी राष्ट्र सदा के लिए गुलामी में नहीं रखा जा सकता। अविकृत राष्ट्र में राष्ट्रीयता का विकास और उत्तरोत्तर वृद्धि साम्राज्यवाद के जीवन के लिए संकट है।

विश्व की अशान्ति का कारण

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि साम्राज्यवाद राष्ट्रीय स्वाधीनता

का शत्रु है। यही नहीं, वह संसार में अशान्ति का जनक भी है। सभी विद्वान यह स्वीकार करते हैं कि आधुनिक काल में युद्धों का मूल कारण यही साम्राज्यवाद है। जिस देश के पास कोई उपनिवेश या साम्राज्य नहीं है वह उसकी प्राप्ति के लिए युद्ध पर उतारू होजाता है, और जो देश स्वयं साम्राज्यवादी है वह अपने साम्राज्यवाद की रक्षा तथा उसकी वृद्धि के लिए युद्ध-क्षेत्र में उतर आता है। इस प्रकार साम्राज्यवाद उन राष्ट्रों के लिए एक दूषित चीज़ है जो साम्राज्यवादी नहीं हैं। साम्राज्यवाद की प्रणाली में अशान्ति, असन्तोष और प्रतियोगिता तथा युद्ध के बीज मौजूद हैं। इसलिए यह ध्रुव सत्य है कि जबतक इस पृथ्वी पर साम्राज्यवाद, उसके अवशेष या साम्राज्यवादी भावना विद्यमान रहेगी, तबतक संसार में शान्ति का स्वप्न देखना भी संभव नहीं और न उस समय तक किसी भी संभाव्य उपाय से सदैव के लिए युद्धों की रोक ही की जा सकती है।

: ५ :

अन्तर्राष्ट्रीयता

आधुनिक काल में नागरिक-जीवन का संबंध केवल अपने नगर, ग्राम या राज्य से ही नहीं, बल्कि समस्त संसार से है। मानवता परिवार, नगर और मातृभूमि से भी महान् है। परन्तु जाति, धर्म, रंग एवं राष्ट्रीयता की उग्र भावना के कारण मानव-समाज कृत्रिम विभागों या समुदायों में विभाजित होगया है। संसार में जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता जा रहा है, वैसे-वैसे मानव जाति यह अनुभव करती जा रही है कि धर्म, जाति और रंग के भेद कृत्रिम हैं और मानव-एकता में इन्हें बाधक नहीं होना चाहिए। अब संसार के मनुष्य यह अनुभव करने लगे हैं कि मानव-समाज का संगठन सत्य, न्याय और सहकारिता के आधार पर होना चाहिए। संसार के मानव-हितैपी वैज्ञानिकों ने जो लोकोपयोगी आविष्कार किये हैं, उनके द्वारा मानव-एकता की भावना अधिक दृढ़ होती जारही है। बेतार के तार, रेडियो, दूर-दर्शन-यन्त्र आदि आविष्कारों ने मानव-एकता की स्थापना में बड़ा सहयोग दिया है। यही नहीं, प्रत्येक देश और प्रत्येक युग में ऐसे महापुरुष पैदा होते रहे हैं और आज भी ऐसे महापुरुष विद्यमान हैं जो संकीर्ण राष्ट्रीय बंधनों से मुक्त मानवता के पुजारी हैं। भारतवर्ष तो वैदिककाल से 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आदर्श का समर्थक रहा है। अशोक और बौद्धधर्म के प्रवर्त्तक महात्मा बुद्ध ने विश्वबन्धुत्व के लिए क्रियात्मक प्रयत्न किया। आधुनिक युग में भी महात्मा गांधी, विश्वकवि डॉ० रवीन्द्रनाथ ठाकुर[1] और पं० जवाहरलाल नेहरू राष्ट्रीयता के पुजारी होने के साथ-साथ विश्व-नागरिक भी हैं। भारत की राष्ट्रीयता मानव-हित-विरोधी नहीं है; इसलिए वह अन्तर्राष्ट्रीयता की पोषक है।

---

१. हाल ही में ७ अगस्त १९४१ को आपका देहावसान हो गया है।

अन्तर्राष्ट्रीयता क्या है ?

मानव-इतिहास में आदिम काल से हम मानव-सम्बन्धों में दो सिद्धांतों के आधार पर संघर्ष देखते आरहे हैं।

पहला सिद्धान्त है अराजकता और दूसरा है व्यवस्था । पहले सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य स्वच्छंद वैयक्तिक स्वाधीनता का समर्थक रहा है। दूसरे सिद्धान्त के अनुसार वह समाज के हित और व्यक्तिगत हित के लिए व्यवस्था का समर्थक रहा है। आज संसार में जितनी संस्थाएँ मानव-कल्याण के कार्य में लगी हुई हैं, वे व्यवस्था के सिद्धान्त के अनुसार कार्य कर रही हैं। सदियों के कटु अनुभव के बाद मानव ने यह अनुभव किया कि संघर्ष और अराजकता नहीं, बल्कि पारस्परिक सहयोग और व्यवस्था ही समाज के कल्याण का श्रेष्ठ नियम है। यदि मानव-समुदाय का प्रत्येक व्यक्ति किसी सर्वहितकारी नियम या मर्यादा का पालन न करके स्वच्छंद रूप से अपनी इच्छाओं की पूर्त्ति करने लगें, तो वास्तव में ऐसे समुदाय में व्यक्तिगत स्वाधीनता की कल्पना तक संभव नहीं; क्योंकि जहाँ कोई नियम, मर्यादा या व्यवस्था नहीं है, वहाँ कौन किसके अधिकार का आदर करने की सोचेगा ? और जब ऐसा न होगा तो कोई व्यक्ति सच्ची स्वाधीनता का उपभोग नहीं कर सकता। इसे और अधिक स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा। राज-पथ का प्रयोग करनेवालों के लिए यह नियम समाज ने निर्धारित कर दिया है कि वे बायीं ओर रहें (Keep to the left)। अब यदि राजपथ का प्रयोग करनेवाले व्यक्ति, मोटर-कार चलानेवाले या ताँगे हाँकनेवाले इस नियम की अवहेलना करके स्वच्छंदता से चलें या हाँकें तो इसका परिणाम यह होगा कि एक की स्वतंत्रता दूसरे के लिए बाधा सिद्ध होगी। उनमें परस्पर संघर्ष होगा और उसका अन्तिम फल होगा विनाश।

यदि हम सामाजिक संस्थाओं के विकास का अध्ययन करें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि मानव का प्रयत्न सहयोग और व्यवस्था की ओर अग्रसर रहा है। वह संघर्ष और अराजकता से अलग रहने के लिए प्रयत्नशील रहा है।

प्रत्येक सभ्य राष्ट्र का शासन-प्रबंध जनता या उसके प्रतिनिधियों द्वारा बनाये हुए कुछ मौलिक नियमों के द्वारा होता है, जिन्हें शासन-विधान का नाम दिया गया है। इन नियमों में स्पष्ट रूप से राज्य, शासन और नागरिकों के पारस्परिक कर्त्तव्यों और अधिकारों का उल्लेख होता है। इन नियमों के अनुसार शासन-प्रबंध होने से नागरिकगण स्वाधीनता का उपभोग करते हैं। यदि कोई नागरिक किसी दूसरे के अधिकार पर आघात करता है अथवा अपने कर्त्तव्य-पालन में त्रुटि करता है, तो समाज या राज्य उसे दण्ड देता है।

हम व्यक्तिगत जीवन में भी इसी नियम को देखते हैं। यदि हमारे परिवार का कोई सदस्य किसी दूसरे सदस्य को कोई हानि पहुँचाता है तो परिवार के सब सदस्य उसके ऐसे कार्य की निन्दा करते हैं, उसका विरोध करते हैं और उसे अपनी त्रुटि का अनुभव कराने के लिए उससे असहयोग भी करते हैं।

जब एक परिवार, एक राज्य या एक राष्ट्र में हम यह व्यवस्था और नियम पाते हैं. तब प्रत्येक राज्य के परस्परिक संबंधों में इनका पालन क्यों नहीं होना चाहिए ? जब किसी राज्य का कोई व्यक्ति क़ानून के विरुद्ध कोई काम करता है, तो समाज के हित के लिए राज्य उसे दण्ड देता है; क्योंकि यदि राज्य में सभी व्यक्ति उसी प्रकार क़ानून के विरुद्ध काम करने लगेंगे, तो इससे समाज ने अपने कल्याण के लिए जो नियम बनाये हैं उनका उल्लंघन होगा और फलतः समाज का अनिष्ट होगा। परन्तु जब एक राज्य दूसरे राज्य पर अन्यायपूर्वक आक्रमण करे, तब क्या किया जाये ? क्या राज्य को इस प्रकार स्वच्छंद होकर निर्दोष राष्ट्र पर आक्रमण करने दिया जाये ? जो राज्य को सर्वोपरि मानते हैं, वे यह कहेंगे कि राज्य पर किसीका नियंत्रण नहीं है, वह व्यक्तियों की भाँति नैतिक नियमों में बँधा नहीं है; इसलिए उसे कौन रोक सकता है ? परन्तु हम यह साफ़ तौर से देखते हैं कि इस बीसवीं सदी में यह कथन कुछ अप्रांसगिक-सा है। आज हम यह अनुभव करते हैं कि संसार का कोई देश अलग नहीं रह सकता। आज पृथकता संभव ही

नहीं है। सब राष्ट्रों के पारस्परिक संबंध इतने घनिष्ठ होगये हैं कि एक देश की आन्तरिक राजनीति का दूसरे देश की राजनीति पर प्रभाव पड़ता है। तब यह कैसे संभव हो सकता है कि एक सबल राष्ट्र दूसरे पर अन्याय करता रहे और सब राज्य मिलकर उसका विरोध न करें ?

प्रोफेसर रामजे म्यूर ने अन्तर्राष्ट्रीयता के संबंध में लिखा है:—

"अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर प्रगति का मुख्य उद्देश्य राज्यों के बीच पारस्परिक संबंधों में क़ानून की सत्ता स्थापित करना है। किसी राज के पारस्परिक सम्बन्धों में क़ानून की सत्ता का स्पष्ट रूप उस प्रयत्न में दिखलाई देता है जिसके द्वारा उनमें पारस्परिक संघर्ष का अवरोध होता है और शक्ति के निर्णय के स्थान में न्याय के निर्णय की स्थापना की जाती है। अतः अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर प्रगति का प्रयोजन अन्त में स्थायी शान्ति के लिए प्रगति ही है।"[१]

राष्ट्रों की अन्योन्याश्रयता

इस युग में व्यवसाय और उद्योग ऊँची-से-ऊँची स्थिति को पहुँच चुके हैं। एक प्रकार से इस पाश्चात्य उद्योगवाद ने संसार के राष्ट्रों को आत्म-निर्भरता से वंचित कर दिया है। किसी देश में कोयले की अधिकता है, किसी देश में लोहा अधिक है, तो दूसरे देश में पेट्रोल और तेल अधिक है। इसी प्रकार किसी देश में उद्योग-धंधे अधिक हैं, तो कोई देश कृषि की पैदावार में अग्रगण्य है। कहीं रबड़ और लाख ज्यादा पायी जाती है, किसी देश में रुई पैदा होती है, तो किसी देश में मशीनें अधिक बनती हैं, रुई पैदा नहीं होती। इस प्रकार प्रकृति ने इन प्राकृतिक साधनों का वितरण सारे संसार में इस ढंग से किया है कि कोई भी एक देश दूसरे देश से संबंध स्थापित किये बिना उद्योग-व्यवसाय में उन्नति नहीं कर सकता। यही कारण है कि कोई राष्ट्र इस युग में आत्म-निर्भरता के सिद्धान्त का प्रयोग नहीं कर सकता।

---

१. प्रोफ़े० रामजे म्यूर : 'नेशनलिज्म एण्ड इन्टरनेशनलिज्म' (१९१९) पृ० १३८

आर्थिक जीवन में इसी अन्योन्याश्रयता की भावना ने भिन्न-भिन्न राष्ट्रों में अपने हितों की रक्षा के लिए दो भावनाओं को जन्म दिया—वे हैं सहकारिता और प्रतियोगिता। पहली भावना के विकास के परिणाम-स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीयसंस्थाओं और संबंधों की स्थापना हुई तथा दूसरी भावना—प्रतियोगिता—ने आक्रामक आर्थिक राष्ट्रीयता को जन्म दिया। यह आक्रामक आर्थिक राष्ट्रीयता सहकारिता की विरोधिनी है और यही कारण है कि आज लाख चेष्टा करने पर भी आर्थिक राष्ट्रीयता के कारण कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग सफल नहीं होरहा है।

प्रभुत्व का सिद्धान्त

वर्तमान काल में प्रभुत्व के सिद्धान्त का विकास अन्तर्राष्ट्रीयता का विरोधी सिद्ध होरहा है। इस सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि संसार में राज्य ही सर्वोपरि सत्ता है—उसके ऊपर नियंत्रण करनेवाली कोई सत्ता नहीं है। अतः राज्य के नागरिकों का यह कर्त्तव्य है कि वे केवल राज्य के प्रति राजभक्त रहें, उसीकी पूजा करें, उसीके आदेश का पालन करें और जब वह राज्य अपने विस्तार के लिए युद्ध करे तो नागरिकों को उसमें पूर्ण सहयोग देना चाहिए। यह प्रभुत्व का सिद्धान्त किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता में विश्वास नहीं करता। ऐसी दशा में यह आशा करना कि राज्यों के नागरिक उस सत्ता के आदेश का पालन करेंगे, व्यर्थ है। अतः जबतक यह सिद्धान्त अपने इसी रूप में क़ायम रहेगा और इसमें आवश्यक परिवर्तन नहीं किया जायेगा, तबतक किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की सफलता संभव नहीं है।

प्रोफेसर हैराल्ड लास्की का कथन है—

"प्रभुता-प्राप्त राज्यों (Sovereign States) में बँटा हुआ संसार उनके प्रभुत्व-सिद्धान्त के कारण उनके पारस्परिक संबंधों का स्थायी शान्ति के आधार पर सफलतापूर्वक संगठन नहीं कर सकता; क्योंकि हमारी आर्थिक प्रणाली की प्रवृत्ति प्रभुत्व (Sovereignty) को समाज में उन हितों का आश्रय बना देती है जिनके लिए शान्ति और युद्ध अपने विशेष उद्देश्यों

की पूर्ति के साधन-मात्र हैं। यदि किसी राज्य में आर्थिक प्रक्रिया में कोई असमान हित होगा, तो राज्य की शक्ति उन लोगों के हाथ में होगी जो आर्थिक सत्ता के साधनों के स्वामी हैं। यदि इनका प्रयोग विशेष रूप से साम्राज्यवाद के लिए किया गया, तो उन उद्देश्यों की रक्षा के लिए प्रभुत्व का प्रयोग किया जायेगा। यदि किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था ने ऐसे स्वतंत्र राज्य के अपने हितों के संरक्षण के प्रयत्न में बाधा उपस्थित की, तो वह उसके आदेश को ठुकरा देगा।"[१]

प्रोफेसर लास्की के अनुसार प्रभुता प्राप्त राज्यों में 'संसार के विभाजन का अर्थ है संसार की अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक अराजकता।' ऐसी स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में कोई व्यवस्था कायम नहीं हो सकती।

अतः अन्तर्राष्ट्रीय समाज की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि उसके सदस्य-राष्ट्र प्रभुता-हीन राज्य (Non-Sovereign States) हों। जबतक राज्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के सम्बन्ध में अपने कार्यों का स्वयं निर्णायक बना रहेगा और जबतक वह उनका निर्णय किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के हाथ में न सौंपेगा, तबतक वह स्वेच्छानुसार उन सम्बन्धों का निर्धारण करता रहेगा और इस प्रकार के कार्य से संसार की शान्ति के लिए खतरा बना रहेगा।

सारांश यह कि अन्तर्राष्ट्रीय समाज के लिए एक निर्धारित आर्थिक योजना की आवश्यकता है, जिससे किसी भी राज्य को आर्थिक कारणों से अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष न करना पड़े।

अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ

(१) राष्ट्रसंघ

विगत महायुद्ध (१९१४-१८) के अन्त में जब शान्ति-सन्धि हुई तब संसार से युद्धों का अन्त करने के लिए राष्ट्रसंघ की स्थापना का

---

१. हेराल्ड जे० लास्की: 'इकॉनॉमिक फाउंडेशन्स ऑव पीस इन ल्यो-नार्ड वुल्फ्स वे टु प्रीवेण्ट वार'; पृ० ५३३

प्रस्ताव स्वीकार किया गया। अमरीका के राष्ट्रपति विलसन ने राष्ट्रसंघ की कल्पना की और अन्य राजनीतिज्ञों के सहयोग से उसे एक अन्तर्राष्ट्रीय जीवित संस्था का रूप दिया गया। १० जनवरी १९२० को राष्ट्र-संघ की विधिवत् स्थापना हो गयी।

राष्ट्रसंघ के विधान में उसकी सबसे प्रथम धारा में उसका लक्ष्य इस प्रकार घोषित किया गया :—

"प्रतिज्ञा करनेवाले राष्ट्र, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए युद्ध न करने की मर्यादा को स्वीकार करके, राष्ट्रों में परस्पर प्रकटरूप से न्यायपूर्ण और सम्माननीय सम्बन्धों को क़ायम रखते हुए विभिन्न राष्ट्रों के पारस्परिक व्यवहार में अन्तर्राष्ट्रीय विधान को क्रियात्मक रूप देंगे और यह बात विश्वासपूर्वक ध्यान में रखकर सुसंगठित राष्ट्रों की पारस्परिक सन्धियों की प्रतिज्ञाओं का पूरा आदर करते हुए न्याय की रक्षा के लिए राष्ट्रसंघ के इस विधान को स्वीकार करते हैं।"

विधान की इस प्रस्तावना में राष्ट्रसंघ के निम्नलिखित सिद्धान्त स्पष्टतया निहित हैं—

१. अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता, शान्ति और सुरक्षा की स्थापना।

२. युद्ध की रोक।

३. राष्ट्रों में परस्पर समुचित, प्रकट और सम्मानपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना।

४. संसार की सरकारों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विधान के अनुसार आचरण।

५. अन्तर्राष्ट्रीय न्याय-व्यवस्था की स्थापना।

६. सन्धियों की समस्त शर्तों का पालन।

इस विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि राष्ट्रसंघ के दो मुख्य लक्ष्य हैं—एक तो संसार में शान्ति की स्थापना और दूसरा युद्धों को रोकना। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना के लिए राष्ट्रों में परस्पर सहकारिता और सुरक्षा आवश्यक है। राष्ट्रसंघ सामूहिक सुरक्षा में विश्वास करता है और कूटनीति को शान्ति-स्थापना के लिए घातक मानता है। इसलिए

विधान में यह स्पष्ट स्वीकार किया गया है कि राष्ट्रसंघ के सदस्य-राष्ट्रों में जो सन्धियाँ होंगी, वे प्रकट रूप में की जायेंगी। गुप्त रूप से कोई सन्धि नहीं होगी और उन सन्धियों की संघ के आफिस में रजिस्ट्री भी होगी। अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता की वृद्धि के लिए अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ मनुष्यों के कल्याणार्थ स्थापित की गयीं। युद्ध रोकने की समस्या बड़ी विकट है। राष्ट्रसंघ ने इसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा पर जोर दिया तथा निःशस्त्रीकरण के लिए योजना बनाने का विचार किया।

राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत दो प्रमुख परिषदें हैं। पहली **असेम्बली** कहलाती है और दूसरी **कौंसिल**। असेम्बली में प्रत्येक स्वतन्त्र राज्य को अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है। कौंसिल राष्ट्रसंघ की कार्य-समिति है। सन् १९३२ में संसार के कुल ६६ राष्ट्रों में से ५५ राष्ट्र राष्ट्रसंघ के सदस्य थे।

संयुक्तराज्य अमरीका तो राष्ट्रसंघ के जन्म-काल से ही अलग रहा है। सन् १९३२ के बाद अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बिगड़ती गयी और पुनः राजनीतिक क्षितिज पर युद्ध के बादल उमड़ने लगे। बस, साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने एक-एक करके राष्ट्रसंघ को छोड़ दिया। सबसे पहले जापान ने राष्ट्रसंघ से त्यागपत्र देदिया। इसके बाद इटली और जर्मनी ने भी उसे त्याग दिया। इस प्रकार सन् १९३२ के बाद राष्ट्रसंघ का प्रभाव धीरे-धीरे कम होता गया और अन्त में वह एक निर्जीव और शक्तिहीन संस्था रह गयी। राष्ट्रसंघ की उपर्युक्त दोनों परिषदों के निश्चयों को कार्यान्वित करने के लिए जेनेवा (स्वीजरलैंड) में उसका एक विशाल अन्तर्राष्ट्रीय कार्यालय है। इसके अन्तर्गगत १३ विभाग हैं जो अपने-अपने कार्य को चलाते हैं।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-संघ

शान्ति-सन्धि के १३वें भाग में अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-संघ के उद्देश्यों पर प्रकाश डाला गया है। इसमें लिखा है :—

"राष्ट्रसंघ का उद्देश्य विश्व में शान्ति की स्थापना करना

है और शान्ति उसी समय स्थापित हो सकती है जबकि उसका आधार सामाजिक न्याय हो। आज मजदूरों की वर्त्तमान अवस्था इतनी अन्यायपूर्ण, कष्टमय और विकट है कि बहुतेरे मजदूरों के लिए मुंहताजी होरही है। इसीलिए संसार में इतनी अशान्ति बढ़ गयी है कि समूचे संसार की शान्ति और सामंजस्य ही संकट में है। इस परिस्थिति में शीघ्र ही सुधार होना चाहिए—जैसे मजदूरों के दैनिक कार्य के घण्टे कितने हों, कितने घण्टों का दिन माना जाये, कितने दिनों का एक सप्ताह माना जाये, मजदूरों की भरती का नियन्त्रण, बेकारी का निवारण, उचित वेतन निर्धारण करना, जब श्रमिक कार्य-काल में आहत होजायें या व्यथित हों तो उनकी रक्षा करना, बालकों, युवकों और स्त्रियों का संरक्षण, वृद्धावस्था तथा शरीर से शिथिल होनेपर जीविका की व्यवस्था, प्रवासी मजदूरों के हितों का संरक्षण, पारस्परिक सहयोग से संगठित कार्य करने की सुविधा, व्यावसायिक शिक्षा का प्रबन्ध तथा अन्य सुविधाएँ।"

इस भूमिका से यह स्पष्ट है कि राजनीतिज्ञों को मजदूरों की अवस्था का अनुभव था और वे यह जानते थे कि यदि उनकी दशा में राज्यों ने सन्तोषप्रद सुधार नहीं किया तो इससे बड़ी अशान्ति होगी। अतः समस्त प्रमुख उद्योगवादी राष्ट्रों ने एक अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-संघ की स्थापना की। इस संघ के सिद्धान्त इस प्रकार हैं:—

(१) सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि श्रम को बाजार में बेचने-खरीदने की चीज न माना जाये।

(२) मजदूरों व पूंजीपतियों को वैध उद्देश्यों के लिए संगठन करने का अधिकार है।

(३) मजदूरों के पारिश्रमिक (मजदूरी) की दर इतनी पर्याप्त नियत की जाये जो उनके देश, काल और स्थिति के अनुकूल व उचित हो।

(४) जिन देशों में मजदूरों के लिए ८ घंटे का दिन तथा ४८ घंटे का सप्ताह नहीं माना जाता, उन देशों में यही नियम प्रचलित करानें का प्रयत्न किया जाये।

(५) प्रति सप्ताह मज़दूरों को एक दिन की छुट्टी मिलनी चाहिए और, जहाँतक संभव हो, रविवार छुट्टी का दिन नियत किया जाये।
(६) वालकों से मज़दूरी न ली जाये, जिससे वे उचित शिक्षा प्राप्त कर सकें और उनका शारीरिक विकास हो सके।
(७) पुरुषों और स्त्रियों को समान कार्य के लिए समान मज़दूरी दी जाये।
(८) मज़दूरों के कार्य का जो तरीक़ा क़ानून द्वारा निर्धारित किया गया हो वह आर्थिक दृष्टि से न्यायसंगत हो।
(९) प्रत्येक राष्ट्र को अपने देश में ऐसा प्रवन्ध करना चाहिए कि यह जाँच-पड़ताल की जा सके कि उपर्युक्त सिद्धान्तों का पालन ठीक ढंग से होता है या नहीं। इस जाँच में स्त्रियाँ भी भाग लें।

मज़दूर-संघ का संगठन भी राष्ट्र-संघ-जैसा ही है। उसकी अन्तर्राष्ट्रीय परिषद् में प्रत्येक राष्ट्र को प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है। उसमें ५६ राज्यों के प्रतिनिधि हैं। अन्तर्राष्ट्रीय परिषद् मज़दूरों के कल्याण के लिए प्रस्ताव स्वीकार करती है और अपने सदस्य-राष्ट्रों को यह आदेश करती है कि वे उसके अनुसार अपने-अपने देश में क़ानून वनाकर उन्हें कार्यान्वित करें। परन्तु यदि कोई राष्ट्र इन प्रस्तावों के अनुसार कार्य न करे, तो संघ उसे ऐसा करने के लिए वाध्य नहीं कर सकता। अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर-संघ की एक कार्यकारिणी समिति है और उसका 'सेक्रेट्रियट' भी जेनेवा में स्थित है। इस कार्यकारिणी में कुल ३२ सदस्य हैं। इनमें से ८ सदस्य स्थायी हैं। भारत भी एक स्थायी सदस्य है।

(३) स्थायी विश्व-न्यायालय

राष्ट्रसंघ ने हेग में एक अन्तर्राष्ट्रीय स्थायी न्यायालय की भी स्थापना की है, जो ३० जनवरी सन् १९२२ से अपना कार्य कर रहा है। इस न्यायालय को उन विग्रही राष्ट्रों के अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों की जाँच करने व निर्णय देने का अधिकार है, जो राष्ट्रसंघ के सदस्य हैं तथा जिन्होंने न्यायालय के विधान[१] को स्वीकार कर लिया हो।

---

१. स्टेच्यूट ऑव कोर्ट (Statute of Court)

राष्ट्रसंघ की विफलता और उसके कारण

ऊपर कहा गया है कि राष्ट्रसंघ अब एक निर्जीव और शक्तिहीन संस्था बन चुकी है, अतः उसकी असफलता के कारणों पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। अबतक इस सम्बन्ध में जो विवेचन,किया गया है, उससे यह भलीभाँति जाना जा सकता है कि राष्ट्रसंघ की विफलता के मूल कारण क्या हैं। फिर भी यहाँ सूक्ष्म रूप में उनका उल्लेख करना उचित है, जिससे पाठक आसानी से समझ सकें और जब भविष्य में विश्व-शान्ति के लिए किसी विश्व-संस्था की स्थापना की जाये तो उन कारणों के निवारण के लिए प्रयत्न किया जाये :

(१) राष्ट्रसंघ की स्थापना के बाद ही यूरोपीय देशों में उसके प्रति विद्रोह उठ खड़ा हुआ। राज्य साम्राज्यवाद के नशे में पागल होकर मानवता के आदर्शों को भूल गये और मानव-एकता और विश्व-बन्धुत्व के प्रति उनकी श्रद्धा कम होती गयी। राष्ट्रसंघ प्रधान शक्तिसम्पन्न और साम्राज्यवादी राष्ट्रों के हाथ में स्वार्थ-साधन का अस्त्र बन गया। वह राज्यों के शासनों के प्रतिनिधियों का एक ऐसा गुट बन गया, जो वास्तव में मानव-समाज का संगठन करने के अयोग्य थे। राष्ट्रसंघ का राज्यों के नागरिकों से कोई सम्बन्ध न रहा।

(२) असफलता का दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण है शक्तिशाली राष्ट्रों की साम्राज्यवादी प्रवृत्तियाँ। राष्ट्रसंघ की स्थापना से इनमें तनिक भी सुधार नहीं हुआ। प्रभुता के सिद्धान्त को, जो अन्तर्राष्ट्रीयता का विरोधी है, सभी राष्ट्र मानते रहे और इस प्रकार राष्ट्रसंघ के निश्चयों का राष्ट्रीय प्रभुत्व के सामने कोई मूल्य ही न रह गया।

(३) विचारधारा-सम्बन्धी-संघर्ष भी राष्ट्रसंघ की विफलता के लिए उत्तरदायी हैं। यूरोपीय महायुद्ध के बाद रूस में राज्य-क्रान्ति के फलस्वरूप समाजवादी व्यवस्था की स्थापना हुई। समस्त यूरोप में समाजवाद का प्रचार होने लगा। समाजवादी विचारधारा के प्रतिकूल इटली और जर्मनी में प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई, और उसके फलस्वरूप फ़ासिज्म और नाज़ीवाद इन दो नयी विचारधाराओं का

विकास हुआ। इटली में मुसोलिनी ने खुल्लमखुल्ला शान्तिवाद के खिलाफ विद्रोह शुरू कर दिया। इटली के विश्व-ज्ञान-कोष में मुसोलिनी ने लिखा है:—

"फ़ासिज्म का न तो शाश्वत शान्ति की आवश्यकता में विश्वास है और न उसकी उपयोगिता में। शान्तिवाद में संघर्ष से बचने की प्रवृत्ति छिपी हुई है। वह मूलतः कायरता ही है। इसलिए 'फ़ासिज्म' बलिदान के मुकाबिले में शान्ति को ठुकराता है। युद्ध और सिर्फ युद्ध में ही मनुष्य की शक्तियों की अधिक-से-अधिक परीक्षा होती है और उसे स्वीकार करने का साहस करनेवाली जातियों के सिर पर ही उच्चता का सेहरा बँधता है। और सब तरह की परीक्षाएँ नकली हैं। वे मनुष्य के सामने जीवन या मरण के चुनाव का सवाल पेश नहीं करतीं।"

इसी प्रकार जर्मनी में हेर हिटलर ने जर्मनों की सोयी हुई हिंसा-वृत्तियों को जगाने के लिए एक आत्मचरित लिखा और उसमें हिंसा, युद्ध और साम्राज्यवाद का यश गाया। उसमें लिखा:—

"यदि कोई जीवित रहना चाहता है, तो उसे लड़ाई करनी चाहिए। और यदि कोई इस सतत संघर्षशील संसार में लड़ाई के प्रति उदासीन है, तो उसे जीवित रहने का अधिकार नहीं।"[1]

"ऐसा समझौता—गुटबन्दी—जिसका उद्देश्य युद्ध में पड़ना नहीं है, बेकार और व्यर्थ है।"[2]

स्पष्ट है कि ये विचारधाराएँ शान्तिवाद और राष्ट्रसंघ के लक्ष्य के विरुद्ध हैं। जर्मनी और इटली आज १० वर्षों से भी अधिक समय से सारे यूरोप में हिंसावाद, युद्ध और संघर्ष का प्रचार कर रहे हैं।

(४) राष्ट्रसंघ के आन्तरिक संगठन की त्रुटियाँ भी उसकी विफलता के लिए कम उत्तरदायी नहीं हैं। राष्ट्रसंघ स्वतन्त्र सदस्य-राष्ट्रों की सरकारों के प्रतिनिधियों की संस्था है। राष्ट्रसंघ की सत्ता

१-२. हेर हिटलर: 'माइन कैम्फ' (मेरा संघर्ष) १८ वाँ जर्मन संस्करण, पृष्ठ ३१७ और ७४९।

वास्तव में प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र की सरकार में निहित है। स्वतंत्र राष्ट्रों के समझौते से संघ का विधान बना है। इसलिए अन्य सन्धियों की तरह राष्ट्र उसका भी उल्लंघन कर सकते हैं। और उसका जीवन उसके सदस्यों की शुभकामना पर निर्भर है। राष्ट्रसंघ में प्रतिनिधित्व की प्रणाली बड़ी दोषपूर्ण है। वह राज्यों के नागरिकों की संस्था नहीं है, बल्कि सरकारों की गुटबन्दी है। दूसरा बड़ा दोष यह है कि राष्ट्रसंघ वास्तविक अर्थ में पार्लमेंट नहीं है। वह राज्यों के नागरिकों के लिए विधान या क़ानून नहीं बना सकता। राष्ट्रसंघ की कार्य-पद्धति में भी दोष हैं। किसी निर्णय के लिए सर्वसम्मत होना आवश्यक है। सिर्फ ४० लाख स्विस प्रजा के प्रतिनिधि अपने एकमत से किसी भी निर्णय को रद्द कर सकते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सहयोग

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सहयोग का सर्वप्रथम और आधारभूत सिद्धान्त यह है कि संसार के सब राष्ट्रों के नागरिकों में मानवता के प्रति श्रद्धा हो। मानवता और मानव-आदर्शों के प्रति अनन्य श्रद्धा की भावना ही मानव-एकता को प्रेरणा और स्फूर्ति प्रदान कर सकती है। नागरिकों को यह अनुभव कराने की आवश्यकता है कि मानवता धर्म, जाति, सभ्यता और वर्ण (रंग) के बन्धनों से ऊपर है। जबतक राष्ट्रों में नागरिकों द्वारा मानवता के प्रति यह आदर-भाव पैदा न किया जायेगा तबतक सच्ची और स्थायी सहकारिता एवं शान्ति की स्थापना सम्भव नहीं है।

संसार में शान्ति की स्थापना करने में प्रत्येक राष्ट्र का सहयोग आवश्यक है। हर राष्ट्र को अपना यह धर्म स्वीकार करना चाहिए कि वह संसार की शान्ति-रक्षा के लिए उत्तरदायी है। यदि यूरोप के किसी छोटे देश पर कोई अन्याय होता है, तो अमरीका को यह सोचकर अलग न रहना चाहिए कि उससे अमरीका के हितों का कोई सम्बन्ध नहीं है।

इसी प्रकार एशिया में किसी राष्ट्र पर कोई अन्यायपूर्ण आक्रमण होता है, तो यूरोप के बड़े राष्ट्रों को यह न सोचना चाहिए कि इससे यूरोप का कोई सम्बन्ध नहीं है। संसार के किसी भी भाग में होनेवाला छोटे-से-छोटा उपद्रव विश्व-शांति के लिए खतरा है, यह प्रत्येक राष्ट्र को भली-भाँति समझ लेना चाहिए।

संसार के एक बहुत बड़े भाग में ऐसे राष्ट्र एवं जातियाँ भी हैं जो राजनीतिक, आर्थिक एवं औद्योगिक दृष्टियों से पिछड़ी हुई हैं और जो इस समय साम्राज्यवादी राज्यों की साम्राज्य-लिप्सा की शिकार हैं। राष्ट्रसंघ ने ऐसे राष्ट्रों व पिछड़ी हुई जातियों का शासन-प्रबंध शासना-देश-प्रणाली के अन्तर्गत विगत युद्ध के विजेता राष्ट्रों के हाथ में देकर उन्हें उनका भाग्य-निर्णायक बना दिया। ऐसी पिछड़ी तथा पराधीन जातियाँ एशिया और अफ्रीका में अधिक हैं। अब समस्या यह है कि इनके संबंध में, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए क्या किया जाये? इसके लिए सबसे पहले अन्तर्राष्ट्रीय समाज को यह सिद्धान्त बिना किसी अपवाद के स्वीकार करना चाहिए कि प्रत्येक राष्ट्र को स्वभाग्य-निर्णय का अधिकार है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक पराधीन राष्ट्र को स्वाधीनता दे दी जाये तथा उनकी रक्षा के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन नियुक्त किया जाये। इस कमीशन का कार्य इस प्रकार स्वतंत्र किये गये राष्ट्रों को सबल राष्ट्रों की कोप-दृष्टि से बचाना हो।

इस प्रकार संसार के प्रत्येक राष्ट्र को, चाहे वह एशियायी राष्ट्र हो या अफ्रीकन, अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में समानता का अधिकार होना चाहिए। इस प्रकार जातीय प्रश्न का एकदम खात्मा होजाना ही श्रेयस्कर होगा।

राष्ट्रों के आपसी झगड़ों के फैसले के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय होना चाहिए जिसमें सभी प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का निर्णय किया जाये। प्रत्येक राष्ट्र को इस न्यायालय में ही अपने ऐसे विवाद का निर्णय कराने के लिए सन्नद्ध होना चाहिए। इस न्यायालय में सभी राष्ट्रों का विश्वास होना ज़रूरी है। कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न इस न्यायालय

की अधिकार-सीमा के बाहर न होना चाहिए और न किसी राष्ट्र को इस संबंध में कोई विशेष रियायतें दी जानी चाहिएँ।

अन्तर्राष्ट्रीय विधान का निर्माण किया जाना और प्रत्येक राष्ट्र से उसका पालन कराने की समुचित व्यवस्था की जानी चाहिए।

समस्त राष्ट्रों में पारस्परिक सहयोग तथा विश्व-शान्ति के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन स्थापित होना चाहिए। यह संगठन संघ के सिद्धान्त के आधार पर क़ायम हो। प्रत्येक राष्ट्र को अपनें सामान्य मामलों का नियंत्रण और प्रबंध इस संगठन को सौंप देना चाहिए।

यह अन्तर्राष्ट्रीय संगठन वैदेशिक नीति, अन्तर्राष्ट्रीय सेना, आर्थिक नीति, अन्तर्राष्ट्रीय राजस्व, उपनिवेशों की समस्या, अन्तर्राष्ट्रीय यातायात, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा और प्रवास आदि मामलों का प्रबंध कर सकता है।

हमने संक्षेप में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के सिद्धान्तों की रूपरेखा तथा मौलिक सिद्धान्तों का विवेचन किया है। इनपर विस्तृत रूप से विचार उसी समय किया जा सकता है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की कोई व्यावहारिक और श्रेष्ठ योजना तैयार की जाये।

संसार की एकमात्र अन्तर्राष्ट्रीय संस्था राष्ट्रसंघ के पतन के कारणों पर विचार करके उनके निवारण का प्रयत्न करना चाहिए। राष्ट्रसंघ के पतन से हमें यह न समझ लेना चाहिए कि संसार में अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता संभव ही नहीं है बल्कि उसके लिए उचित तरीक़े से प्रयत्न करना चाहिए।

: ६ :

भारतवर्ष और अन्तर्राष्ट्रीयता

अन्तर्राष्ट्रीय समाज में भारतवर्ष का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि भारतवर्ष इस समय अपनी राजनीतिक स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए अग्रसर है, तो भी इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि भारत विश्व-शान्ति के लिए आज भी सर्वश्रेष्ठ देन देने की क्षमता रखता है। चाहे जिस दृष्टि से देखा जाये, भारत विश्व-बन्धुत्व के आदर्श को कार्यरूप में परिणत करने में समर्थ है। भारत का प्राचीन इतिहास हमारे इस कथन की सचाई प्रकट करता है।

भारत का विश्व-प्रेम

संसार के प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान और पुरातत्त्ववेत्ता इस बात में एकमत हैं कि भारत की सभ्यता, संस्कृति और संस्थाएँ विश्व में प्राचीन-तम हैं। जैसे-जैसे साहित्य, विज्ञान, राजनीति आदि के क्षेत्रों में अन्वेषण और अनुसंधान होते जारहे हैं, वैसे-वैसे यह प्रकट होता जारहा है कि भारतवर्ष न केवल आध्यात्मिक जगत् में ही शिरोमणि रहा है, प्रत्युत साहित्य, कला-कौशल, ज्ञान-विज्ञान, समाज-नीति और राजनीति में भी किसी सभ्य राष्ट्र से पीछे नहीं रहा। कुछ ही समय पहले पाश्चात्य यूरोपीय विद्वानों की दृष्टि में भारत एक ऐसा 'दार्शनिकों का देश' था, जहाँ केवल साधु-महात्माओं की ही पूजा होती हो। परन्तु राज-नीति और इतिहास के सुविख्यात भारतीय विद्वान प्रो० बेनीप्रसाद ने अपने खोजपूर्ण ग्रन्थ 'प्राचीन भारत में राज्य की स्थिति'[१] और 'प्राचीन भारत में शासन का सिद्धान्त'[२] तथा भारत-विख्यात इतिहासवेत्ता स्व०

---

१ 'द स्टेट इन ऐंशियण्ट इण्डिया'।

२ 'थिअरी ऑव गवर्नमेण्ट इन ऐंशियण्ट इण्डिया'।

डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने अपने सुविख्यात ग्रन्थ 'हिन्दू राजतन्त्र'[१] द्वारा यह प्रमाणित कर दिया है कि भारतवर्ष केवल आध्यात्मिक जगत् में ही शिरोमणि नहीं रहा है प्रत्युत राजनीति में भी अग्रगण्य रहा है। कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' इस विषय का अनुपम ग्रन्थ है।

समस्त भारतीय साहित्य विश्व-संस्कृति और विश्व-प्रेम की विचार-धारा से ओतप्रोत है। वैदिक संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वह लोकसंग्रह अर्थात् मानव-समाज के कल्याण को प्रमुख और ऊँचा स्थान देती है। वैदिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में लोकसंग्रह का सिद्धान्त अन्तर्भूत है। इसी विशेषता का फल है कि भारत-भूमि में सदैव से विश्व-भावना की पूजा होती रही है। आज भी भारत में जिस राष्ट्रीयता का यशोगान होरहा है, उसका भी आधार विश्व-प्रेम और लोकसंग्रह ही है।

'वैदिक संस्कृति के अनुसार विश्व-प्रेम और देश-प्रेम एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं, प्रत्युत पूरक भाव हैं। जिस प्रकार एक मनुष्य अपने कुटुम्ब से अनुराग रखता हुआ भी देशभक्ति से मुख नहीं मोड़ता, राष्ट्र-हित में अपने व्यक्तिगत हितों का बलिदान करने के लिए तत्पर रहता है, उसी प्रकार एक सच्चा देशभक्त भी विश्व-हित के लिए अपना सब-कुछ अर्पण कर सकता है। जिन विचारकों का यह कथन है कि राष्ट्रीयता (देशभक्ति) विश्व-प्रेम के लिए घातक है, उन्हें अपना यह कथन आधुनिक उग्र राष्ट्रीयता के लिए ही सीमित रखना चाहिए। जो राष्ट्रीयता हमें दूसरों से द्वेष करना नहीं सिखलाती, वह हमारे विश्व के लिए अवांछनीय किस प्रकार हो सकती है?'[२]

आयुर्वेद के पृथिवी-सूक्त अ० १२–१ में ऐसे ही भाव मिलते हैं—

''हे पृथिवी! मरणधर्मा पदार्थ अथवा मनुष्य तुझसे उत्पन्न होते हैं और तुझमें ही विचरण करते हैं—निवास करते हैं; तू द्विपद (मनुष्य)

---

१ 'हिन्दू पॉलिटी'।

२ रामनारायण यादवेन्दु: 'राष्ट्रसंघ और विश्व-शान्ति', पृ० २३५

और चतुष्पद (चौपायों आदि) का पालन-पोषण करती है। जिन मनुष्यों के लिए उदय होता हुआ सूर्य्य किरणों के द्वारा अमृत, जीवन-प्रद प्रकाश भली प्रकार देता है, फैलाता है, वे पाँचों मानव जातियाँ (गौर, लाल, धूसर, पीत और कृष्ण) तेरी ही हैं।"

[पृ० सू० : अध्याय १२–१ : १५ वाँ श्लोक]

"वे सब प्रजाएँ हमें मिलकर—इकट्ठी होकर—भरपूर करें और हे पृथ्वी ! तू वाणी की मधुरता मुझे दे।"

[पृ० सू० : अ० १२–१ : १६ वाँ श्लोक]

"हे मातृभूमि ! तू इकट्ठा रहने का महत् स्थल है अतएव तू महती पूजनीया है। तेरा वेग, गति, एवं कम्पन महान् है और महिमा-सम्पन्न, महत्त्वशाली, सूर्य्य, परमात्मा अथवा ऐश्वर्य-सम्पन्न राजा प्रमादरहित होकर तेरी रक्षा करता है। ऐसी तू भूमि प्रकाश की चमक की भाँति हमें उत्तम रीति से चमका, प्रवृत्त कर, जिससे हमसे कोई द्वेष–स्पर्द्धा न करे।" [पृ० सू० : अ० १२–१ : १६ वाँ श्लोक]

अन्यत्र लिखा है:—

"यथास्थान अथवा एक गृह के सदृश नाना भाषाएँ बोलनेवाले और अनेक व्यवसायवाले जनों को धारण करती हुई यह पृथिवी निश्चेष्ट तथा निश्चल गौ की भाँति मुझे धन की हजारों धाराएँ दुहाये।"

[पृ० सू० : अ० १२–१ : ४५ वाँ श्लोक]

वैदिक संस्कृति में समस्त मानव-समाज एक परिवार है; परन्तु विविध भाषा, रंग-रूप, व्यवसाय आदि के कारण वह अनेक भागों में बँट गया है। जिस प्रकार एक परिवार के सदस्य विविध भाषा, साहित्य और व्यवसाय से अनुराग रखते हुए भी परिवार-बंधन में ग्रथित रहते हैं उसी प्रकार समस्त मानव-समाज भी एकता के सूत्र में बँधा रह सकता है।

पृथिवी-सूक्त के उक्त १५ वें श्लोक में विश्व-प्रेम का आदर्श कितनी उत्तमता से वर्णित हुआ है ! पृथ्वी पर निवास करनेवाली पाँचों मानव-जातियों को समानता का अधिकार है। पाश्चात्य जातियों की यह भावना रही है कि ईश्वर ने गौर-वर्ण की जातियों को ही संसार में

शासन करने के लिए पैदा किया है और पीत तथा कृष्ण वर्ण की जातियाँ तो शासित होने के लिए ही पैदा हुई हैं। इसे यूरोपीय 'गौर जातियों का भार' (White man's Burden) कहते हैं। यूरोपीय जातियों में जातीयता की भावना इतनी उग्र है कि वे सारे संसार में गोरों का प्रभुत्व चाहती हैं। आज यूरोप इसीके अभिशाप से पीड़ित है।

विश्व-बंधुत्व और सम्राट् अशोक

भारत में विश्व-प्रेम के सिद्धान्त केवल साहित्य और धर्म-ग्रन्थों तक ही सीमित नहीं रहे हैं, प्रत्युत् जीवन में—व्यक्तिगत एवं सामाजिक दोनों में—उनको चरितार्थ किया गया है। व्यक्तिगत जीवन के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। किन्तु हम यहाँ अहिंसा, प्रेम और विश्व-बंधुत्व का एक ऐसा उदाहरण देना चाहते हैं, जैसा संसार के इतिहास में दूसरा नहीं मिलेगा।

मानवता को एक सूत्र में बाँधने एवं संसार में प्रेम का साम्राज्य स्थापित करने में सम्राट् अशोक ने जो प्रयत्न किया वह वास्तव में स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य है। राष्ट्रपति विलसन, ब्रियण्ड, अमरीका के शान्तिवादी निकोलस बटलर मरे (जिन्हें गत वर्ष शान्ति का नोबुल पुरस्कार मिला है), रोरिक, रोम्याँ रोलाँ और महात्मा गाँधी आदि महापुरुषों के सामूहिक प्रयत्न अशोक के कार्य की ही परम्परा हैं। प्रसिद्ध अंग्रेज इतिहास-लेखक श्री० एच० जी वैल्स ने अशोक के सम्बन्ध में लिखा है—

'अशोक पहला सम्राट है, जिसने मनुष्यों के सच्चे उद्देश्य और जीवन-पथ को लक्ष्य में रखकर मनुष्य जाति को शिक्षित किया। उसने विशाल सेना और बडी भारी शक्ति के होते हुए भी, सैनिक और राजनीतिक विजय नहीं की। उसने अपने शौर्य, पराक्रम और वीरता को दिखाने के लिए किसी राष्ट्र पर आक्रमण नहीं किया, किसी देश का सर्वनाश करने के लिए, किसी राष्ट्र को गुलाम बनाने के लिए, सुन्दर नगरों को धूल में मिलाने के लिए, आहतों, पीड़ितों और दुःखितों के अभिशाप से, हाहा-

कार से और आँसुओं से भरी पृथ्वी को अधिक बोझल तथा दुःखित मानव-समाज को अधिक दुःखी नहीं किया। उसने धर्म-विजय की; धर्म-भिक्षुकों द्वारा अतृप्त और संतप्त संसार को प्रेम और धर्म का अमृत-पान कराया।"

अपने चतुर्दश शिला-लेख में अशोक ने लिखवाया है :—

"धर्म-विजय को ही 'देवताओं के प्रिय' प्रियदर्शी मुख्यतः विजय मानते हैं। इस धर्म-विजय को 'देवताओं के प्रिय' ने यहाँ (अपने राज्य में) तथा छह सौ योजन दूर पड़ोसी राज्यों में प्राप्त किया है, जहाँ अन्तयोक नामक यवन राजा राज्य करता है, और अन्तयोक के बाद तुरमय, अलिकिति, यक और अलिकसुन्दर नाम के चार राजा राज्य करते हैं, और उन्होंने अपने राज्य के नीचे (दक्षिण में) चोल, पांड्य तथा ताम्रपर्णि में भी धर्म-विजय प्राप्त की है। उसी प्रकार हिंदराजा के राज्य में तथा विषवज्रियों में, यवनों में, कम्बोजों में, नाभक नाभ-पंक्तियों में, भोजों में, पिति निकाय आंध्रों में और पुलिन्दों में सब जगह लोग देवताओं के प्रिय का धर्मानुशासन अनुसरण करते हैं और अनुसरण करेंगे। जहाँ-जहाँ 'देवताओं के प्रिय' के 'दूत नहीं पहुँच सकते, वहाँ-वहाँ लोग 'देवताओं के प्रिय' का धर्माचरण, धर्म-विधान और धर्मानुशासन सुनकर धर्म के अनुसार आचरण करते हैं। इस प्रकार सर्वत्र जो विजय हुई है, वह विजय वास्तव में सर्वत्र आनन्द देनेवाली है। धर्म-विजय में जो आनन्द है, वह बहुत प्रगाढ़ है, पर वह आनन्द क्षुद्र वस्तु है। 'देवताओं के प्रिय' पारलौकिक कल्याण को ही बड़ी भारी वस्तु समझते हैं। इसलिए यह धर्म-लेख लिखा गया है कि मेरे पुत्र और पौत्र जो हों, वे नया देश विजय करना अपना कर्त्तव्य न समझें। यदि कभी वे नया देश विजय करने में प्रवृत्त हों, तो उन्हें शांति और नम्रता से काम लेना चाहिए और धर्म-विजय को ही सच्ची विजय मानना चाहिए। उससे इस लोक और परलोक दोनों जगह सुख-लाभ होता है। उद्योग ही उसके आनन्द का कारण हो; क्योंकि उससे इहलोक और परलोक दोनों सिद्ध होते हैं।"

अशोक के कलिंग के शिला-लेख में लिखा है :—

"…सब मनुष्य मेरे पुत्र हैं, और जिस प्रकार मैं चाहता हूँ कि मेरे पुत्रगण सब तरह के हित और सुख को प्राप्त करें, उसी प्रकार मैं चाहता हूँ कि सब मनुष्य ऐहिक और पारलौकिक सब तरह के हित और सुख का लाभ उठावें।…आप लोग इस बात पर ध्यान दें, क्योंकि यह नीति श्रेष्ठ है।"

"अशोक ने २८ वर्षों तक मनुष्यों की वास्तविक आवश्यकताओं के लिए कार्य किया। इतिहास के पृष्ठों में जिन हजारों सम्राटों, राजा-महाराजों आदि का उल्लेख है, उनमें केवल अशोक का नाम आकाश में तारे के समान जगमगाता है। वोलगा से जापान तक आज भी उसका नाम आदर के साथ लिया जाता है। चीन, तिब्बत और भारत में भी (यद्यपि उन्होंने अशोक के सिद्धान्तों का परित्याग कर दिया है) उसकी महानता की परम्परा सुरक्षित है। आज भी जीवित मनुष्यों में अशोक की स्मृति कान्स्टेनटाइन या चार्लमेगन की यादगार से कहीं अधिक जाग्रत है।" ये हैं अशोक के प्रति विश्व के एक महान् इतिहास-वेत्ता श्री एच० जी० वैल्स के विचार। श्री वैल्स के इस कथन की सचाई में सन्देह करना अज्ञता होगी; परन्तु भारत के सम्बन्ध में उन्होंने जो-जो कहा है उसके सम्बन्ध में इतना और कहना पर्याप्त होगा कि आधुनिक काल में भी भारत ने अशोक की परम्परा का त्याग नहीं किया है। आजके युग में महात्मा गांधी का अहिंसात्मक आन्दोलन अशोक के ही सिद्धान्तों का प्रतीक है।

हमारे कथन का सार यह है कि भारत प्राचीन समय से ही विश्व-प्रेम, विश्व-बन्धुत्व और अन्तर्राष्ट्रीयता का पुजारी रहा है। आज भारत अपनी स्वाधीनता की सिद्धि में लगा हुआ है और हमारा यह ध्रुव विचार है कि स्वाधीन भारत विश्व में सच्ची अन्तर्राष्ट्रीयता को जन्म देने में सफल होगा।

संसार की स्थिति और भारतवर्ष

आक्सफोर्ड-विश्वविद्यालय के राजनीति के प्रोफेसर श्री एल्फ्रेड जिमर्न

ने भारत के सम्बन्ध में अपने एक विचार-पूर्ण निबंध में लिखा है :—

"....आनेवाले युग में भारत विश्व-राजनीति का प्रकाश-स्तम्भ बनेगा। अधिक स्पष्ट शब्दों में इसका अर्थ यह है कि यदि भारत ब्रिटिश-कॉमनवैल्थ से अपना सम्पर्क बनाये रखेगा और दूसरी ओर कॉमनवैल्थ भी भारत को अपने संघटन में समुचित पद प्रदान करेगा तो विश्व-शांति और मानव-समाज के अभ्युदय का मार्ग अत्यधिक प्रशस्त हो जायेगा। यदि भारत और दूसरे ब्रिटिश उपनिवेशों के बीच समानता के आधार पर सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न विफल रहा, तो उसका परिणाम न केवल कॉमनवैल्थ पर प्रत्युत समग्र मानव-समाज पर पड़ेगा। अन्तर्जातीय संघर्ष के लिए एक विशाल रंगमंच तैयार होजायेगा।"[१]

प्रोफेसर ज़िमर्न के कथन से यह स्पष्ट होजाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय समाज में भारत का स्थान अद्वितीय है। परन्तु भारत के पराधीन देश होने से मानव-समाज की उन्नति में बड़ी अड़चन होरही है। राष्ट्रसंघ में या विश्व की राजनीति में अधीनस्थ राज्यों का कोई स्थान नहीं है। वैसे भारतवर्ष राष्ट्रसंघ के जन्म-काल से ही उसका मौलिक सदस्य रहा है, परन्तु उसकी सदस्यता के कारण उसे कोई विशेष लाभ नहीं हुआ और न विश्व-शान्ति की समस्या के समाधान में ही कोई योग मिला है। भारत का राष्ट्रीय लोकमत प्रारम्भ से ही राष्ट्रसंघ की सदस्यता का विरोधी रहा है। यह इसलिए नहीं कि भारत राष्ट्रसंघ के आदर्शों में विश्वास नहीं करता; बल्कि इसका कारण यह है कि वर्तमान परिस्थिति में, जबकि राष्ट्रसंघ यूरोप के महान् राष्ट्रों के कूटनीतिज्ञों का एक गुप्त मण्डल बन गया है, भारत का राष्ट्रसंघ से सम्बद्ध रहना किसीके लिए हितकर नहीं होसकता।

यों प्रतिवर्ष सितम्बर मास में भारत की ओर से राष्ट्रसंघ की असेम्बली के अधिवेशन में सम्मिलित होनें के लिए प्रतिनिधि-मण्डल जेनेवा को जाता है; परन्तु यह-प्रतिनिधि-मण्डल सच्चे अर्थों में भारत

---

१. फ्रेडा और वेडी : 'इण्डिया एनेलाइज्ड' (१), पृ० १५

का नहीं होता, क्योंकि इन प्रतिनिधियों की नियुक्ति या निर्वाचन में भारतीय नागरिकों का हाथ नहीं है और न भारतीय व्यवस्थापिका सभा ही इन्हें चुनकर भेजती है। इन प्रतिनिधियों का चुनाव भारत-मंत्री के हाथों में है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रसंघ की असेम्बली के अधिवेशन में भारत का प्रतिनिधि-मण्डल स्वतन्त्रतापूर्वक अपने हितों की रक्षा के लिए कोई कार्य नहीं कर सकता; वह ब्रिटिश-प्रतिनिधि-मण्डल के संकेत पर ही अपने विचार प्रकट कर सकता है।

सन १९३२ में राष्ट्रसंघ की आय (जो राष्ट्रों के चन्दे से प्राप्त हुई थी) १३ लाख ४७ हजार ५२० पौंड थी। भारत ने प्रतिवर्ष ७५ हजार ४९९ पौंड अर्थात् १० लाख ५ हजार ८० रु० के हिसाब से अबतक १९ वर्षों में १ करोड़ ९१ लाख ६ हजार ५२० (अर्थात् २ करोड़ के लगभग) रुपये राष्ट्रसंघ की भेंट चढ़ाये हैं। भारत की गरीबी तथा राष्ट्रसंघ में उसकी स्थिति को देखते हुए यह धन-राशि बहुत अधिक है। राष्ट्रसंघ के लिए सबसे अधिक धन इंग्लैंड देता है। उसके बाद फ्रांस। फ्रांस के बाद जापान का और चौथा नम्बर भारत का है। जापान ने राष्ट्रसंघ छोड़ दिया है। इसलिए सबसे अधिक चंदा देनेवालों में अब भारत का तीसरा स्थान है। इतना धन व्यय करने पर भी भारत का राष्ट्रसंघ की कौंसिल में कोई वास्तविक प्रतिनिधित्व नहीं है।

कौंसिल में केवल बड़े-बड़े राष्ट्रों का ही प्रभुत्व है। सितम्बर १९३८ के असेम्बली-अधिवेशन में मुसलमानों के नेता और धार्मिक प्रमुख श्री आगाखाँ को राष्ट्रसंघ की असेम्बली का प्रधान निर्वाचित करके इंग्लैण्ड ने अपनी दूरदर्शिता का परिचय दिया है। पर अशक्त, दुर्बल और अपने ध्येय से पतित राष्ट्रसंघ की अध्यक्षता भारतीय को प्रदान कर इंग्लैण्ड ने कोई प्रशंसनीय कार्य नहीं किया। इस समय सारे संसार को यह ज्ञान हो गया है कि राष्ट्रसंघ संघटित पाखण्ड के सिवा और कुछ नहीं है।

भारत का अंगभंग

इस समय जहाँ भारत संसार के समस्त देशों के साथ सहयोग और

मित्रता का सम्बन्ध बनाने में प्रयत्नशील है वहाँ ब्रिटिश शासन की नीति इसके सर्वथा विपरीत चली आरही है और दूसरे देशों से भारत का सम्बन्ध दृढ़ करना तो दूर उसके अपने अंगों—ब्रह्मा, लंका आदि—को ही उससे विच्छिन्न किया जारहा है।

१ अप्रैल १९३७ तक ब्रह्मा भारत का ही एक प्रांत था। परन्तु इसके बाद से ब्रह्मा को भारत से पृथक् करके एक स्वतन्त्र किंतु ब्रिटिश सरकार के अधीन देश बना दिया गया है। यही नहीं, ब्रह्मा के लिए अलग शासन-विधान भी बनाया गया है जिसके अनुसार उसका शासन होरहा है। ब्रह्मा में १० लाख भारतीय निवास करते हैं। वहांके व्यवसाय और कृषि में १० करोड़ रुपये की भारतीय पूंजी लगी हुई है। वहाँ मद्रास के बहु-संख्यक महाजन, बिहार-बंगाल के मजदूर और भारतीय सरकारी नौकर तथा वकील आदि हैं। अब इनमें और ब्रह्मा के लोगों में प्रतिस्पर्द्धा बनी रहने लगी। इस प्रतिस्पर्द्धा और भारतीयों के प्रति ब्रह्मी लोगों की घृणा का दुष्परिणाम यह हुआ है कि भारतीय ब्रह्मा के चावल, लकड़ी और तेल का बहिष्कार कर रहे हैं।

लंका में भी भारतीय मजदूरों की संख्या ६ लाख है। वहाँ भारतीय पूंजी और भारतीय शिक्षितों का अभाव है। भारतीय मजदूरों के साथ भेदभाव किया जाता है। स्थानीय संस्थाओं के चुनावों में ग्राम्य मताधिकार के सम्बन्ध में भी भारतीयों के साथ भेदभाव से व्यवहार किया जाता है। इसका भी दुष्परिणाम यह हुआ कि भारतवासी लंका के नारियल तथा दूसरी चीजों का बहिष्कार कर रहे हैं।

प्रवासी भारतीय

प्रवासी भारतीयों की समस्या के विशेषज्ञ स्वामी भवानीदयाल संन्यासी ने अपने एक लेख में प्रवासियों की स्थिति के सम्बन्ध में लिखा है :—

"इस समय संसार में भिन्न-भिन्न देशों और उपनिवेशों में प्रवासी भारतीयों की जन-संख्या लगभग २५ लाख है। जहाँ-जहाँ वे बसे हुए

हैं, वहाँ-वहाँ उनको अपने देश की पराधीनता के कारण अपमान का कड़वा घूंट पीना पड़ता है। पौन सदी तक जारी रहनेवाली शर्तबंदी-प्रथा का इतिहास वास्तव में भारतीयों की अपकीर्ति का ही इतिहास है और उसमें विशेपतः अन्यायों, अत्याचारों और अपमानों के ही अध्याय मिलेंगे। यद्यपि अनेक सहृदय महानुभावों के उद्योग से अब इस प्रथा का अन्त होगया है, तो भी इससे उत्पन्न स्थिति की सीमा अभी अगोचर है। इतने आन्दोलनों और बलिदानों के बाद भी न तो प्रवासियों के संकट का अन्त हुआ है और न उनकी अवस्था में आशा-जनक अन्तर ही पड़ा है। मजा तो यह है कि ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत उपनिवेशों में उन्हें सबसे अधिक अपमान के धक्के सहने पड़ते हैं।"[1]

दक्षिण अफ्रीका में प्रवासी भारतीयों के कष्टों की कहानी बहुत लम्बी पुरानी और चिरपरिचित है। महात्मा गांधी ने यह सारी कथा 'दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह' के रूप में लिखी है, विस्तार से जानने के लिए पाठकगण उसे पढ़ें।

अफ्रीका के उन प्रदेशों में जहाँ ब्रिटिश साम्राज्य है प्रवासी भारतीयों की स्थिति स्मट्स के शब्दों में इस प्रकार है :—

"....दक्षिण अफ्रीका में हम रंगीन जातियों को गोरों के साथ समानता का पद नहीं दे सकते। हमारी समानता मौलिक रूप से इस सिद्धांत पर आश्रित है कि धर्म और राज्य में गोरों और रंगीन जातियों के बीच कोई समानता नहीं हो सकती।"

ये शब्द दक्षिण अफ्रीका की यूनियन के प्रधान-मंत्री और राष्ट्रसंघ के एक भाग्य-विधाता के हैं। जातीयता की यह भावना कितनी उग्र है!

दक्षिण-अफ्रीका में प्रवासी भारतीयों की परिस्थिति वस्तुतः अत्यन्त शोचनीय है। वहाँ जातीयता का सबसे उग्र रूप देखने को मिलता है। वहाँ भारतीय 'कुली' समझे जाते हैं और उनके साथ वैसा ही व्यवहार

---

१. स्वामी भवानीदयाल संन्यासी : प्रवासियों की परिस्थिति ('सरस्वती', जनवरी १९३७ ई०)।

किया जाता है। वहाँ स्वामी भवानीदयाल संन्यासी के शब्दों में—

"आज भी भारतीयों के लिए ट्रामों और ट्रेनों में अलग डिब्बे हैं। डाकघरों, स्टेशनों और दफ्तरों में रंग-भेद का नग्न प्रदर्शन है। होटलों और थियेटरों के दर्वाजे उनके लिए बंद हैं। न उन्हें पार्लमेण्टरी मताधिकार हैं और न म्यूनिसिपल। कुलीगिरी के सिवा उन्हें और कोई सरकारी नौकरी नहीं मिल सकती। जो भाई खेती और रोजगार करते हैं उनकी राह में इतने काँटे बिखेर दिये गये हैं कि वे पग-पग पर चुभते हैं। राम और कृष्ण के वंशज एवं बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, शंकर और दयानन्द के अनुयायी यहाँ असभ्य हब्शियों से भी निम्नतर समझे जाते हैं।"

दक्षिण अफ्रीका के राष्ट्रवादी श्वेतांगों की परिषद् ने हाल में जो प्रस्ताव पास किया है वह यह है :—

"यूरोपीय ईसाई संस्कृति की रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि यूरोपीयों और अयूरोपीयों में यथासम्भव अन्तर रखा जाये; उनका विवाह-संबंध क़ानून से जुर्म ठहराया जाये, अयूरोपीय स्कूलों में अन्य वर्णों के साथ गौरांग अध्यापक की नियुक्ति रोकी जाये, कोई भी श्वेतांग किसी अश्वेतांग से नौकरी में नीचे के ओहदे पर न रखा जाये और गोरी स्त्रियाँ अयूरोपीयों के यहाँ नौकरी करने से रोकी जायें।"

नेटाल तथा ट्रांसवाल (दक्षिण अफ्रीका) में श्वेतांगों ने स्वतः भारतीयों को बसाया था; पर उनके साथ बीभत्स पाप और अत्याचार किये गये। उनपर व्यापारिक प्रतिबन्ध लगाये गये और ऐसे क़ानून बनाये गये जिससे वे भूमि के स्वामी न बन सकें। उनके लिए यूरोपियों से पृथक् मुहल्ले बनाये गये। सन् १९२४ में जनरल स्मट्स की सरकार के पतन के बाद नयी सरकार ने प्रवासी भारतीयों के साथ और भी सख्ती से व्यवहार किया। यह अत्याचार यहीं तक समाप्त नहीं हुआ। रंग-प्रतिबंध क़ानून (Colour Bar Bill) के जो बाद में क़ानून के रूप में बदल गया, अनुसार सरकार भारतीयों को दूसरे अयूरोपीयों की भाँति दक्षतापूर्वक किये जानेवाले काम-धन्धों (skilled occupations) से

वंचित कर सकती है ।

केनिया और **युगाण्डा** की अवस्था भी करुणाजनक और शोचनीय है । यद्यपि केनिया की व्यवस्थापिका सभा में प्रवासी भारतीयों के पाँच प्रतिनिधि हैं, तो भी अल्पसंख्यक होने के कारण उनकी आवाज में कुछ बल नहीं है । केनिया के पठार (Highland areas) श्वेतांगों के लिए सुरक्षित हैं । केनिया के निकट टँगेनिका प्रदेश है । पहले यह जर्मनी का उपनिवेश था । परन्तु यूरोपीय महायुद्ध के बाद सन् १९२० से इसका शासन-प्रबन्ध राष्ट्रसंघ की शासनादेश-प्रणाली (Mandate System) के अन्तर्गत अंग्रेजों द्वारा किया जाता है । यहाँ भारतीयों के साथ समानता का व्यवहार किया जाता है ।

आस्ट्रेलिया में एक समय की कॉमनवैल्थ ने भारतीयों का प्रवास सर्वथा रोक दिया था । इस रोक के प्रमुख कारण जातीयता के उग्र भाव और अर्थ-शोषण ही थे । और तो और, उन भारतीयों का प्रवेश भी रोक दिया जो केवल भ्रमण के ही लिए—बसने के लिए नहीं—जाना चाहते थे । प्रवासियों की स्थिति में सुधार के लिए प्रायः ७५ वर्षों से लगातार आंदोलन होरहा है । इसीके फलस्वरूप सन् १९०४ में आस्ट्रेलिया ने भारतीयों के प्रवेश पर से यह रोक हटाली और भारतीय भ्रमणकारियों के लिए वहाँ जाने का द्वार खुल गया ।

न्यूज़ीलैण्ड में भी, आस्ट्रेलिया के साथ-साथ, भारतीयों के प्रवेश पर रोक लगा दी गयी थी । सन् १९१९ में भारतीयों के लिए न्यूजीलैंड में प्रवास-सम्बन्धी कड़े-से-कड़े नियम बनाये गये । सन् १९२० में प्रवास-प्रतिबंध-कानून के द्वारा समस्त प्रवासियों पर कड़े नियम लगाये गये । जो न्यूजीलैंड जाना चाहता उसे पहले से आज्ञा प्राप्त करना ज़रूरी होता था ।

कनाडा में भी प्रवासी भारतीयों को बड़े-बड़े अत्याचार और अपमान सहने पड़े हैं । भारतीयों के सिवा चीनी और जापानी लोगों पर भी प्रवास-सम्बन्धी प्रतिबन्ध लगाये गये । सन् १९१० में कनाडा की सरकार ने प्रवास-सम्बन्धी जो नियम बनाये वे जापानियों की अपेक्षा भारतीयों के लिए

अधिक अपमानजनक और प्रतिवन्धकारी थे। सन् १९१४ म सरदार गुरुदत्तसिंह के नेतृत्व में भारतीयों (विशेषतः सिक्खों) का एक दल जापानी जहाज़ 'कोमागाता मारू' में कनाडा के लिए गया। परन्तु वह जहाज वन्दर पर लगातार तीन मास तक लगा रहा। कनाडा की सरकार ने उसके यात्रियों को कनाडा में प्रवेश करने से रोक दिया। अन्त में इस जहाज को वापस लौटना पड़ा। कनाडा की फेडरल सरकार के आग्रह पर भी ब्रिटिश कोलम्बिया के प्रवासी भारतीयों को अवतक मताधिकार से वंचित रखा गया है।

दक्षिणी रोडेशिया में भारतीयों के साथ वहुत वुरा वर्ताव किया जाता है। परन्तु वहाँ प्रवासियों की संख्या वहुत कम है।

फिजी और मॉरिशस में सन् १९३२ में भारतीय प्रवासियों की जनसंख्या क्रमशः ७६,७२२ और २५,७९६ थी। ये अंग्रेजों की क्राउन कॉलोनी हैं। इनको आवाद करने में भारतीयों ने अपना वलिदान किया और पुरस्कार में उन्हें अपमान और दमन मिला! फिजी की व्यवस्थापिका परिषद् में अव पाँच प्रतिनिधि लिये जाते हैं। तीन भारतीय प्रतिनिधि निर्वाचित और दो मनोनीत होते हैं। मॉरिशस की जनसंख्या में तीन हिस्से भारतीयों की आवादी है। परन्तु इसपर भी राजनीतिक दृष्टि से उनका कोई मूल्य नहीं है। मेडागास्कर फ्रांस के अधीन है। वहाँ प्रवासी भारतीयों के साथ अपमानजनक व्यवहार तो नहीं होता, फिर भी उनकी वह स्थिति नहीं है जो होनी चाहिए। जो उपनिवेश डच तथा पुर्तगाली लोगों के अधीन हैं, उनमें भी भारतीयों की स्थिति सन्तोषप्रद नहीं है। जंजीवार नाममात्र के लिए सुलतान के हाथों में है; उसके शासन-प्रवंध में अंग्रेजों का प्रभाव है। हाल में जंजीवार में लौंग-व्यापार के संवंध म जो नया कानून वना था, उससे भारतीयों में वड़ा असन्तोष पैदा होगया। भारतीय राष्ट्रीय महासभा—कांग्रेस—ने भारत में इसी कारण लौंग का वहिष्कार किया था।

प्रवासी भारतीयों की समस्या सचमुच वड़ी विकट है। प्रारम्भ में जिन भारतीयों ने अपनी पूँजी और श्रम से ब्रिटिश उपनिवेशों को इस

योग्य बनाया कि वे मनुष्यों के रहने योग्य बन सकें और उन्हें व्यापारिक दृष्टि से उन्नत बनाने में पूरा योग दिया, आज उन्हीं भारतीयों को श्वेतांग यह कहते हैं कि उन्हें उपनिवेशों में प्रवास का कोई अधिकार नहीं है। प्रवासियों की इस दयापूर्ण दशा का एक मात्र कारण है भारत की परतन्त्रता। परन्तु स्वाधीनता-प्राप्ति के साथ प्रवासियों के वे संकट दूर हो जायेंगे।

साम्राज्य-विरोधी संघ

संसार भर में साम्राज्यवाद का आतंक इतना बढ़ गया है कि उसका विरोध करने के लिए सन् १९२७ ई० में ब्रसेल्स में अन्तर्राष्ट्रीय साम्राज्य-विरोधी संघ (League Against Imperialism) की स्थापना की गयी। संस्था का मूल उद्देश्य साम्राज्यवाद की सभी विरोधी शक्तियों को एक सूत्र में बाँधना है; क्योंकि साम्राज्यवादियों से संघर्ष के लिए यह आवश्यक है कि उसकी विरोधी शक्ति को संगठित किया जाये। इस संस्था का कार्य उपनिवेशों में साम्राज्यवाद के विरुद्ध होरहे युद्ध को चलाये रखना है। भारतीय राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) और भारतीय व्यवसायी-संघ का इस संस्था से संबन्ध है।

ब्रसेल्स (जर्मनी) में जो स्थायी संघ स्थापित किया गया उसका सभापतित्व इंग्लैंड के प्रसिद्ध मजदूर नेता जार्ज लेन्सबरी नें ग्रहण किया था। पं० जवाहरलाल नेहरू ब्रसेल्स की साम्राज्य-विरोधी परिषद् में सम्मिलित हुए थे। इसके सम्बन्ध में उन्होंने 'मेरी कहानी' में लिखा है:—

"काफी प्रतिष्ठित व्यक्ति साम्राज्य-विरोधी लीग के संरक्षक हैं। उनमें एक तो मि० आइन्स्टीन हैं और दूसरी श्रीमती सनयातसेन और मेरा खयाल है रोम्याँ रोलाँ भी। कई महीने बाद आइन्स्टीन ने इस्तीफा दे दिया, क्योंकि फिलिस्तीन में अरबों और यहूदियों के जो झगडे हो रहे थे उनमें लीग ने अरबों का पक्ष लिया था और यह बात उन्हें नापसन्द थी।"

पं० जवाहरलाल नेहरू का इस संघ से पहले सम्पर्क था, परन्तु सन् १९३१ से कांग्रेस और सरकार के वीच दिल्ली में जो समझौता हुआ और उसमें नेहरूजी ने जो भाग लिया उसपर साम्राज्यवाद-विरोधी संघ उनसे नाराज होगया और उसने उन्हें अपनी सदस्यता से अलग करनें के लिए प्रस्ताव भी पास किया।

पी० ई० एन० और भारत

पी० ई० एन०[१] क्लब कवियों, पत्रकारों, नाटककारों, संपादकों और उपन्यास-लेखकों की एक अन्तर्राष्ट्रीय-संस्था है। इंग्लैंड की प्रसिद्ध विदुषी लेखिका श्रीमती केथरिन ए० डासन स्कॉट ने लन्दन में अक्टूबर १९२१ में इसकी स्थापना की थी। पर इस समय इस संस्था की समस्त संसार में ४० देशों में शाखाएँ हैं। सुविख्यात अंग्रेजी उपन्यास-लेखक जॉन गैल्सवर्दी प्रारम्भ से अपनी मृत्यु तक इस संस्था के प्रधान रहे। उसके वाद यह सम्मान सुप्रसिद्ध अंग्रेज इतिहासवेत्ता श्री एच० जी० वैल्स को दिया गया। इस समय वही इस संस्था के प्रधान हैं। पी० ई० एन० का उद्देश प्रत्येक स्थान के लेखकों में पारस्परिक सद्भावना और सहानुभूति पैदा करना है। पी०ई०एन० वास्तविक अर्थ में एक विश्व-संस्था है। यह उन लेखकों के विरुद्ध नहीं है जो उसके सदस्य नहीं हैं। उसमें जाति, रंग, राजनीति तथा राष्ट्रीयता के आधार पर कोई भेद-भाव नहीं है। संसार के प्रमुख लेखक चाहे वे पुरुष हों या स्त्री, श्वेतांग हों या पीतांग, जवान हों या वृद्ध, गरीव हों या धनी, अथवा चाहे जिस धर्म, जाति या राष्ट्र के हों, इस संस्था के सदस्य हो सकते हैं—

भारत में भी पी० ई० एन० की शाखा सन् १९३३ ई० में वम्वई में स्थापित हो चुकी है। जव पी० ई० एन० की तेरहवीं अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस मई १९३५ में वार्सीलोना नगर में हुई थी तो उसमें भारत की ओर से

---

[१] P=Poets : Playwrights (**कवि, नाटककार**); E=Editors : Essayist (**सम्पादक : निबंधकार**); N=Novelits (**उपन्यासकार**)

श्रीमती सोफ़िया वाडिया प्रतिनिधि की हैसियत से सम्मिलित हुई थीं। इस संस्था के द्वारा समस्त प्रसिद्ध भारतीय लेखकों को परस्पर एक दूसरे को जानने और समझने का ही सुयोग नहीं मिलता, प्रत्युत उनका अन्तर्प्रान्तीय साहित्यिक सम्पर्क भी होता है। यह संस्था दो दिशाओं में भारत में साहित्य की प्रगति के लिए कार्य करती है:—

(१) अपने अन्तर्राष्ट्रीय संगठन द्वारा सदस्य लेखकों की अंग्रेजी रचनाओं को संसार भर में प्रसिद्ध करना।

(२) अपने सदस्यों की भारतीय भाषाओं में लिखी गयी रचनाओं को समस्त भारत में प्रसिद्ध करना और भारत की विविध-भाषा-संबन्धी संस्कृतियों के संबन्ध में ज्ञान का प्रसार करना। इसी उद्देश से एक अखिल भारतवर्षीय भाषा-समिति भी स्थापित की गयी है जिसमें अनेक भारतीय भाषाओं के प्रमुख प्रतिनिधि हैं।

इस शाखा की ओर से 'इण्डियन पी० ई० एन०' नामक एक मासिक पत्रिका भी निकल रही है, जिसमें संस्था की गतिविधि और लेख प्रकाशित होते रहते हैं।

भारतीय शाखा की प्रबंध-समिति इस प्रकार है:—

(१) डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर	प्रधान
(२) श्री० रामानन्द चट्टोपाध्याय	उपप्रधान
(३) श्रीमती सरोजिनी नायडू	उपप्रधान
(४) सर स० राधाकृष्णन्	उपप्रधान
(५) श्रीमती सोफिया वाडिया	संगठनकर्त्री

: ७ :

राष्ट्रीयता

राष्ट्रीयता क्या है ?

राष्ट्रीयता पर विशद रूप से विचार करने से पहले यह जान लेना उचित होगा कि राष्ट्रीयता है क्या ? 'राष्ट्रीयता' शब्द की उत्पत्ति 'राष्ट्र' शब्द से हुई है। राजनीतिक भाषा में राष्ट्र, राज्य और जाति इन तीनों में अन्तर है। 'राज्य' के कई आवश्यक तत्त्वों में से 'राष्ट्र' भी एक है; परन्तु 'राष्ट्र' को हम 'राज्य' नहीं कह सकते। 'राज्य' में 'राष्ट्र' शामिल है; क्योंकि वह उसका एक अंग है। जाति को भी हम राष्ट्र नहीं कह सकते। हाँ, हम ऐसी कल्पना कर सकते हैं कि एक ही जाति से बना कोई राष्ट्र हो। संसार में ऐसे अनेक राष्ट्र हैं जो कई जातियों के समूह से बने हैं। जैसे कनाडा में दो जातियाँ—फ्रांसीसी और अंग्रेज़—हैं। स्वीज़रलैंड में तीन जातियाँ हैं—जर्मन, इटेलियन और फ्रांसीसी। भारतवर्ष में मुख्यतया दो जातियाँ हैं: हिन्दू और मुसलमान। परन्तु हिन्दू या मुसलमान स्वयं कोई राष्ट्र नहीं हैं। आजकल ऐसा प्रचार हो रहा है कि हिन्दू हिन्दू-समाज को हिन्दू-राष्ट्र और मुसलमान मुसलमानों को मुस्लिम-राष्ट्र कहते हैं। परन्तु वास्तव में यह धारणा भ्रमपूर्ण और युक्तिहीन है।

राष्ट्र एक ऐसा जन-समुदाय है जो विशिष्ट सम्बन्धों से बँधा हुआ है और ये सम्बन्ध इतने शक्तिशाली और मज़बूत हैं कि जिनके कारण वह सामूहिक रूप से सुखी रह सकता है और जब उसके सम्बन्ध अस्त-व्यस्त कर दिये जाते हैं तब वह असन्तोष और अशान्ति का अनुभव करता है। ऐसे जन-समूह का प्रत्येक व्यक्ति परस्पर एकता का अनुभव करता है और वह जिस देश में रहता है उसे अपनी मातृभूमि मानता है। ये सम्बन्ध वास्तव में उसमें मातृभूमि के प्रति भक्ति की भावना उत्पन्न करते हैं और वह इस भक्ति-भावना के कारण

उसके लिए बड़े-से-बड़ा बलिदान करने में तत्पर रहता है।

वे सम्बन्ध, जिनके कारण एक जन-समूह राष्ट्र कहलाता है, कई प्रकार के हैं--भौगोलिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, आर्थिक, धार्मिक और जातीय। इनमें सबसे प्रमुख भौगोलिक सम्बन्ध है। एक देश में रहने के कारण व्यक्तियों में देशभक्ति की भावना पैदा होजाती है और वे उसे अपनी मातृभूमि समझते हैं। एक ही संस्कृति एवं ऐतिहासिक परम्परा भी व्यक्ति-समूह के पारस्परिक बन्धनों को मजबूत बनाती है। एक धर्म के अनुयायियों में भी एक प्रकार का बन्धुत्व स्थापित होजाता है। आर्थिक हितों की समानता भी ऐसे सम्बन्धों को पैदा करने में सहायक है। अन्त में जातीय एकता--रक्त-सम्बन्ध--भी राष्ट्र का एक बन्धन है। परन्तु उसपर अधिक ज़ोर देने आवश्यकता नहीं है। सच तो यह है कि आज संसार की कोई भी जाति अपने रक्त की पवित्रता का दावा नहीं कर सकती। परन्तु तो भी यूरोपियन जातियाँ अपनी जातीय भावना के कारण संसार में अन्याय और अनाचार कर रही हैं। अमरीका जैसे सभ्य और सुसंस्कृत देश में हब्शियों पर भीषण अत्याचार किये जा रहे हैं। उनका 'लिंचिंग' किया जाता है। अफ्रीका में भी काली जातियों के साथ गोरों के बर्बरतापूर्ण अत्याचार आज भी होरहे हैं। जर्मनी में जातीय पवित्रता की भावना ने ऐसा उग्र और भयंकर रूप धारण किया कि हिटलर ने अपने देश से यहूदियों को निकाल दिया। हिटलर की यह धारणा है कि केवल जर्मन ही पवित्र आर्य हैं। यहूदियों के संसर्ग में रहने से जर्मनों का आर्यत्व नष्ट होजायेगा; इसलिए उन्हें जर्मनी में न रहने दिया जाये। विदेशों में गोरी जातियाँ प्रवासी भारतीयों को 'कुली' कहकर उनके साथ कैसा अन्याय करती हैं, यह तो सबको भलीभाँति विदित ही है।

प्रोफेसर रामज़े म्यूर ने सिद्ध किया है कि जातीयता की भावना (अर्थात् यह विश्वास कि हमारी जाति ही संसार में सर्वश्रेष्ठ है और दूसरी जातियाँ अपवित्र या वर्ण-संकर हैं) संसार की जातियों में घृणा, रंग-द्वेष, प्रतियोगिता और अशान्ति पैदा करनेवाली है।

संसार में राष्ट्रीयता ने इतनी अशांति पैदा नहीं की जितनी कि जातीयता की भावना ने की है।[१]

राष्ट्र के लिए भाषा की एकता भी जरूरी है। जबतक जनसमूह म भाव-प्रकाशन सामान्य भाषा द्वारा न होगा, तबतक उसमें विचार की एकता भी पैदा नहीं होसकती; और जब विचार-एकता पैदा नहीं होगी, तो उसमें सांस्कृतिक एकता पैदा नहीं हो सकती। भारत में राष्ट्रीय नेताओं ने इस आवश्यकता को अनुभव किया है और इसी लिए सामान्य-भाषा—राष्ट्रभाषा—के निर्माण के लिए प्रयत्न होरहा है।

राष्ट्र की ऐतिहासिक परम्परा के संबंध में प्रोफेसर रामजे म्यूर का मत है:—

"वीरों के महान् कृत्य और वीरता के साथ किया गया बलिदान ऐसा श्रेष्ठ और पौष्टिक भोजन है जिससे राष्ट्र की आत्मा को शक्ति और स्फूर्ति मिलती है। इसीसे अमर और पवित्र परम्परा और इतिहास का निर्माण होता है, और फलतः राष्ट्र-निर्माण का मार्ग भी साफ होता है। इनके मुक़ाबिले धन-सम्पदा, जन और भूमि हेय प्रतीत होती है। जिस राष्ट्र के पास ऐसी स्मृतियों का अक्षय भण्डार है, उसके देश के आस-पास रहनेवाले लोग, जिनका उससे न कोई जाति-संबंध है और न धर्म तथा भाव का संबंध, उसमें मिल जाने में आत्मगौरव अनुभव करेंगे।"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राष्ट्रीयता एक भावना है। जिस देश की जनता में सामान्य भावना हो, वहाँ राष्ट्रीयता का पौदा पनपने लगता है।

राष्ट्रीयता के उदय के कारण

आज हम राष्ट्रीयता का उदय उन सभी देशों में देख रहे हैं जो विदेशी-शासन के नियंत्रण में हैं; और जो देश स्वाधीन हैं उनमें तो राष्ट्रीयता का विकास ऐसी भयंकर दिशा में हुआ है कि आज विद्वानों

---

१. रामजे म्यूर : 'नेशनलिज्म एण्ड इण्टरनेशनलिज्म" (१९१९) पृ० ३४-३५

का यह मत है कि राष्ट्रीयता ही संसार में अशान्ति का मूल है। स्वाधीन और पराधीन दोनों प्रकार के देशों में राष्ट्रीयता के विकास के भिन्न-भिन्न कारण हैं।

स्वाधीन देशों में विज्ञान, आविष्कार और औद्योगीकरण ने उग्र राष्ट्रीयता को जन्म दिया। पाश्चात्य देशों में औद्योगिक क्रान्ति ने जनता के सामाजिक जीवन में आश्चर्यजनक क्रान्ति पैदा करदी। पहले लोग छोटे-छोटे साधारण कस्बों और ग्रामों में रहते थे। अधिकांश लोग मेहनत-मजदूरी करके अपना पेट पालते थे। कृषि ही उनका मुख्य व्यवसाय था। यातायात तथा पत्र-व्यवहार के साधन वैज्ञानिक ढंग के न होने से परस्पर मेल-मिलाप भी कम होता था। साक्षरता एवं शिक्षा का बड़ा अभाव था। इन कारणों से उनमें राष्ट्र-भावना का विकास नहीं हो सका। यदि आप ३० वर्ष पूर्व की रूस, चीन, ब्रह्मा तथा भारत की स्थिति का अध्ययन करें तो आपको यह स्पष्ट होजायेगा कि भारत में भी पहले राष्ट्र-भावना नहीं थी। परन्तु जब उद्योग-धन्धों का विकास हुआ, नवीन आविष्कारों के कारण नयी-नयी मशीनें, यंत्र तथा औजार तैयार किये गये, तब उद्योगवाद का जन्म हुआ। उद्योगवाद नें पूँजीवाद को विकसित किया। पूँजीवाद ने अपनी रक्षा और वृद्धि के लिए देश में राष्ट्रीय भावना का प्रचार किया और उसका मनमाना उपयोग किया।

आज सभ्य तथा स्वाधीन देशों में शिक्षा तथा समाचारपत्रों द्वारा राष्ट्रीयता का प्रचार किया जा रहा है। स्कूलों और कालेजों में प्रत्येक राष्ट्र ऐसी शिक्षा की योजना काम में ला रहा है जिससे अपनें राष्ट्र की सर्वश्रेष्ठता की छाप छात्रों के हृदय पर पड़े। पूँजीपतियों द्वारा संचालित समाचारपत्र भी राष्ट्रीयता का प्रचार कर रहे हैं।[1]

जो देश पराधीन हैं, उनमें राष्ट्रीयता के उदय के कारण इनसे भिन्न हैं। पराधीन राष्ट्रों में साम्राज्यवादी राष्ट्रों के द्वारा जो आर्थिक

---

१. डब्ल्यू. वी. करी : 'दि केस फ़ॉर फेडरल यूनियन' (१९४०) पृष्ठ ५३।

शोषण किया जाता है तथा उनके आर्थिक जीवन को नष्ट कर दिया जाता है, उसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप अर्थात् अपने आर्थिक सर्वनाश से रक्षा पाने के लिए राष्ट्रीय भावना पैदा होती है। समस्त दलित और पीड़ित जनता में वैदेशिक नियन्त्रण से मुक्ति पाने के लिए एकता का भाव पैदा होता है और वह इस आधार पर आन्दोलन उठाती है कि विदेशी वन्धन से मुक्त होजाने पर समस्त जनता का कल्याण होगा। वस इस प्रकार राष्ट्रीय भावना उत्पन्न होजाती है।

राष्ट्रीयता की भावनाएँ

आज के युग में हम राष्ट्रीयता की तीन भावनाएँ मुख्य रूप में पाते हैं। जनतंत्रीय देशों में पूंजीवादी राष्ट्रीयता अपनी चरम-सीमा को पहुँच चुकी है। अधिनायकतन्त्रवाले राज्यों में फ़ैसिस्ट राष्ट्रीयता हिंसा और युद्ध का प्रचार ही नहीं कर रही है वल्कि यूरोप की सभ्यता और स्वाधीनता के नाश के लिए युद्ध-क्षेत्र में संलग्न है। एक तीसरी राष्ट्रीयता की भावना का उदय स्वाधीनता के साधक भारत में हो रहा है, जिसके प्रवर्त्तक संसार के अद्वितीय शान्तिवादी महात्मा गांधी और पंडित जवाहरलाल नेहरू हैं। इसे हम मानववादी राष्ट्रीयता का नया नाम देंगे।

(१) पूंजीवादी राष्ट्रीयता

फ्रांस की राज्यक्रान्ति के वाद ब्रिटेन, फ्रांस, वेलजियम तथा अन्य देशों में प्रजातन्त्र का उदय हुआ। स्वाधीनता, समता तथा वन्धुता के भावों का जनता में वड़ा प्रचार हुआ। सवसे पहली वार जनता ने एकतन्त्र-शासन से मुक्ति पायी और प्रजा की स्वाधीनता की स्थापना की। इस क्रान्ति के वाद प्रजातन्त्र के नाम पर व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का घोर प्रचार किया गया। इसका परिणाम यह निकला कि प्रसिद्ध अंग्रेज़ राजनीतिज्ञ मिल, स्पेंसर, सिज्विक, ग्रीन और वोज़ांक्वेट ने खुल्लमखुल्ला व्यक्ति-वाद का समर्थन किया।

व्यक्तिवाद का मतलव यह है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति की

उन्नति उसकी आवश्यकता और योग्यता के अनुसार होनी चाहिए। इसलिए भिन्न-भिन्न प्रकार के सब व्यक्तियों के लिए एक-सा क़ानून बनाना ठीक न होगा। सरकार को व्यक्तियों के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। उन्हें स्वतन्त्र रीति से अपनी उन्नति और विकास का अवसर देना चाहिए। इस प्रकार व्यक्तिवाद सरकार के कार्यों को बहुत ही मर्यादित मानता है। ग्रीन ने अपने ग्रन्थ में लिखा है कि सरकार दमन या सुशासन के द्वारा समाज के आत्म-निर्णय के अधिकार में कोई बाधा न डाले। सब लोगों को अपने-अपने रास्ते से चलने देना उचित है।

व्यक्तिवाद का विकास उन्नीसवीं सदी में यहाँतक हुआ कि व्यक्तियों को क़ानून की दृष्टि में समान समझा जाने लगा। प्रत्येक (बालिग़) व्यक्ति को समान मताधिकार प्राप्त हो गया। इस प्रकार राजनीतिक क्षेत्र में समता का सिद्धान्त स्थिर किया गया।

राजनीतिक समता के कारण नागरिकों को अपने देश के शासन में भाग लेने का अधिकार मिला। प्रतिनिधि-संस्थाओं का विकास हुआ। प्रतिनिधि-संस्थाओं की यह विशेषता है कि राज्य का शासन जनता-द्वारा चुने गये प्रतिनिधियों के हाथ में होता है। अतः इस प्रणाली के अन्तर्गत निर्वाचकों का अधिक महत्त्व है। जिस दल का पार्लमेण्ट में बहुमत होता है, उसी दल का नेता मन्त्रिमण्डल बनाता है और इस तरह वह सारे देश का शासन करता है। परन्तु पूँजीवाद के प्रभाव के कारण निर्वाचक स्वतन्त्र रूप से अपने मताधिकार का प्रयोग नहीं करते। चुनाव पूँजी-पतियों के हाथ में होता है। वे जिसे ठीक समझते हैं, उसीको चुनाव में खड़ा करते हैं और उसे कामयाब बनाने के लिए निर्वाचकों को तरह-तरह के प्रलोभन देते हैं। इस प्रकार निर्वाचकों और प्रतिनिधियों का पतन किया जाता है। देश के बड़े-बड़े प्रभावशाली पत्रों के स्वामी भी पूँजीपति ही होते हैं, जिससे समाचारपत्र भी ऐसे ही उम्मीदवारों का समर्थन करते हैं। अतः शोषित समाज के लिए राजनीतिक समता व्यर्थ सिद्ध होती है। वह स्वतन्त्रता से अपने मताधिकार का प्रयोग नहीं कर सकता।

इस तरह, ऐसे चुनावों के फलस्वरूप, पार्लमेण्ट में पूँजीपतियों का बोलवाला होता है और वे अपनी सरकार बनाते हैं । फिर शासन-सत्ता हाथ में आजाने से पूँजीपति स्वच्छन्दता से अपने स्वार्थों की सिद्धि करते हैं । अपने तैयार माल की बिक्री के लिए वे दूसरे देशों में बाजारों की खोज करते हैं, पिछड़े देशों में अपना आधिपत्य जमाते हैं, नये उपनिवेश बसाते हैं, और इन कामों में पूँजीवादी राष्ट्रीय सरकार उनकी पूरी मदद करती है । सरकार की पूरी शक्ति—पुलिस, फ़ौज और बैंक आदि—इन पूँजीपतियों के पीछे रहती है । पूँजीपति अपने वर्गीय स्वार्थों को राष्ट्रीयता का रंग देकर अपनें देशबन्धुओं को धोखा देते हैं । उनके सामनें अपनें स्वार्थों को 'राष्ट्रीय हित' के नाम से पुकारते हैं । ये पूँजीवादी अपने देश में यह आन्दोलन करते हैं कि हमारे देश की जन-संख्या में वृद्धि हो गयी है, देश में स्थान की कमी है । इसलिए हमें और देश चाहिएँ । हमारे देश में बेकारी है, आर्थिक संकट है; इसलिए हमें अपनें उद्योग-धंधों की वृद्धि करनी चाहिए । हमें दूसरे देशों से खतरा है; इसलिए हमें अपने देश में शस्त्रों तथा युद्ध-सामग्री की वृद्धि करनी चाहिए ।

(२) फासिस्ट राष्ट्रीयता

फ़ासिज्म मूलरूप में इटली का राष्ट्रवादी आन्दोलन है, जिसका प्रवर्तन १९१९ में इटली के अधिनायक (डिक्टेटर) बेनितो मुसोलिनी ने किया था । इस आन्दोलन का कार्यक्रम राष्ट्रवादी, प्रभुतावादी, साम्य-वाद-विरोधी और पार्लमेण्ट-विरोधी था । फ़ासिज्म दावा करता है कि न तो वह पूँजीवादी है न समाजवादी । उसकी भावना और संगठन सैनिक ढंग का है ।

इस समय यूरोप में फासिस्ट राष्ट्रीयता का घोर आतंक है । फासिस्ट राष्ट्रों ने यूरोप में उग्र राष्ट्रीयता का विकास इस सीमा तक किया है कि यूरोप के वर्तमान युद्ध में आज सारी यूरोपीय सभ्यता, संस्कृति और स्वा-धीनता नष्ट हुई जा रही है ।

वेनितो मुसोलिनी ने उग्र राष्ट्रीयता का प्रचार आरम्भ से ही किया है। मुसोलिनी नें अपने एक लेख में लिखा है:—

"......फ़ासिज्म जितना अधिक सामयिक राजनीतिक दृष्टिकोण को अलग रखकर, मानवता के भविष्य और उसके विकास पर विचार एवं चिन्तन करता है, उतना अधिक न तो वह स्थायी शान्ति की उपयोगिता में विश्वास करता है और न ऐसा सम्भव ही है। इस प्रकार वह शान्तिवाद के उस सिद्धान्त को अस्वीकार करता है जिसकी उत्पत्ति संघर्ष के परित्याग और आत्मत्याग के सामने कायरता से हुई है।...

"सिर्फ युद्ध ही मानवीय शक्तियों को सबसे अधिक उत्तेजना प्रदान करता है और मानवों के हृदय पर श्रेष्ठता की छाप लगाता है।... अतः जो सिद्धान्त शान्ति की इस हानिप्रद कल्पना पर स्थिर है, वह फ़ासिज्म का विरोधी है।...

"वह (फ़ासिज्म) मानव-समाज को आदिकाल के कबीले के जीवन से ऊँचा उठाकर मानव-शक्ति की सर्वोच्च अभिव्यक्ति की ओर ले जाता है—जिसे साम्राज्य कहते हैं।

"फ़ासिज्म के लिए साम्राज्य का विकास—अर्थात् राष्ट्र का विस्तार—शक्ति का आवश्यक प्रदर्शन है और इसका विपरीत अधःपतन का लक्षण है। जो जातियाँ उठ रही हैं, वे सदैव साम्राज्यवादी ही होती हैं। इसका परित्याग ही पतन और मृत्यु का लक्षण है।"[१]

हिटलर की ओर से भी एक दशाब्दी से जर्मनी में हिंसा, युद्ध और दूसरे राष्ट्रों के प्रति घृणा तथा विद्वेष का प्रचार हो रहा है। उन्होंने भी अपने आत्मचरित 'मेरा संघर्ष' में लिखा है:—

"यथार्थ में शान्तिवादी-मानववादी भावना पूर्णतः अच्छी है, परन्तु इस शर्त पर कि सबसे पहले सर्वोच्च मानव-वर्ग ने संसार को इस सीमा तक जीत लिया हो कि वह संसार का एकमात्र स्वामी बन जाये।......

१. सीन्योर मुसोलिनी : 'द पोलिटिकल एण्ड सोशल डॉक्ट्रीन ऑव फ़ैसिज्म इन इन्साइक्लोपीडिया इटैलियाना' (१९३२)

इसलिए हमें पहले युद्ध करना चाहिए—शान्तिवाद शायद भविष्य में देखा जायगा।"

हिटलर नें जर्मन जनता में सामरिक भावना पैदा करने के लिए ही लिखा है:—

"जर्मनी की सत्ता को पुनः प्राप्त करने के लिए तुम्हें यह न पूछना चाहिए कि 'हम किस तरह शस्त्रास्त्र बनावें ?' बल्कि वह भावना पैदा करनी चाहिए जिससे मनुष्यों में शस्त्र-धारण की क्षमता प्राप्त हो जाये। यदि ऐसी भावना लोगों में पैदा होजाये, तो उनकी इच्छा-शक्ति सहस्रों ढंग से प्रकट होसकेगी, जो उनमें से किसी को भी शस्त्रीकरण की ओर ले जायेगी। यों एक कायर व्यक्ति को १० पिस्तौल दे दिये जायें, तो भी जब उसपर आक्रमण होगा तो वह एक गोली भी न छोड़ सकेगा।"

"ऐसे राष्ट्रीय समाजवादी आन्दोलन को धिक्कार है, जो केवल विरोध पर निर्भर रहता है और युद्ध की तैयारी नहीं करता।"

उपर्युक्त अवतरणों से यह स्पष्ट है कि 'राष्ट्रीय समाजवाद' का आधार सैनिकवाद और हिंसा है। इस फ़ासिस्ट राष्ट्रीयता का जर्मनी में समाचारपत्रों और स्कूलों द्वारा भी प्रचार किया जाता है। जर्मनी में हेर हिटलर नें उग्र राष्ट्रीयता के प्रचार के लिए हर उपाय से काम लिया है। साहित्य, कला, काव्य, संगीत, सिनेमा, रेडियो आदि सबका उपयोग युद्ध और हिंसा के भाव को जगाने के लिए किया गया है।

जर्मनी में प्रचलित गीतों में भी फ्रांस, रूस और यहूदियों के प्रति जर्मनों के हृदय में पाशविक, घृणापूर्ण और प्रतिहिंसा के भावों को काव्यमयी भाषा में जगाने की प्रबल चेष्टा है।

यहूदियों पर जो भयंकर और हृत्कम्पनकारी अत्याचार जर्मनों द्वारा किये गये हैं उनसे द्रवित होकर अहिंसा के पुजारी महात्मा गांधी नें लिखा है:—

"जर्मनों ने यहूदियों पर जो अत्याचार किये हैं, उनकी कहानी इतिहास में बेजोड़ है। प्राचीन काल के अत्याचारी इतने पागल नहीं हो

गये थे जितने कि हिटलर पागल होगये प्रतीत होते हैं। वह ऐसा धार्मिक जोश के साथ कर रहे हैं; क्योंकि वह उग्र राष्ट्रीयता के नवीन धर्म का विकास कर रहे हैं जिसके नाम पर किया गया कोई भी अमानवीय कार्य मानवीय बन सकता है। और जिसके लिए इहलोक और परलोक में पुरस्कार मिलेगा।"

यह है इस उग्र राष्ट्रीयता का स्वरूप। इसका अधिक उल्लेख करने की आवश्यता नहीं कि फ़ासिज्म संसार में स्थायी शान्ति का विरोधी है। वह अन्तर्राष्ट्रीयता में विश्वास नहीं करता। उनका आधार उग्र राष्ट्रवाद, सैनिकवाद और साम्राज्यवाद है। फ़ासिज्म स्वदेश के अभ्युदय के लिए अन्य देशों पर आधिपत्य को मानवता की शक्ति का सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन मानता है। वह युद्ध को प्रोत्साहन देता है; क्योंकि साम्राज्य-विस्तार युद्ध के बिना सम्भव नहीं है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि वर्तमान् युद्ध यूरोप में बढ़ती हुई पूँजीवादी और फ़ासिस्ट राष्ट्रीयता का ही भयंकर परिणाम है।

(३) मानववादी राष्ट्रीयता

महात्मा गांधी की राष्ट्रीयता अहिंसा और विश्व-प्रेम पर स्थिर है। वह सबसे पहले मानव हैं और अन्त में भी मानव हैं। उनके हृदय में मानव-मात्र के लिए प्रेम है, आदर है और संकुचित जातीयता को वह घृणा की दृष्टि से देखते हैं। अहिंसा के अनन्य पुजारी होने के कारण वह किसी भी राष्ट्र की जनता को किसी प्रकार की हानि पहुँचाने की भावना को अपने सिद्धान्त के विरुद्ध मानते हैं। वह वास्तव में एक आदर्श मानव-वादी हैं।

गांधीजी स्वदेश के नागरिकों में एकता चाहते हैं—समन्वय चाहते हैं—संघर्ष नहीं। भारत में उनका लक्ष्य यह है कि उसके आन्तरिक मतभेदों और विवादों को मिटाकर जनता को स्वराज्य के लिए संगठित किया जाये, स्त्रियों को उठाकर पुरुषों के समान राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक धरातल पर बिठाया जाये; राष्ट्र को विभक्त करनेवाले धार्मिक

घृणा-द्वेषों का अन्त कर दिया जाये, और हिन्दू धर्म को अस्पृश्यता के सामाजिक कलंक से मुक्त कर दिया जाये।[१] गांधीजी की यह धारणा है कि "**यदि मेरा पुनर्जन्म हो, तो मैं अछूत होकर जन्मना चाहूंगा, ताकि मैं उनके दुःख-दर्द और अपमान में भाग ले सकूं और अपने-आपको तथा उनको उस दयनीय दशा से छुड़ाने का यत्न कर सकूं।**"[२]

उनकी दृष्टि में हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई आदि में कोई भेद नहीं है। वह यद्यपि हिन्दू-धर्म का पालन करते हैं और हिन्दू होने का उन्हें गर्व है, तथापि संसार के अन्य धर्मों के प्रति उनके हृदय में अगाध श्रद्धा है। इसका कारण यह है कि गांधीजी धर्मों की एकता में विश्वास करते हैं। उनका विचार है कि संसार के सब धर्मों में तात्त्विक एकता है—उनके मूल सिद्धान्त एक-से हैं। गांधीजी नागरिक समानता को भारत में स्थापित करना चाहते हैं। उन्होंने अपने एक लेख म लिखा है—

"**जब युद्ध के बादल बिखर जायेंगे और भारत अपनी स्वाधीनता का अधिकार पा लेगा, तब मुझे शक नहीं कि कांग्रेसी लोग किसी मुसलमान, सिक्ख, ईसाई या पारसी को अपने प्रधान-मंत्री के तौर पर वैसे ही सहर्ष स्वीकार करेंगे जैसे कि एक हिन्दू को। इतना ही नहीं, वह कांग्रेसी न भी हो, तो भी वैसे ही और किसी प्रकार के धर्म या वर्ण के भेद बिना उसे अधिकार देंगे।**"[३]

महात्मा गांधी प्रजातंत्र के प्रबल समर्थक हैं। वह राष्ट्र के विविध वर्गों, हितों और समुदायों में सहयोग और एकता चाहते हैं। वह किसी एक वर्ग का शासन नहीं चाहते। बहुमत के निर्णय में उनका विश्वास है। फ़ासिज्म और नाज़ीवाद की उन्होंने सदैव निंदा की है और उन्हें सभ्यता एवं संस्कृति का शत्रु कहा है।

---

१. गांधी-अभिनन्दन-ग्रन्थ : सम्पादक—श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन (१९३९) पृ० १०

२-३. 'हरिजन-सेवक' (पूना) : 'मेरा अन्याय' (गांधीजी) २८ सितम्बर १९४०

वह मानव-सेवा के सबसे महान् समर्थक हैं। सार्वजनिक जीवन में शुद्धि तथा सदाचार पर वह जोर देते हैं। उनमें मातृभूमि के लिए बड़े-से-बड़ा त्याग और वलिदान करने की शक्ति है। परन्तु उनकी देशभक्ति उग्र एवं दूसरे राष्ट्र के लिए विघातिनी नहीं है। वह अपनी जन्म-भूमि के प्रति अनुराग रखते हुए भी मानवता-प्रेमी हैं; विश्व-शान्ति के समर्थक हैं।[१]

गांधीजी का विश्वास है कि भारत की प्राचीन संस्कृति से संसार के विकास में सहायता मिल सकती है। नीचे गिरा हुआ भारत मानव-जाति को आशा का सन्देश नहीं दे सकता। जाग्रत स्वतंत्र भारत ही पीड़ित संसार की सहायता कर सकता है। गांधीजी कहते हैं कि यदि अंग्रेज लोग न्याय, शान्ति और व्यवस्था की अपनी भावना में सच्चे हों, तो आक्रान्ता शक्तियों को दवा देना और वर्तमान परिस्थिति को ही क़ायम रखना उचित नहीं है। हमारे माने हुए आदर्शों के विपरीत जो परिस्थिति हो उसे सुधारनें से इन्कार करना भी हिंसा है। न्याय और स्वतंत्रता के हमारे प्रेम में इस निष्क्रिय हिंसा से वचने का वल होना चाहिए। यदि साम्राज्यों का निर्माण मनुष्य की तृष्णा, क्रूरता और घृणा नें किया है, तो संसार को न्याय तथा स्वतंत्रता की शक्यिों का साथ देने के लिए कहने से पहले हमें उनको बदलना होगा। हिंसा या तो सक्रिय होगी या निष्क्रिय। आक्रान्ता शक्तियाँ इस समय सक्रिय हिंसा कर रही हैं; वे साम्राज्यवादी शक्तियाँ भी हिंसा की उतनी ही अपराधिनी और स्वातंत्र्य

---

१. My patriotism is both exclusive and inclusive. It is exclusive in the sense that in all humility I confine my attention to the land of my birth; but it is inclusive in the sense that my service is not of a compatitive or antagonistic nature.

—'महात्मा गांधीज स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स' (चतुर्थ संस्करण): जी० ए० नटेशन कं०, मद्रास

तथा प्रजातंत्र की विरोधिनी हैं, जो भूत-काल की हिंसा द्वारा प्राप्त अन्यायपूर्ण कामों का उपयोग करने में आज भी संलग्न हैं। जबतक हम इस मामले में ईमानदारी से काम न लेंगे, तबतक हम सबसे अच्छी विश्व-व्यवस्था स्थापित नहीं कर सकेंगे, और संसार में युद्ध तथा युद्धों का भय जारी रहकर, अनिश्चय की व्यवस्था स्थायी होजायेगी। भारत को स्वतंत्र कर देना ब्रिटिश ईमानदारी की अग्नि-परीक्षा है।[1]

मार्च १९३९ के विश्व-संकटकाल में 'न्यूयार्क टाइम्स' के एक संवाद-दाता ने गांधीजी से संसार के लिए सन्देश मांगा, तब उन्होंने कहा कि सब प्रजातंत्रों को एकदम निःशस्त्र होजाना चाहिए। उन्होंने बतलाया कि इसी एकमात्र हल से युद्धों का अन्त किया जा सकता है। उन्होंने कहा—"मुझे यहां बैठे-बैठे ही निश्चय है कि इससे हिटलर की आंखें खुल जायेंगी और वह आप निःशस्त्र होजायेंगे।"

संवाददाता ने पूछा—क्या यह चमत्कार नहीं है?

गांधीजी ने जवाब दिया—शायद। परन्तु इससे संसार की उस रक्तपात से रक्षा होजायेगी जो अब सामने दीख रहा है।...कठोरतम धातु काफ़ी आंच से नरम होजाती है; इसी प्रकार कठोरतम हृदय भी अहिंसा की पर्याप्त आंच लगने से पिघल जाना चाहिए और अहिंसा कितनी आंच पैदा कर सकती है उसकी कोई सीमा नहीं...अपने आधी शताब्दी के अनुभव में मेरे सामने एक भी ऐसी परिस्थिति नहीं आयी जब मुझे यह कहना पड़ा हो कि मैं असहाय हूँ और मेरी अहिंसा निरुपाय होगयी।[2]

गांधीजी का अहिंसा की शक्ति में कितना गहरा विश्वास है, यह उनके उपर्युक्त कथन से साफ प्रकट होजाता है। यह सन्देश उन्होंने वर्त्तमान यूरोपीय युद्ध के प्रारम्भ होने से पहले दिया था जबकि संसार

---

१. सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन : 'गांधी-अभिनन्दन ग्रंथ' (१९४१) पृष्ठ १५

२. वही : पृ० २४

के राष्ट्रों का शस्त्रीकरण बेहद बढ़ चुका था और युद्ध के बादल आकाश में मँडरा रहे थे।

वर्तमान यूरोपीय युद्ध शुरू होने पर भारत में उसको स्वाधीन राष्ट्र घोषित करने की राष्ट्रीय माँग कांग्रेस की ओर से ब्रिटिश सरकार के सामने रखी गयी। आज दो वर्ष से अधिक समय बीत गया, परन्तु ब्रिटिश सरकार ने राष्ट्रीय माँग को स्वीकार नहीं किया। एक ओर तो ब्रिटिश सरकार की यह वृत्ति है, दूसरी ओर महात्मा गांधी भारत की स्वाधीनता के लिए युद्ध-काल में कोई ऐसा उग्र कार्य करना अहिंसा के सिद्धान्त के विरुद्ध समझते हैं जिससे अंग्रेज जाति संकट में पड़ जाये। गांधीजी बराबर सत्याग्रह के प्रश्न को इसी दृष्टि से टालते रहे थे। उनका कहना है कि अंग्रेजों की संकट-पूर्ण स्थिति से लाभ उठाकर हमें स्वाधीनता प्राप्त करना शोभा नहीं देता। ऐसा करना भारतीय आर्य-मर्यादा के विरुद्ध है।

गांधीजी को वर्तमान युद्ध से इतनी दारुण व्यथा पहुँची कि उन्होंने घोर युद्ध-काल में, जबकि ब्रिटेन के लिए जीवन-मरण का सवाल था—अंग्रेजों से यह अपील की थी :—

"राष्ट्रों के परस्पर के संबंध और दूसरे मामलों का निर्णय करने के लिए युद्ध का मार्ग छोड़कर अहिंसा का मार्ग स्वीकार करें। ··· मैं आपसे यह कहता हूँ कि इस युद्ध के समाप्त होने पर विजय चाहे जिस पक्ष की हो, प्रजातंत्र का कहीं नामोनिशान भी नहीं मिलेगा। यह युद्ध मनुष्य जाति पर एक अभिशाप और चेतावनी के रूप में उतरा है। यह युद्ध शापरूप है, क्योंकि आज तक कभी मानव मानवता को इस क़दर नहीं भूला था, जितना कि वह इस युद्ध के असर के नीचे भूल रहा है।"[1]

यद्यपि महात्मा गांधी भारतीय स्वाधीनता-आन्दोलन के संचालक और कांग्रेस के प्रधान नेता हैं और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के कट्टर

---

१. हरेक अंग्रेज के प्रति (महात्मा गांधी) : : 'हरिजन-सेवक' : १३ जुलाई १९४०

विरोधी हैं, तो भी वह एक आदर्श मानववादी हैं। आज भी गांधीजी ब्रिटेन के प्रति मैत्री का निर्वाह कर रहे हैं—"मैं दावा करता हूँ कि मैं ब्रिटेन का आजीवन और निस्वार्थ मित्र रहा हूँ। एक वक्त ऐसा था कि मैं आपके साम्राज्य पर भी आशिक था। मैं समझता था कि आपका राज्य भारत को फ़ायदा पहुँचा रहा है। मगर जब मैंने देखा कि वस्तु-स्थिति तो दूसरी ही है, इस रास्ते से भारत की भलाई नहीं हो सकती, तब मैंने अहिंसक तरीके से साम्राज्यवाद का सामना करना शुरू किया और आज भी कर रहा हूँ। मेरे देश के भाग्य में आखिर कुछ भी लिखा हो, आप लोगों के प्रति मेरा प्रेम वैसा ही कायम है और रहेगा। मेरी अहिंसा सारे जगत के प्रति प्रेम माँगती है और आप उस जगत के कोई छोटे हिस्से नहीं हैं। आप लोगों के प्रति मेरे उस प्रेम ने ही मुझसे यह निवेदन लिखवाया है।"[२]

यह है गांधीजी की मानववादी राष्ट्रीयता। वह भारत के लिए स्वाधीनता चाहते हैं, परन्तु वह यह स्वाधीनता किसी दुर्बल राष्ट्र का शोषण करने या साम्राज्य की स्थापना करने के लिए नहीं चाहते।

यूरोप में युद्ध आरम्भ होने के बाद भारतीय राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) की कार्य-समिति ने १४ सितम्बर १९३९ को भारतीय माँग के सम्बन्ध में अपना जो ऐतिहासिक वक्तव्य प्रकाशित किया, उसमें यह स्वीकार किया गया है कि संसार में युद्ध का कारण फ़ासिज्म और साम्राज्यवाद है। ऐलान किया गया था कि ब्रिटेन यूरोप में स्वाधीनता व प्रजातन्त्र की रक्षा के लिए लड़ रहा है; परन्तु क्या ये स्वाधीनता एवं प्रजातंत्र के सिद्धान्त यूरोप तक ही सीमित रहेंगे अथवा भारत में भी लागू किये जायेंगे? बस इसी प्रश्न के स्पष्टीकरण के लिए यह वक्तव्य प्रकाशित किया गया था। वक्तव्य में स्पष्ट शब्दों में कहा गया था—

"यदि इस युद्ध का उद्देश्य साम्राज्यवादी प्रदेशों, उपनिवेशों और

---

२. हरेक अंग्रेज के प्रति (महात्मा गांधी) : : 'हरिजन-सेवक' : १३ जुलाई १९४०

स्थापित स्वार्थों की वस्तुस्थिति को क़ायम रखना है, तो भारत को ऐसे युद्ध से कोई सरोकार नहीं है। अगर सवाल प्रजातन्त्र और प्रजातन्त्र के आधार पर स्थित समाज की व्यवस्था का है, तो भारत की उसमें बड़ी दिलचस्पी है।'''यदि ब्रिटेन प्रजातन्त्र की रक्षा और विस्तार के लिए युद्ध में लड़ रहा है, तो उसे अपने अधिकृत देशों में से साम्राज्यवाद का अन्त कर देना चाहिए और भारत में पूर्ण प्रजातन्त्र की स्थापना करनी चाहिए। अतएव भारत की जनता को बिना बाहरी हस्तक्षेप के अपनी निर्वाचित विधान-निर्मात्री परिषद् से अपना शासन-विधान बनाने का अधिकार मिलना चाहिए और स्वयं ही अपनी नीति का संचालन करना चाहिए।

"स्वतन्त्र प्रजातन्त्रवादी भारत दूसरे स्वतन्त्र राष्ट्रों के साथ आक्रमण के विरुद्ध पारस्परिक रक्षा तथा आर्थिक सहकारिता के लिए खुशी से सहयोग करेगा। हम एक सच्ची विश्व-व्यवस्था की स्थापना के लिए काम करेंगे जिसका आधार स्वाधीनता और प्रजातन्त्र होगा और संसार के ज्ञान-विज्ञान और साधनों को मानवता के विकास और प्रगति में उपयोग किया जायेगा।"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारत अन्तर्राष्ट्रीय संघटन के विरुद्ध नहीं है। वह उसमें पूर्ण सहयोग देने के लिए प्रस्तुत है। परन्तु ऐसा करना उसी समय सफल हो सकता है जब पहले वह साम्राज्यवाद के बन्धन से मुक्ति पा ले।

भारतीय राष्ट्रीयता और पण्डित जवाहरलाल नेहरू

पंडित जवाहरलाल नेहरू ने भारतीय राष्ट्रीयता को अन्तर्राष्ट्रीय रंग में रँगकर वास्तव में राष्ट्र की एक महान् सेवा की है। आज भारत में नेहरूजी से बढ़कर कोई अन्तर्राष्ट्रीयता का समर्थक नहीं है। भारतीय राष्ट्रीयता को उग्र और संकुचित हो जाने से बचाने में नेहरूजी ने जो योग दिया है, वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

पंडित जवाहरलाल नेहरू की विचारधारा पूर्णतः समाजवादी है, परन्तु उनपर महात्मा गांधी के सिद्धान्तों और विशेषरूप से उनके

अहिंसा-सिद्धान्त का गहरा प्रभाव पड़ा है। महात्माजी की अहिंसा में उनका पूरा विश्वास है। वह साम्राज्यवाद के कट्टर विरोधी हैं और फ़ासिज्म को साम्राज्यवाद का ही भयंकर रूप मानते हैं। उनकी यह धारणा है कि भारत का कल्याण समाजवादी व्यवस्था से होगा। वह शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीयता के सबसे बड़े समर्थकों में से हैं। उन्होंने स्वयम् अपने संबन्ध में लिखा है—

"फ़ासिज्म और साम्यवाद इन दोनों में से मेरी सहानुभूति बिल्कुल साम्यवाद की ओर है। इस पुस्तक के इन्हीं पृष्ठों से यह मालूम हो जायेगा कि मैं साम्यवादी होने से बहुत दूर हूँ। मेरे संस्कार शायद एक हद्दतक अब भी उन्नीसवीं सदी के हैं और मानववाद की उदार परंपरा का मुझपर इतना ज्यादा प्रभाव पड़ा है कि मैं उससे बिल्कुल बचकर निकल नहीं सकता।"[१]

अन्तर्राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—

"मैं नहीं जानता कि हिन्दुस्तान जब राजनीतिक दृष्टि से आजाद हो जायेगा, तो किस तरह का होगा और वह क्या करेगा? लेकिन मैं इतना जरूर जानता हूँ कि उसके लोग जो आज राष्ट्रीय स्वाधीनता के समर्थक हैं, व्यापक से व्यापक अन्तर्राष्ट्रीयता के भी समर्थक हैं। एक समाजवादी के लिए राष्ट्रीयता का कोई अर्थ नहीं हैं, लेकिन बहुतेरे कांग्रेसी, जो समाजवादी नहीं हैं, लेकिन आगे बढ़े हुए हैं, वे सच्ची अन्तर्राष्ट्रीयता के पुजारी हैं। स्वाधीनता हम इसलिए नहीं चाहते कि हमें सबसे अलग होकर रहने की इच्छा है। इसके विपरीत हम तो इस बात के लिए बिल्कुल राजी हैं कि दूसरे देशों के साथ-साथ अपनी स्वाधीनता का भी कुछ अंश छोड़ दें कि जिससे सच्ची अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था क़ायम हो सके। कोई भी साम्राज्य-प्रणाली, चाहे उसका नाम कितना ही बड़ा रख दिया जाये, ऐसी व्यवस्था की शत्रु है और ऐसी प्रणाली के द्वारा विश्वव्यापी सहयोग या शान्ति कभी स्थापित नहीं हो सकती।"[२]

---

१. 'मेरी कहानी' (१९४१): पण्डित जवाहरलाल नेहरू; पृ० ९३६
२. उपर्युक्त; पृष्ठ ६६२

पं० जवाहरलाल नेहरू संसार में सच्ची और स्थायी शान्ति चाहते हैं। उनकी यह ध्रुवधारणा है कि साम्राज्यवादी राष्ट्रों द्वारा शान्ति-व्यवस्था स्थापित नहीं की जा सकती। शान्ति-व्यवस्था के लिए सबसे पहले साम्राज्यवाद का अन्त कर देना जरूरी है। इसके बाद अन्तर्राष्ट्रीय संघटन के लिए प्रत्येक स्वाधीन राज्य को अपनी प्रभुता का कुछ अंश छोड़ना पड़ेगा। जबतक संसार में राष्ट्रीय राज्य क़ायम रहेंगे तबतक कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय संघटन सफल नहीं हो सकता। नेहरूजी इसे भली भाँति अनुभव करते हैं।

भावी समाज की रूपरेखा खींचते हुए नेहरूजी लिखते हैं—

"हमारा अन्तिम ध्येय तो यह हो सकता है कि समान न्याय और समान सुविधापूर्ण एक वर्ग-रहित समाज हो, ऐसा समाज जिसका निर्माण मानव-समाज को भौतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से ऊँचा उठाने और उसमें सहयोग, निःस्वार्थ सेवाभाव, सत्य-निष्ठा, सद्भाव और प्रेम के आध्यात्मिक गुणों की वृद्धि करने के सुनिश्चित आधार पर हुआ हो, और अन्त में एक ऐसी संसार-व्यापी व्यवस्था हो जाये।"[1]

यह है भारतीय राष्ट्रीयता का समुज्ज्वल स्वरूप और उसके उच्च मानवीय आदर्श जिनपर वास्तव में सच्ची अन्तर्राष्ट्रीयता की आधार-शिला रखी जा सकती है।

---

१ 'मेरी कहानी' : पं० जवाहरलाल नेहरू; पृ० ८७७

: ८ :

नागरिक-स्वाधीनता

संसार के सब विद्वानों का यह मत है कि नागरिक-जीवन का विकास और उत्कर्ष केवल स्वतन्त्र वातावरण में ही हो सकता है। नागरिक-स्वाधीनता मानव का जन्मसिद्ध अधिकार है। स्वाधीनता के विना मानव न तो अपना आत्म-विकास कर सकता है, और न दूसरों की भलाई ही। राज्य सुसंगठित नागरिकों की एक संस्था ही है। उसका विकास नागरिकों के हित ही के लिए है। नागरिकों से रहित राज्य की कल्पना संभव नहीं। राज्य की उत्पत्ति इसी कारण हुई कि सब नागरिक निर्वाध रूप से स्वाधीनता का लाभ उठा सकें, क्योंकि अराजक दशा में मनुष्य न्याय का आश्रय न लेकर शक्ति के वल पर शासन करने लगते हैं।

राज्य मानवों के हित के लिए है। अतः राज्य की ओर से प्रत्येक व्यक्ति अथवा नागरिक की सुख-सुविधा के लिए समान रूप से सम्यक् व्यवस्था होनी चाहिए। नागरिक-स्वाधीनता के उपभोग के लिए राज्य ने नागरिकों को विशिष्ट और निर्धारित अधिकारों की व्यवस्था की है। प्रोफ़ेसर हैराल्ड लास्की के अनुसार **'नागरिक-स्वाधीनता ऐसे अधिकार हैं जो सामाजिक जीवन की उन अवस्थाओं की रक्षा के लिए जरूरी हैं जिनके अभाव में सामान्यतया कोई भी मानव अपना आत्म-विकास नहीं कर सकता।'** सुप्रसिद्ध समाज-विज्ञानवेत्ता श्री हॉब्हाउस के मतानुसार **'सच्चा अधिकार उसके अधिकारी के वास्तविक मंगल का एक तत्व है, स्थिति है जो सामंजस्य के सिद्धान्त के आधार पर सार्वजनिक मंगल का ही एक प्रमुख अंश है।'**[१]

इटली के महापुरुष और वीर देशभक्त मेज़िनी नागरिक-स्वाधीनता को कर्त्तव्य-पालन के लिए अत्यन्त आवश्यक मानते थे। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा है—

---

१ हॉब्हाउस : ऐलीमैण्ट्स ऑव सोशल जस्टिस; पृ० ४१

"स्वाधीनता के विना आप अपने किसी भी कर्त्तव्य को पूरा नहीं कर सकते। इसलिए आपको स्वाधीनता का अधिकार है और आपका यह कर्त्तव्य है कि जो कोई सत्ता स्वाधीनता का निषेध करती हो, उससे उसे किसी भी उपाय से प्राप्त कर लो।"

राज्य और विशेषत: प्रजातंत्र-राज्य का लक्ष्य है नागरिकों के जीवन-विकास तथा उत्कर्ष के लिए सामान सुयोग एवं सुविधाएँ प्रदान करना। राज्य नागरिकों के प्रति इस महान् कर्त्तव्य का पालन उसी दशा में कर सकता है जब कि उसे नागरिकों की स्थिति, अभाव एवं आवश्यकताओं का पूर्ण और सच्चा ज्ञान हो। राज्य को नागरिक-जीवन की अवस्थाओं का पूर्ण और सच्चा ज्ञान तभी हो सकता है जब कि नागरिकों को अपनी आकांक्षाओं के अभिव्यक्त करने की पूर्ण स्वतंत्रता हो। जबतक सब नागरिकों को किसी प्रकार के भेद-भाव के विना अपने मनोभाव एवं विचार व्यक्त करने का अधिकार नहीं होता, तबतक राज्य उनकी आकांक्षाओं का सच्चा ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। इस प्रकार सामाजिक जीवन में स्वाधीनता का मूल्य सुस्पष्ट है। उदाहरणार्थ, किसी राज्य में किसानों को बड़ा कष्ट है, उनसे वेगार ली जाती है, जमींदार अधिक लगान वसूल करते हैं, चाहे जब मनमाने ढंग से उन्हें जमीन से वेदखल कर दिया जाता है और उनकी मवेशी को चारा नहीं मिलता क्योंकि चरागाहों पर भी जमींदार खेती कराते हैं। अब यदि राज्य-शासन की ओर से कृषि-सुधार के लिए कोई योजना या क़ानून बनाया जाये और उसके सम्बन्ध में किसानों को अपने विचार प्रकट करने का अधिकार न दिया जाये, सिर्फ़ जमींदारों की सम्मति से ही योजना या क़ानून बना लिया जाये, तो इसका परिणाम यह होगा कि ऐसे नियम या योजना से किसान-समाज का हित नहीं होगा। इसी प्रकार धारा-सभा में यदि कोई महिलोपयोगी क़ानून बनने जा रहा है, और उसपर पहले से राष्ट्र की महिलाओं के लोकमत को जानने का प्रयत्न नहीं किया जाता, तो ऐसे क़ानून के बन जाने से महिलाओं का क्या हित-साधन होगा? सच तो यह है कि जिस व्यक्ति को कोई अभाव या आवश्यकता

है, वही भलीभाँति अपनी आवश्यकता प्रकट कर सकता है।

अधिकार और कर्त्तव्य

नागरिकता एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक अधिकार है। वह किसी व्यक्ति-विशेष या व्यक्ति-समूह की वैयक्तिक सम्पत्ति नहीं है। नागरिक समाज का एक अंग है और उसे जो नागरिक-अधिकार प्राप्त हैं, वे केवल इसलिए कि वह उनका प्रयोग इस ढंग से करे कि जिससे अपना हित-साधन करते हुए वह समाज के अन्य सदस्यों को हानि न पहुँचा सके। यदि किसी मनुष्य के नागरिक अधिकारों के प्रयोग से दूसरे को हानि पहुँची तो उससे समाज का कल्याण नहीं हो सकता और जिस लोक-संग्रह की दृष्टि से राज्य ने नागरिक स्वाधीनता प्रदान की है, उसका अभिप्राय भी सिद्ध नहीं होता।

इससे यह सिद्ध होता है कि समाज में अधिकारों के साथ-साथ कर्त्तव्यों का भी उतना ही मूल्य है। यदि किसी व्यक्ति को कोई अधिकार राज्य ने दिया है, तो दूसरे व्यक्तियों के लिए वही अधिकार कर्त्तव्य बन जाता है। उदाहरणार्थ, एक नागरिक अपने भाषण-स्वाधीनता के अधिकार का प्रयोग करता है, तो ऐसी दशा में दूसरे नागरिकों का यह कर्त्तव्य है कि वह उसकी इस स्वाधीनता में बाधा न डालें जबतक कि उसका भाषण क़ानून-विरुद्ध अथवा मानहानिकर न हो।

वास्तव में नागरिकों की पारस्परिक सहयोग की भावना और कर्त्तव्य-परायणता ने ही नागरिक-अधिकारों को जन्म दिया है। यदि नागरिक सहयोगपूर्वक नागरिक-स्वाधीनता की रक्षा व उसका उपभोग न करें और उन अधिकारों द्वारा जो कर्त्तव्य निर्धारित हुए हैं, उनका तत्परता से पालन न करें, तो हम समाज में अधिकारों की कल्पना नहीं कर सकते।

डॉ० बेनीप्रसाद का यह मत उचित है कि अगर उपयुक्त जीवन-निर्वाह की अवस्थाओं को सबके लिए सुरक्षित रखना है, तो प्रत्येक व्यक्ति को उनके उपयोग की आशा करनी चाहिए और साथ-ही-साथ हरएक

आदमी को इस प्रकार काम करना उचित है कि दूसरे लोगों के उपभोग में किसी प्रकार की बाधा न पड़े। यही नहीं प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि ऐसी परिस्थितियों को सबके लिए सुलभ करने में निश्चित रूप से प्रोत्साहन दे। एक व्यक्ति के सम्बन्ध में जो अधिकार है, वह दूसरों के लिए कर्त्तव्य है। इस प्रकार अधिकार और कर्त्तव्य एक दूसरे के आश्रित हैं। वे एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। अगर कोई उनको अपने दृष्टिकोण से देखता है तो वे अधिकार हैं और अगर दूसरों के दृष्टिकोण से देखता है तो वे कर्त्तव्य हैं। दोनों सामाजिक हैं और दोनों असल में उपयुक्त प्रकार के जीवन की अवस्थाएँ हैं, जिन्हें समाज के सभी व्यक्तियों के लिए सुलभ बनाना चाहिए।[1]

नागरिक समानता

इंग्लैण्ड के सुविख्यात राजनीतिशास्त्री श्री हेरल्ड लास्की ने लिखा है :—

"जिस राज्य में नागरिक स्वाधीनता को अपने निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर अग्रसर होना है वहाँ समानता होना भी जरूरी है।···राज्य में नागरिकों में जितनी अधिक समानता होगी सामान्यतया उतना ही अधिक वे अपनी स्वाधीनता का उपभोग कर सकेंगे।"[2]

नागरिक-स्वाधीनता और समानता एक ही वस्तु नहीं हैं। दोनों में अन्तर है। यदि राज्य में कुछ निश्चित समानताएँ प्राप्त न हों तो यह संभव नहीं कि हम नागरिक-स्वाधीनता का उपभोग कर सकें।

समानता और असमानता के संबंध में यह स्पष्ट रूप से जान लेना आवश्यक है कि विश्व में प्राकृतिक समानता का कहीं भी अस्तित्व नहीं है। प्रत्येक वस्तु में रचना, आकृति और रंग-रूप के कारण भिन्नता होना स्वाभाविक है। एक पिता की दो सन्तानों में भी आकृति, रूप-रंग,

---

१. डॉ० बेनीप्रसाद : 'नागरिक-शास्त्र'; पृ० ४१

२. लास्की : 'लिबर्टी इन द मॉडर्न स्टेट' (१९३०); पृ० १६-१७

आचार-विचार और स्वभाव की समानताएँ नहीं होती। अतः जब समाज या राज्य समानता की आवश्यकता पर ज़ोर देता है तब उसका तात्पर्य इस प्राकृतिक समानता से नहीं होता।

संसार में दो प्रकार की असमानताएँ दिखायी देती हैं। एक प्रकार की असमानताएँ वे हैं जो प्राकृतिक योग्यता की विभिन्नताओं से उत्पन्न होती हैं और दूसरे प्रकार की वे हैं जो समाज या राज्य द्वारा प्रदत्त सुविधाओं की असमानताओं द्वारा पैदा हुई हैं।

अतः नागरिक-समानता का यह अभिप्राय नहीं कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति को आर्थिक रूप से समान बना दिया जाये या शिक्षा की दृष्टि से सब नागरिकों को समान बना दिया जाये। प्रत्युत नागरिक-समानता का अर्थ तो यह है कि आत्म-विकास के लिए समाज या राज्य द्वारा जो सुयोग एवं सुविधाएँ प्राप्त हैं, उनके उपभोग का प्रत्येक नागरिक को समान अधिकार होना चाहिए। स्पष्ट शब्दों में इसका मतलब यह है कि समाज या राज्य की ओर से ऐसी विभिन्नताओं एवं भेदभाव की व्यवस्था नहीं होनी चाहिए कि जिसके कारण व्यक्ति आत्म-शक्तियों का सम्यक् विकास न कर सकें। इसका फलितार्थ यह है कि राज्य में किसी वर्ग-विशेष के लिए 'विशेषाधिकार' या 'विशेष रियायतें' नहीं होनी चाहिएँ। विशेषाधिकार तो समाज में विषमता को जन्म देते हैं।

यदि राज्य की ओर से ऐसा क़ानून हो कि उत्तरदायित्वपूर्ण उच्च सरकारी पदों पर केवल जमींदार या पूँजीपति वर्ग के उम्मीदवारों को ही नियुक्त किया जायेगा, वैश्यों, ब्राह्मणों अथवा दलित-वर्ग के व्यक्तियों को सेना में भरती नहीं किया जायेगा, या ब्राह्मणों तथा कायस्थ जातियों के व्यक्तियों को उच्च शिक्षा की अधिक सुविधाएँ दी जायेंगी तो, ऐसी व्यवस्था का दुष्परिणाम यह होगा कि शासन-संचालन के कार्य से जनता का एक बहुत बड़ा भाग वंचित रह जायेगा। ब्राह्मण, वैश्य तथा दलित-वर्ग के सेनाओं में भरती न होने से उनमें वे गुण पैदा न हो सकेंगे जो सैनिक-जाति में होते हैं। फलतः एक विशेष सैनिक जाति बन जायगी और धीरे-धीरे देश की अन्य जातियाँ उसके अयोग्य हो जायेंगी। यदि केवल ब्राह्मणों या

कायस्थों के लिए ही शिक्षा की अधिक सुविधा रही, तो समाज के दूसरे वर्ग शिक्षा में पिछड़े रह जायेंगे। इसी प्रकार किसी वर्ग-विशेष को शासनाधिकार अथवा शिक्षा की सुविधाओं से जातपाँत, धर्म या रँग आदि के कारण वंचित रखना भी उसके साथ घोर सामाजिक अन्याय होगा।

अतः समाज में कुछ वर्गों के लिए 'विशेपाधिकार' और कुछ वर्गों के लिए 'प्रतिबन्ध' दोनों ही विपमता को जन्म देनेवाले हैं। इनसे नागरिक जीवन में सामंजस्य, सहयोग और शान्ति की जगह संघर्ष, स्पर्द्धा और अशान्ति के भाव पैदा होंगे। प्रोफेसर हैराल्ड लास्की का यह कथन सत्य ही है कि "प्रत्येक व्यक्ति को यथासम्भव समान सुयोग देना चाहिए जिससे वह उन शक्तियों का उपयोग कर सके जिन्हें उसने प्राप्त किया है।"

भारत का शासन-विधान और मौलिक अधिकार

भारत के शासन-विधान में नागरिकता के मौलिक अधिकारों का कहीं उल्लेख नहीं है। आज के युग में प्रत्येक प्रजातन्त्र-राज्य के विधान में नागरिकता के मौलिक अधिकारों की घोपणा को सबसे पहले महत्त्व का स्थान प्राप्त है। ऐसी दशा में भारत के शासन-विधान में यह अभाव, वास्तव में, नागरिक-स्वाधीनता के लिए एक खतरा है। यद्यपि नागरिकों के मौलिक अधिकार प्रत्येक राज्य के स्वरूप पर निर्भर हैं, परन्तु यह तो स्पप्ट है कि प्रत्येक राज्य में नागरिकों को अधिकार होने चाहिएँ। जो राप्ट्र प्रजातन्त्रवादी हैं, उनमें उन राष्ट्रों की अपेक्षा अधिक नागरिक अधिकार होते हैं जो फ़ासिस्ट हैं। समाजवादी राज्यों में व्यक्तियों को और भी अधिक अधिकार होते हैं।

पं० जवाहरलाल नेहरू का मत है कि

"भविष्य में भारत का सामाजिक संगठन चाहे जैसा हो, व्यक्ति की स्वाधीनता की रक्षा के लिए कुछ ऐसे मौलिक अधिकार हैं, जिन्हें हम विधान में स्थान देना चाहते हैं। ये अधिकार इस प्रकार के हैं— धार्मिक स्वाधीनता, मत-प्रकाशन की स्वाधीनता, सभा-संगठन की

स्वाधीनता, संस्कृति और भाषा की रक्षा, क़ानून की दृष्टि में सभी नागरिकों की समानता और इसी प्रकार शासनाधिकार में, व्यवसाय-व्यापार में धर्म, जाति या 'सेक्स' के भेदभाव के बिना समानता और इसी प्रकार के अधिकार।"

"हमारी यह धारणा है कि देश में समस्त अल्प-संख्यक जातियों के आश्वासन के लिए भारतीय शासन-विधान में इन मौलिक अधिकारों के सम्बन्ध में एक गारंटी होनी चाहिए।

"इसके लिए कांग्रेस का कराची-प्रस्ताव और पाश्चात्य शासन-विधानों की नागरिक-स्वाधीनता-सम्बन्धी धाराएँ नमूने के तौर पर ली जा सकती हैं।"[१]

वर्तमान शासन-विधान की धारा २९८ में नागरिकों का यह अधिकार तो स्वीकार किया गया है कि सरकारी पदों पर नियुक्ति के सम्वन्व में या किसी सम्पत्ति के प्राप्त करने या वेचनें अथवा व्यवसाय-व्यापार करने में केवल धर्म, जाति, जन्म-स्थान, रंग या इनमें से किसी के कारण कोई भी नागरिक अयोग्य न माना जायेगा।

विधान की धारा २७५ में यह उल्लेख किया गया है कि कोई भी व्यक्ति लिंग-भेद के कारण ब्रिटिश भारत में किसी 'सिविल सर्विस' या 'सिविल पोस्ट' पर नियुक्त होनें के अधिकार से वंचित न किया जायेगा। परन्तु गवर्नर जनरल, गवर्नर और भारत-मन्त्री अपने विशेष आर्डर द्वारा स्त्रियों को सरकारी पदों पर नियुक्त होनें के अधिकार से वंचित कर सकेंगे।

शासन-विधान की २९८ वीं धारा के होते हुए भी भारत में ऐसे अनेक वर्ग हैं, जिन्हें जातिभेद के कारण, शासनाधिकार में व्यावहारिक समानता प्राप्त नहीं है। 'दलितवर्ग' जो हिन्दू-समाज का ही अंग है, आज भी उच्च सरकारी पदों पर नियुक्त नहीं किया जाता। यही नहीं इस वर्ग के सदस्यों को व्यापार-व्यवसाय में भी समानता प्राप्त नहीं

---

१ प्रो० के० टी० शाह : 'फेडरल स्ट्रक्चर' (१९३७), पृ० ५१६

है। इस वर्ग के लोग बाजारों में कोई ऐसी दूकान नहीं खोल सकते जिसमें खाने-पीने की चीजें बिकती हों।

भारत में पदाधिकार के सम्बन्ध में लिंग-भेद की व्यवस्था शुरू से क़ायम है। आज भी विधान की २७५ वीं धारा के होते हुए महिलाओं को इंडियन सिविल सर्विस, प्रान्तीय सिविल सर्विस आदि की प्रतियोगिताओं में बैठने की आज्ञा नहीं है। सेना में तो उनके लिए क़ानूनी प्रतिबन्ध है। यह वास्तव में विधान का एक बड़ा दोष है।

आर्थिक समानता

यदि राज्य में नागरिकों को आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त है और आर्थिक समानता नहीं है, तो इसका परिणाम यह होगा कि समाज में आर्थिक विषमता पैदा हो जायेगी और ऐसे वातावरण में सच्ची आर्थिक स्वाधीनता का उपभोग भी नहीं किया जा सकेगा।

जबतक आर्थिक समता की स्थापना नहीं हो जाती, तबतक राजनीतिक समता—नागरिकों का समान मताधिकार—व्यर्थ है। उससे वे आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त नहीं कर सकते। आधुनिक राज्य का केवल इतना यही कार्य नहीं है कि वह चोर और डाकुओं से नागरिकों के जीवन और सम्पत्ति की और इस प्रकार नागरिक-स्वाधीनता की रक्षा करे, उनके लिए प्रजातन्त्र-शासन-पद्धति तथा अन्य नाना प्रकार के नागरिक सुखों के लिए सुविधाएँ प्रदान करे। आज के युग में इन सबसे नागरिक-जीवन का उत्कर्ष सम्भव नहीं। यह आर्थिक युग है। इसलिए राज्य को ऐसी आर्थिक व्यवस्था भी स्थापित करनी चाहिए जिसमें सभी नागरिक पूरी तरह सुखी रह सकें और अपने जीवन को ऊँचा बना सकें। यदि राज्य में भयंकर बेकारी होगी, बेहद गरीबी होगी, कुछ मुट्ठी भर लोग लखपति और करोड़पति, मिलों और कम्पनियों के मालिक तथा भूमि के स्वामी होंगे और शेष विशाल जन-समुदाय को नागरिक जीवन की समस्त सुविधाएँ तो दूर भरपेट अन्न भी दोनों वक्त न मिलेगा, तो क्या यह आशा की जा सकती

है कि अधभूखे और अर्द्धनग्न जन आर्थिक स्वाधीनता भोग सकेंगे ?

आज संसार के सभी प्रजातन्त्रों में अधिकांश नागरिक आर्थिक दृष्टि से दुखी हैं। वहाँ भयंकर बेकारी गरीबी बढ़ती जा रही है। इसका प्रमुख कारण यह है कि इन पाश्चात्य प्रजातंत्रों ने आज तक आर्थिक न्याय या आर्थिक समता की स्थापना के लिए ईमानदारी से कोई प्रयत्न नहीं किया। संसार में सोवियट रूस ही एक ऐसा राष्ट्र है जिसने अपने शासन-विधान के मौलिक अधिकारों की घोषणा में यह स्वीकार किया है कि **"सोवियट रूस के नागरिकों को परिश्रम करने का अधिकार है अर्थात् उन्हें काम के परिमाण तथा उसकी किस्म के अनुसार अपने परिश्रम के लिए नियत वेतन पर पारिश्रमिक का अधिकार है।"**

सोवियट रूस में राज्य की ओर से प्रत्येक नागरिक को अपनी योग्यतानुसार काम माँगने का अधिकार है और उसके लिए नियत वेतन भी।

आर्थिक समता की स्थापना के लिए समाज को आर्थिक ढाँचा नये ढंग से खड़ा करना होगा। इसमें मौलिक परिवर्तन की ज़रूरत है। समस्त व्यवसायों, कम्पनियों, कारखानों, रेलों, बैंकों आदि पर राज्य का नियंत्रण या अधिकार होना चाहिए। श्री श्रीनिवास अयंगार ने लिखा है:—

"संसार की आर्थिक व्यवस्था में सबसे अधिक संकट ज्वाइंट स्टाक कम्पनियों ने पैदा किया है, इसलिए इनका पूर्णतः परित्याग किया जाये, साझेदारी भी मर्यादित कर दी जाये, उसके साझेदारों की संख्या कम कर दी जाये तथा उसका क्षेत्र भी सीमित कर दिया जाये। बैंक, बीमा, जहाज़ तथा यातायात आदि राज्य के अधिकार में हों। नहर आदि का निर्माण बडे पैमानें पर राज्य की ओर से किया जाये। शस्त्रादि बनानेवाली कम्पनियों का नियंत्रण भी राज्य के अधिकार में हो। इस प्रकार राज्य की ओर से राष्ट्रीय व्यवसाय-धन्धों को इतना प्रोत्साहन दिया जाये कि जिससे बेकारी व ग़रीबी दूर हो जाये और वेतन तथा पारिश्रमिक का मान-दण्ड बढ़ जाये। संक्षेप में, एक नियोजित

आर्थिक योजना, जो जनता की समस्त श्रेणियों की मौलिक मानवीय आवश्यकताओं को पूरा कर सके, आज भारत में प्रजातंत्र की सफलता के लिए सबसे पहली शर्त है; क्योंकि वह (प्रजातंत्र) उसी सीमा तक स्थायी होगा जिस सीमा तक वह जनता को यह गारण्टी दे सके कि जनता की आर्थिक उन्नति उसका प्रमुख लक्ष्य है।"[1]

वैयक्तिक स्वाधीनता

वैयक्तिक स्वाधीनता का अर्थ है व्यक्ति की स्वाधीनता। प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र है इसलिए उसका कर्त्तव्य है कि वह दूसरे व्यक्ति की स्वतंत्रता की भी रक्षा करे। आत्म-रक्षा का नियम भी व्यक्ति की स्वतंत्रता का ही एक फलितार्थ है। समाज या राज्य के निर्माण में नागरिकों का योगदान होता है, इसलिए नागरिकों की वैयक्तिक स्वाधीनता सामाजिक जीवन के विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यदि किसी व्यक्ति को यह विश्वास न हो सके कि वह राज्य में वैयक्तिक स्वाधीनता का उपभोग कर सकता है, तो वास्तव में उसका जीवन दूभर हो जायगा।

मनुष्य का जीवन वैयक्तिक दृष्टि से ही मूल्यवान् नहीं है, बल्कि समाज और राज्य के दृष्टिकोण से भी वह बहुमूल्य है। यही कारण है कि राज्य मानव-जीवन की रक्षा को अपना पवित्र कर्त्तव्य समझता है। मानव-जीवन की रक्षा के लिए सेना और पुलिस का राज्य की ओर से प्रबन्ध ज़रूर होता है। परन्तु पुलिस के लिए हर समय और हर स्थान में प्रत्येक व्यक्ति के जीवन की रक्षा करना सम्भव नहीं है। इसलिए राज्य ने प्रत्येक व्यक्ति को आत्म-रक्षा का अधिकार दे रखा है। यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति की हत्या करने के प्रयोजन से उसपर सांघातिक आक्रमण करे, तो वह अपनी रक्षा के लिए प्रत्येक सम्भाव्य साधन को काम में ला सकता है। यहाँ तक कि यदि वह आक्रमणकारी के

---

१. श्री श्रीनिवास अयंगार : 'प्रॉब्लेम्स ऑफ डेमोक्रेसी इन इण्डिया' (१९३९); पृ० ६९

जीवन का अन्त भी कर दे तो राज्य उसे इसके लिए दण्ड नहीं देगा। प्रत्येक देश में आत्म-रक्षा के लिए नागरिकों को अस्त्र-शस्त्र धारण करने का भी अधिकार है।

साथ ही चूँकि राज्य का यह परम कर्त्तव्य है कि वह समस्त नागरिकों और व्यक्तियों के जीवन की रक्षा करे, इसलिए यदि कोई व्यक्ति आत्मघात द्वारा अपने जीवन का अन्त करने का प्रयत्न करे, तो राज्य उसे इसके लिए दण्ड देगा।

शरीर-स्वाधीनता

शरीर-स्वाधीनता का अभिप्राय यह है कि वह राज्य में अपने गृह में स्वतंत्रता से रह सके। उसकी स्वीकृति, इच्छा या आज्ञा के बिना कोई व्यक्ति उसके गृह में प्रवेश न कर सके और जबतक कि राज्य के क़ानून के अनुसार मजिस्ट्रेट ने उसकी गिरफ्तारी के लिए वारण्ट न जारी किया हो अथवा पुलिस को यह सन्देह न हो कि उसने राज्य के क़ानून के विरुद्ध ऐसा अपराध किया है जिससे वह बिना वारण्ट के भी गिरफ्तार किया जा सके तबतक राज्य भी उसे गिरफ्तार न कर सके। जबतक कोई भी नागरिक क़ानून के अनुसार न्यायालय में दोषी प्रमाणित न हो-जाये और यह निस्सन्देह सिद्ध न हो जाये कि उसने वह अपराध ऐसे समय किया था जबकि वह क़ानूनन अपराध था, तबतक केवल सन्देह के आधार पर कोई भी व्यक्ति अनिश्चित काल के लिए नज़रबन्द नहीं किया जा सकता और न हवालात में २४ घंटे से ज्यादा रखा जा सकता है। जबतक वह दोषी प्रमाणित न हो जाये, तबतक उसे कोई शारीरिक दण्ड नहीं दिया जा सकता।

भारतवर्ष में नागरिकों को शरीर-स्वाधीनता पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं है। यहाँ आज भी ऐसे दमनकारी क़ानून मौजूद हैं जिनके अस्तित्व में उन्हें शरीर-स्वाधीनता नहीं है। मद्रास, बम्बई तथा कलकत्ता में आज से एक शताब्दी से भी अधिक पुराने 'रेग्यूलेशन' (१८१८) आज भी प्रचलित हैं, जिनके अनुसार किसी भी व्यक्ति को बिना किसी न्यायालय

में दोषी प्रमाणित किये वर्षों तक राजबन्दी बनाकर रखा जा सकता है। सन् १९३१ के सत्याग्रह-आन्दोलन में महात्मा गांधी को बम्बई रेग्यूलेशन (१८१८) के अनुसार राजबन्दी बनाकर पूना-जेल में रखा गया। जनवरी सन् १९३२ में श्री सुभाषचन्द्र बसु को इसी रेग्यूलेशन के अनुसार राजबन्दी बनाकर रखा गया था।

भारत के हर एक प्रान्त में क्रिमिनल लॉ एमेण्डमेंट एक्ट जारी है। इसके अनुसार किसी भी व्यक्ति को संदेह में गिरफ्तार करके राजबंदी बनाया जा सकता है। पंजाब और बंगाल प्रान्त में राष्ट्रीय जागरण को दबाने के लिए घोर-से-घोर दमनकारी क़ानून आज भी प्रचलित हैं। वर्तमान् युद्ध के कारण तो यह दमन अपनी चरम-सीमा को पार कर चुका है। सन् १९३७ में बंगाल के आतंककारी-दमन-क़ानून के अनुसार वहाँ १६ हज़ार व्यक्ति नज़रबन्द थे। बाद में महात्मा गांधी के प्रयत्न से कुछ नज़रबंद रिहा कर दिये गये।

नागरिकता का मौलिक सिद्धान्त यह है कि जबतक कोई व्यक्ति दोषी सिद्ध न हो जाये तबतक उसे दण्ड नहीं दिया जा सकता। केवल सन्देह में किसी को बन्दी बनाकर रखना तो क़ानून की दृष्टि में भी अन्याय है। ऐसा करने का अर्थ तो यह हुआ कि जिन लोगों के हाथ में कार्यकारिणी सत्ता है, वे ही न्यायाधीश बन गये।

विचार-स्वाधीनता

विचार-स्वाधीनता नागरिक-जीवन के विकास और उत्कर्ष के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण है। जिस राज्य के नागरिक विचार-स्वाधीनता (अर्थात् मत-प्रकाशन की स्वाधीनता) का बेरोक-टोक उपभोग करते हैं, उसमें साहित्य, कला, ज्ञान-विज्ञान की आश्चर्यजनक प्रगति और प्रसार होता है। विचार किया जाये तो वास्तव में विचार ही मनोभाव प्रकट करने का अमोघ साधन है। जिन देशों में विचार-स्वाधीनता नहीं उन देशों में न विचार-मौलिकता को प्रोत्साहन मिलता है और न विचार-क्रान्ति के लिए उपयुक्त क्षेत्र ही मिलता है। जिस प्रकार तालाब का रुका हुआ जल सड़

जाता है, उसमें रोग के जीवाणु पैदा हो जाते हैं और जल की स्वास्थ्यप्रद शक्तियाँ नष्ट हो जाती हैं; उसी प्रकार जिस राज्य में विचार तथा उसके प्रकाशन की स्वाधीनता नहीं है, उसके नागरिकों का मानसिक विकास भी पूर्ण रूप से नहीं हो सकता। विचार-स्वाधीनता का उपभोग करनेवाले नागरिकों का विचार-प्रवाह उसी प्रकार विमल और पवित्र होता है जिस प्रकार नदी का जल।

कुछ लोगो का विचार यह है कि विचार स्वाधीनता पर इसलिए प्रतिबंध लगाना ज़रूरी है कि ग़लत और भ्रान्तिपूर्ण विचार जनता में न फैलने पावें। परन्तु विचारों में तो भिन्नता उसी समय पैदा होती है जब किसी प्रश्न पर सन्देह हो। ऐसी दशा में यह आवश्यक है कि प्रश्न के दोनों पहलुओं पर विचार कर लिया जाये।

ब्रिटेन के प्रसिद्ध शिक्षा-विज्ञ श्री डवल्यू. वी. करी का मत है कि **"मत-संघर्ष से ही ज्ञान और विद्वत्ता का जन्म होता है और मनुष्य अपने विचारों को भी उस समय तक भलीभाँति कभी नहीं समझ सकता जबतक कि उसने अपने विरोधी के विचारों को भली भाँति न समझ लिया हो। यह कहा जा सकता है कि विचार तो स्वतंत्र ही होता है, केवल भाषण पर ही प्रतिबंध लगाया जा सकता है। सैद्धान्तिक रूप से नज़रबन्दी की दशा में एक व्यक्ति चाहे जैसा विचार कर सकता है, परन्तु उसका विचार उसी समय फलप्रद हो सकता है, उसी समय वह अधिक विचार कर सकता है, जब उसे अपने विचारों पर बहस करने और उन्हें प्रकाशित करने का अधिकार हो और उसके विचारों में इतनी शक्ति हो कि वे कार्य्यान्वित भी हो सकें।"**[1]

विचारों की प्रगति और उसके साथ अन्य सभी प्रकार की उन्नति नये-नये विचारों के ही आधार पर निर्भर है। विचारों के विकास के लिए उनपर बहस और आलोचना के लिए पूरी स्वतंत्रता मिलनी चाहिए।

प्रोफेसर लास्की का यह कथन वास्तव में सच ही है कि—

---

१. डवल्यू बी. करी : 'द केस फॉर फेडरल यूनियन' (१९४०); पृ. ९२

"अधिकांश व्यक्ति जिन्हें निजी अनुभव के आधार पर विचार-मंथन करने को सुविधा नहीं मिलती, विचार करना ही बंद कर देते हैं। जो व्यक्ति विचार करना बन्द कर देते हैं, वे सच्चे अर्थ में नागरिक नहीं रहते।[2]

अतः यह निर्विवाद है कि व्यक्तित्व के विकास, समाज के उत्कर्ष और राज्य की समृद्धि के लिए विचार और मत-प्रकाशन की स्वाधीनता अत्यन्त आवश्यक है।

मनुष्य अपने विचार मुख्यतः दो रूपों में प्रकट करता है—भाषण और लेखन। भाषण-स्वाधीनता का सभा-संगठन की स्वाधीनता से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनके अतिरिक्त मनुष्य अपने विचार समाचार-पत्र, पुस्तक, चित्र, संगीत, संकेत, कार्टून (व्यंग्यचित्र), रेडियो, चित्रपट आदि द्वारा व्यक्त करता है।

राज्य में प्रत्येक नागरिक को भाषण और लेखन की पूर्ण स्वाधीनता होनी चाहिए। प्रत्येक नागरिक को सार्वजनिक प्रश्नों पर अपने विचार प्रकट करने एवं आलोचना करने का अधिकार होना चाहिए। किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में भी उसे अपने विचार व्यक्त करने का अधिकार है। परन्तु इस सम्बन्ध में इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि उसके सम्बन्ध में केवल ऐसे विचार ही व्यक्त किये जायें जो सार्वजनिक महत्त्व के हों। किसी नागरिक या व्यक्ति के वैयक्तिक जीवन को सर्व-साधारण के सामने केवल सामाजिक हित की दृष्टि से ही प्रकट करना उचित है। यदि उससे समाज का हित नहीं होता तो ऐसा मत-प्रकाशन व्यर्थ है।

नागरिक के मत-प्रकाशन के अधिकार पर राज्य की ओर से कुछ प्रतिबन्ध भी लगाये जाते हैं। उन्हें ऐसे विचार प्रकट करने का अधिकार नहीं है, जो ईश्वर या किसी धर्म के अनुयायियों की धर्म-भावना पर आघात करें, अश्लील हों, अपमान-जनक हों, राजद्रोहात्मक हों अथवा हिंसा, अशान्ति या उपद्रव को उत्तेजन दें।

नागरिकों को धर्म के सम्बन्ध में स्वाधीनता है। वे दूसरे धर्म के

---

२. हे. जे. लास्की : 'लिबर्टी इन द मॉडर्न स्टेट' (१९३०); पृ. ९९

सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट कर सकते हैं; परन्तु उन्हें किसी के धर्म को चोट पहुँचाने का अधिकार नहीं है। इसका तात्पर्य्य यह नहीं है कि कोई धर्म-सुधारक धर्म के नाम पर प्रचलित अंध-परम्परा एवं अंधविश्वासों को दूर करने का प्रयत्न न करे। यदि स्वतन्त्र रीति से धर्म पर विचार-विनिमय न किया जाये या प्रचलित अंध-विश्वासों को मिटाने का उपाय न किया जाये, तो इसका भी परिणाम अत्यन्त भयंकर होगा। जनता में धर्म के नाम पर अनाचार, अन्याय और भ्रष्टाचार होने लगेगा।

अश्लील भाषण या लेख भी समाज के लिए हानिप्रद हैं। इनसे जनता का नैतिक पतन ही नहीं होता, बल्कि स्वास्थ्य पर भी घातक प्रभाव पड़ता है। अश्लील से तात्पर्य यह है कि कोई विचार या भाव अथवा लेख ऐसा हो जिससे श्रोता या पाठक के मन पर बुरा असर पड़े—विकार उत्पन्न हो जाये। यदि विचार मानव के मन में विमल और विशुद्ध भावों को जाग्रत नहीं कर सकते, तो उनसे समाज के उत्कर्ष में क्या सहायता मिल सकती है? हाँ, प्रत्येक देश और समाज का नीति-शास्त्र भिन्न होता है—जो काम किसी देश में अश्लीलता की कोटि में माना जाता है, वही कार्य दूसरे देश में श्लीलता में गिना जाता है : उदाहरणार्थ, भारत में काम-विज्ञान जनता में अश्लील माना जाता है, इस विषय की सार्वजनिक चर्चा असभ्यता या अशिष्टता मानी जाती है पर भारत में अब एक ऐसा वर्ग पैदा होता जा रहा है जो काम-विज्ञान की शिक्षा को आवश्यक समझता है। तो भी यह वर्ग अत्यन्त अल्पमत में है और नवीन संस्कृति के उपासक जनों तक ही सीमित है। यूरोप और अमरीका के देशों में तो काम-विज्ञान एक लोकप्रिय विषय है। वस्तुतः दाम्पत्य-विज्ञान मानव-जीवन को सुखी बनाने के लिए परम आवश्यक है। इसके वैज्ञानिक विवेचन में विवाह, काम, प्रेम, सुहागरात, सन्तति-निरोध, तलाक़ आदि की समस्याएँ आ जाती हैं। परन्तु इनका विवेचन ऐसे ढंग से होना चाहिए कि उससे सुरुचिप्रिय व्यक्ति के हृदय में ग्लानि का भाव पैदा न हो।

विचार-स्वाधीनता या मत-प्रकाशन की स्वाधीनता पर एक प्रतिबन्ध और भी है—किसी व्यक्ति के लिए कोई अपमानजनक वचन न कहा जाये और न लिखा जाये। जबतक अपमानजनक भाषण या लेख सत्य न हो और उसकी कोई सार्वजनिक उपयोगिता न हो, तबतक उसका प्रकाशन अनुचित है। यदि कोई व्यक्ति दुराचारी, भ्रष्टाचारी और पतित है और उसका सार्वजनिक जीवन में प्रमुख स्थान है, तो उसके भ्रष्टाचार को, यदि वह सत्य है तो, जनता के सामने प्रकट करना सार्वजनिक हित में होगा। इसलिए ऐसा मत-प्रकाशन अपमानजनक नहीं कहा जा सकता।

विचार-स्वाधीनता और मत-प्रकाशन पर एक बड़ा प्रतिबंध यह है कि भाषण या लेख राजद्रोहात्मक न हो। सामाजिक संगठन अथवा शासन-पद्धति के सम्बंध में प्रत्येक नागरिक को अपना मत प्रकट करने का अधिकार है। भारत में सरकार के किसी कार्य की आलोचना तथा नीति की निंदा भी राजद्रोह माना जाता है। यहां राजद्रोह सबसे बड़ा राजनीतिक अपराध है। भारतीय-दण्ड-विधान की धारा १२४ अ का प्रयोग सदैव भारतीय राष्ट्रीय जागरण का दमन करने के लिए किया जाता रहा है। जुलाई सन् १९३७ में जब भारत के सात प्रान्तों—मद्रास, बम्बई, संयुक्तप्रान्त विहार, उड़ीसा, मध्यप्रान्त, सीमा प्रान्त और आसाम में कांग्रेस-दल के मंत्रि-मण्डलों की स्थापना हुई, तो जनता नें सबसे पहले अंग्रेजी राज्य में नागरिक-स्वाधीनता का अनुभव किया। किसी भी व्यक्ति पर राजद्रोह का अपराध लगाना बन्द कर दिया गया। बम्बई-सरकार के तत्कालीन गृह-मंत्री श्री कन्हैयालाल मुन्शी ने बम्बई-असेम्बली में अपने (१५ सितम्बर १९३७ के) एक भाषण में कहा था—

"कांग्रेस व्यक्ति की स्वाधीनता का समर्थन करती है, क्योंकि उसका अहिंसा और प्रजातंत्र में अटल विश्वास है। हमारे लिए स्वाधीनता केवल भौतिक लाभ की चीज नहीं है। इसे हम इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की तुला में नहीं तोल सकते। स्वाधीनता हमारे लिए एक अपने ढंग का चमत्कार है। ईश्वर और क़ानून के राज्य में बोलना, काम

९८५

करना और साँस लेना एक पवित्र विशेषाधिकार है। उसके लाभों का विचार किये बिना ही उसमें हमारा विश्वास है। अन्तिम समय तक प्रत्येक कांग्रेसवादी जिसकी प्रजातंत्र में श्रद्धा है, स्वाधीनता का समर्थन करेगा।

"नागरिक-स्वाधीनता प्रजातंत्र की वास्तविक आधार-शिला है। प्रजातंत्र का मतलव है एक ऐसा धर्म जिसका समाज शनैः-शनैः विचार-विनिमय और आग्रह द्वारा विकास कर सकता है—एक दूसरे का सिर तोड़कर नहीं। किन्तु नागरिक-स्वाधीनता के लिए अहिंसक वातावरण आवश्यक है जिसमें नागरिक वैयक्तिक हिंसा, दबाव या सामूहिक हिंसा या दबाव से निर्भय रहते हुए परस्पर विचार-विनिमय कर सके। नागरिक-स्वाधीनता की यह एक मौलिक मर्यादा है। हिंसापूर्ण और उत्तेजित वातावरण में आप नागरिक-स्वाधीनता का उपभोग नहीं कर सकते।"

हम इसका उल्लेख कर चुके हैं कि प्रजातंत्र में प्रत्येक नागरिक को शासनाधिकार प्राप्त होता है। प्रजातंत्र का अर्थ ही है जनता के द्वारा निर्वाचित-प्रतिनिधियों की सरकार। ऐसी दशा में यह स्वाभाविक है कि जनता को शासन पर अपना प्रभाव डालने का अधिकार हो। शासन की नीति एवं कार्यों की स्वतंत्र रूप से आलोचना करना जनता का और एक मूल्यवान् अधिकार है। इससे एक बड़ा लाभ यह है कि शासन को जनता के मनोभाव व विचार विदित होते रहते हैं और उसे अपनी नीति और कार्यों में उचित संशोधन या परिवर्तन करने में सुगमता होती रहती है।

गृह-विद्रोह या युद्ध-काल में नागरिक-स्वाधीनता

यदि राज्य में विद्रोह पैदा हो जाये अथवा राज्य किसी दूसरे राज्य के विरुद्ध युद्ध में शामिल हो, तो ऐसे असाधारण अवसरों पर भी नागरिक-स्वाधीनता की रक्षा करना अत्यन्त आवश्यक है। जो व्यक्ति राज्य-विद्रोह में भाग लें, उन्हें देश के सामान्य क़ानून के अनुसार दण्ड देना चाहिए। यह आवश्यक नहीं है कि किसी भाग में विद्रोह या

आतंकवाद शुरू होजाने पर समूचे प्रान्त को नज़रबन्द-शिविर बना किया जाय या फ़ौजी क़ानून (मार्शल लॉ) जारी कर दिया जाये। भारत में सन् १९१९ में अमृतसर, लाहौर, कसूर, गुजरांवाला, और शेखूपुरा में फ़ौजी क़ानून जारी किया गया। इस प्रकार नागरिक-स्वाधीनता का बुरी तरह दमन किया गया। सन् १९३० में शोलापुर और पेशावर में फ़ौजी क़ानून का शासन रहा।

वर्तमान् युद्ध के प्रारम्भ होने के बाद तुरन्त ही भारत के गवर्नर-जनरल नें भारत-रक्षा-क़ानून जारी कर दिया। इस क़ानून का क्षेत्र इतना व्यापक है कि आज सारे देश की स्वाधीनता का दमन इसीके द्वारा हो रहा है जबकि भारत-रक्षा-क़ानून का लक्ष्य है ब्रिटिश भारत की रक्षा, सार्वजनिक व्यवस्था की रक्षा, कुशलतापूर्वक युद्ध-संचालन, अथवा समाज के जीवन के लिए आवश्यक चीज़ों और सेवाओं की व्यवस्था।

सरकारें ऐसा क्यों किया करती हैं ? इसका उत्तर देते हुए प्रोफेसर लास्की ने लिखा है—

"……जब न्याय-व्यवस्था का कार्य सामान्य न्यायालयों से लेकर शासन के किसी दूसरे अंग को सौंप दिया जाता है, तो उसका सदैव दुरुपयोग होता है। व्यक्ति की समुचित रक्षा के प्रश्न को इस विश्वास पर विस्मृत कर दिया जाता है कि आतंक के शासन से जनता की अश्रद्धा (Disaffection) कम हो जायेगी। इसका कोई प्रमाण नहीं कि ऐसा हो जाता है। यदि ऐसा हो सकता, तो रूसी क्रान्ति ही न होती और आज भारतीय स्वायत्त-शासन के लिए कोई आन्दोलन न हुआ होता।"[1]

भारत में समाचार-पत्रों की स्वाधीनता पर भी कुठाराघात हो रहा है। नये-नये आर्डर जारी किये जा रहे हैं। इन सबके ऊपर सेंसर का एकछत्र राज्य है। सभाओं और सम्मेलनों पर प्रतिबंध लगा दिये गये हैं। पुलिस के अधिकारियों से पूर्व आज्ञा प्राप्त किये बिना कोई सभा नहीं की जा सकती, चाहे उस सभा का युद्ध से कोई सम्बन्ध ही न हो।

---

१. हेरल्ड लास्की : 'लिबर्टी इन द मॉडर्न स्टेट'

जुलूसों पर भी इसी प्रकार के प्रतिबंध हैं। भारत-रक्षा-कानून के अन्तर्गत नियम ५८ के अनुसार स्वयं-सेवकों, सेवा-दलों तथा वालंटियर-दलों को प्रदर्शन करने तथा परेड करने से रोक दिया गया है। प्रेस तथा समाचार-पत्र ज़ब्त किये जा रहे हैं। समस्त भारत में हज़ारों पुस्तकों और समाचार-पत्रों की ज़ब्ती हो चुकी है। राष्ट्रीय एवं समाजवादी साहित्य जिसका वर्तमान युद्ध के संचालन से तनिक भी सम्बन्ध नहीं, ज़ब्त किया जा रहा है। इस प्रकार भारत की नागरिक-स्वाधीनता इस समय अत्यन्त संकट में है।

युद्ध-काल में नागरिक-स्वाधीनता पर सिर्फ इतना प्रतिबंध होना चाहिए कि जिससे नागरिक-शत्रु को कोई सहायता न दे सके या कोई ऐसा कार्य न करे जिससे युद्ध-संचालन में बाधा पड़े। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि नागरिकों को मत-प्रकाशन की भी स्वाधीनता न दी जाये। युद्ध-काल में शान्ति-काल की अपेक्षा नागरिकों को मत-प्रकाशन की अधिक स्वाधीनता मिलनी चाहिए, क्योंकि युद्ध में नागरिक देश-रक्षा के लिए न केवल धन और सम्पत्ति से ही सहायता देते हैं वरन् अपने प्राणों का भी होम करते हैं। इसलिए नागरिकों का सहयोग प्राप्त करने के लिए ही उन्हें अपनें विचार स्वतंत्रता से प्रकट करने का अधिकार मिलना आवश्यक है।

समाचार-पत्रों की स्वाधीनता

समाचार-पत्रों की स्वाधीनता का अभिप्राय यह है कि समाचार-पत्र बिना किसी पूर्व-आज्ञा के समाचारों को वास्तविक रूप में प्रकाशित करें तथा घटनाओं पर अपने विचार स्वतन्त्र रीति से प्रकट करें। वास्तव में प्रजातंत्र में समाचार-पत्रों का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे केवल जनता को देश-विदेश की स्थिति से परिचित ही नहीं कराते बल्कि किसी भी सार्वजनिक प्रश्न पर लोकमत तैयार करनें में बड़ा प्रभाव डालते हैं।

समाचार-पत्र केवल लोकमत को प्रकट करनें का साधन ही नहीं हैं,

प्रत्युत वह लोकमत बनाने का भी उतना ही शक्तिशाली साधन है। वास्तव में प्रजातंत्र की सफलता के लिए प्रगतिशील लोकमत की आवश्यकता है। उसके अभाव में उसका जीवन सफल नहीं हो सकता। शान्ति-काल में समाचार-पत्र स्वराष्ट्र की सरकारी नीति तथा कार्यों की आलोचना करते हैं जिससे जनता को सरकारी कार्यों का यथावत् ज्ञान हो सके। वे किसी भी सार्वजनिक प्रश्न को सरकार तक पहुँचाने के साधन हैं। परन्तु युद्ध-काल में तो समाचार-पत्रों का उत्तरदायित्व और भी महान् एवं गंभीर हो जाता है। युद्ध के कारण देश में जो भय और आतंक एवं ग़लतफ़हमियाँ तरह-तरह की अफ़वाहों के कारण पैदा हो जाती हैं, उनके दूर करने में समाचार-पत्र बड़ी सहायता करते हैं। युद्ध-संचालन तथा देश-रक्षा के प्रयत्नों के सम्बन्ध में प्रचार के लिए समाचार-पत्र से बढ़ कर कोई साधन नहीं है।

भारतवर्ष में सरकार समाचार-पत्रों की स्वाधीनता का सदैव दमन करती रही है। इसका कारण यह है कि भारत के अधिकांश लोकप्रिय और प्रभावशाली अंग्रेज़ी तथा प्रान्तीय भाषाओं के पत्र राष्ट्रीय हैं अथवा राष्ट्रीय दृष्टिकोण से सहानुभूति रखते हैं। उन्हें भारत में अंग्रेज़ी सरकार की नीति की आलोचना करनी पड़ती है इसलिए उनके सिर पर भी हर समय 'प्रेस एक्ट' सवार रहता है।

सन् १९३१ में इंडियन प्रेस (इमर्जेंसी पॉवर्स) एक्ट आतंकवाद का नाश करने के लिए बनाया गया। वह उसी समय की विशेष परिस्थिति के कारण बनाया गया था। परन्तु वह आज तक मौजूद है। अब समाचार-पत्रों को इसी क़ानून के अनुसार राजद्रोह, जातीय या वर्गीय द्रोह, फ़ौजी-भर्ती-विरोध तथा सैनिकों को उत्तेजना देने आदि के लिए दण्ड दिया जाता है। इस कानून के अनुसार समाचार-पत्रों से जमानतें माँगी जाती हैं। जब कोई नया समाचार-पत्र शुरू किया जाता है तो उसके प्रकाशन से पहले ही जमानत माँग ली जाती है। ये जमानतें नक़द होती हैं और ५०० रुपये से लेकर १० या १५ हज़ार तक की होती हैं। जमानतें देने के बाद यदि समाचार-पत्र सरकारी नीति के विरुद्ध

कुछ लिखें तो जमानतें जब्त कर ली जाती हैं। क़ानून-विज्ञान के अनुसार न्याय तो यह है कि सम्पादक, प्रकाशक या मुद्रक को पहले न्यायालय में अपराधी प्रमाणित कर दिया जाये, तब उसे दण्ड दिया जाये। परन्तु आज अंग्रेजी राज में उसका अपराध प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं समझी जाती और उसे पहले से ही दण्ड दे दिया जाता है!

भारतवर्ष में, जबसे युद्ध आरम्भ हुआ है तबसे तो भारत-रक्षा क़ानून के अन्तर्गत नियम ३८ व ४१ का प्रयोग समाचार-पत्रों की स्वाधीनता का नाश करने के लिए खुल्लम-खुल्ला किया जा रहा है।

कुछ महीने हुए भारत रक्षा-क़ानून के नियम ४१ के अन्तर्गत २५ अक्टूबर १९४० को सरकार ने निम्न लिखित आशय की आज्ञा प्रत्येक सम्पादक के पास भेजी :—

"भारत-रक्षा क़ानून के नियमों की संख्या ४१ (१-ब) द्वारा प्रदत्त अधिकार से केन्द्रीय सरकार ने भारत में किसी भी मुद्रक, प्रकाशक या संपादक द्वारा ब्रिटिश भारत में किसी भी ऐसे विषय का प्रकाशन निषिद्ध कर दिया है जो युद्ध-संचालन के प्रति विरोध उत्पन्न करेगा, चाहे ऐसा प्रत्यक्ष रूप से किया गया हो या परोक्ष रूप में, या ऐसे विषय के प्रकाशन या मुद्रण को निषिद्ध किया गया है जो इस प्रकार युद्ध-विरोध के लिए की गयी किसी सभा के भाषण से सम्बन्धित हो।"

इससे बड़ी हलचल मच गयी। महात्मा गांधी ने युद्ध के विरुद्ध प्रचार करने के लिए जो व्यक्तिगत सत्याग्रह आरम्भ किया था, उसी के दमन के लिए ऐसी आज्ञा निकाली गयी थी। इसके फलस्वरूप महात्मा गांधी ने अपने तीनों साप्ताहिक पत्रों 'हरिजन', 'हरिजन-सेवक', 'हरिजन-बन्धु' का प्रकाशन स्थगित कर दिया। साथ ही अधिकांश संपादकों ने भी अपने समाचार-पत्रों में अग्रलेख तथा सम्पादकीय विचार लिखना बन्द कर दिया।

बाद में १० नवम्बर १९४० को अखिल भारतवर्षीय सम्पादक-सम्मेलन हुआ जिसमें देश के सभी प्रमुख अंग्रेज़ी, हिन्दी, उर्दू, गुजराती बंगला, तामिल, मराठी पत्रों के संपादकों ने भाग लिया और प्रेस की

स्वाधीनता पर किये गये नये वार का विरोध किया। पत्रकारों और केन्द्रीय सरकार के बीच पारस्परिक विचार-विनिमय के बाद सरकार ने यह घोषणा कर दी है कि उपर्युक्त आर्डर रद्द कर दिया गया है। इस प्रकार समाचार-पत्रों की स्वाधीनता पर आया हुआ संकट एक सीमा तक दूर होगया।

सभा-संगठन की स्वाधीनता

विचार-स्वाधीनता के उपभोग के लिए यह आवश्यक है कि विचारों के विनिमय तथा उनकी आलोचना के लिए भी स्वाधीनता हो। यदि एक व्यक्ति एकान्त में बैठकर विचार करता रहे, और उसे अपने किसी मित्र के साथ या देशवासियों के साथ वार्त्तालाप करके भाषण द्वारा अपने विचारों को उनतक पहुँचाने की छूट न दी जाये, तो उसके विचारों से समाज कोई लाभ नहीं उठा सकता।

सामाजिक उत्कर्ष के लिए समाज को संगठन और सभा की जरूरत है। जब व्यक्ति सभाओं में परस्पर मिलते-जुलते हैं, तब उन्हें अपनी विविध समस्याओं पर विचार और निर्णय करने का अवसर मिलता है। प्रत्येक देश में नागरिकों के हितों की रक्षा के लिए तरह-तरह की राष्ट्रीय, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, व्यापारिक, व्यावसायिक, साहित्यिक वैज्ञानिक, धार्मिक, कला-और नाट्य-विषयक संस्थाएँ होती हैं। भारत वर्ष में भी ऐसी संस्थाएँ बहुत हैं। इन्हें अपने कार्य-संचालन की आज़ादी होनी चाहिए। इनमें से धार्मिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक संस्थाओं पर कोई प्रतिबंध नहीं हैं। परन्तु राष्ट्रीय, राजनीतिक तथा व्यावसायिक संस्थाओं पर सरकार की कड़ी दृष्टि रहती है। अराष्ट्रीय सरकार द्वारा ऐसी संस्थाओं को ग़ैर-कानूनी घोषित कर दिया जाता है अथवा उनकी सम्पत्ति को जब्त करलिया जाता है। इनके द्वारा जो विशाल सभाओं और जुलूसों का आयोजन किया जाता है, उनपर भी प्रतिबंध लगाये जाते हैं।

जो क़ानून एक सामान्य नागरिक के लिए है, वही इन सभाओं के लिए भी होना चाहिए। सरकार को किसी भी सभा या सम्मेलन को

रोकने या उसपर प्रतिबंध लगाने का उस समय तक कोई अधिकार नहीं है जबतक कि ऐसी सभा का उद्देश्य ग़ैर-क़ानूनी न हो अथवा उससे शान्ति-भंग की आशंका न हो।

हाँ, यदि सभा के संयोजक शान्ति-पूर्वक क़ानून के अनुसार किसी सभा का आयोजन करें और कुछ उपद्रवी लोग उसमें आकर अनुचित रीति से व्यवहार करें, जिससे शांतिभंग होने की आशंका हो तो पुलिस का यह कर्तव्य है कि सभा की स्वाधीनता के अधिकार पर इस प्रकार आघात करनेवालों को गिरफ्तार करके उचित दण्ड दिलाने का उद्योग करे। सभा के संचालकों का भी यह सामान्य कर्तव्य है कि वे शान्ति-पूर्वक क़ानून के अनुसार अपना कार्य करें। सभा में भाषण देनेवालों का भी यह कर्त्तव्य है कि वे कोई ऐसा भाषण न दें जो न्याय (क़ानून) के विरुद्ध हो। मज़दूर-संघों का यह अधिकार है कि वे अपने हितों की रक्षा के लिए कारखानों या मिलों में काम करने की हड़ताल कर सकते हैं। मज़दूरों को यह भी अधिकार है कि वह अपने सहयोगियों से शांति-पूर्वक हड़ताल करने का अनुरोध करें।

धार्मिक स्वाधीनता

धर्म का समाज और सामाजिक जीवन में एक विशेष स्थान है। इसलिए धार्मिक स्वाधीनता भी नागरिकों के लिए ज़रूरी है। धार्मिक स्वाधीनता का अर्थ यह है कि प्रत्येक नागरिक को अपने विश्वास के अनुसार अपने धर्म-पालन का अधिकार है।

वह चाहे तो अपना धर्म छोड़कर दूसरा धर्म ग्रहण कर सकता है। राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह नागरिकों को पूर्ण धार्मिक स्वाधीनता का सुयोग दे। धर्म का सम्बन्ध आत्मा और ईश्वर से है। राज्य का कर्त्तव्य है कि वह नागरिकों को अपनी आध्यात्मिक और भौतिक उन्नति के लिए समान रूप से सुविधाएँ एवं सुयोग प्रदान करे। ऐसा तभी सम्भव हो सकता है जबकि राज्य की ओर से प्रत्येक धर्म के अनुयायी के लिए उचित धार्मिक शिक्षा का भी प्रबन्ध हो।

इसके साथ-ही-साथ राज्य का यह भी कर्त्तव्य है कि वह धर्म के नाम पर उसकी आड़ में होनेवाले सामाजिक पापों के निवारण का प्रयत्न करे। हिन्दू-समाज में धर्म के नाम पर ऐसी अनेक कुप्रथाएं प्रचलित हैं जो समाज के लिए हानिकर हैं—जैसे, बाल-विवाह, बाल-हत्या, सती-प्रथा, नरमेध, धार्मिक अंध-विश्वास, अस्पृश्यता, जातपांत आदि। समाज-कल्याण के लिए इनके निवारण का भी राज्य की ओर से अवश्य प्रयत्न होना चाहिए। ऐसे प्रयास को धार्मिक हस्तक्षेप का नाम देना अविवेक है।

धर्म के सम्बन्ध में राज्य की निष्पक्षता का मतलब यह है कि राज्य को किसी एक धर्म के साथ अपनी विशेष सहानुभूति नहीं रखनी चाहिए और न उसे राज्य-कोष से विशेष मदद ही देनी चाहिए। राज्य के द्वारा सब धर्मों और उनके अनुयायियों के साथ समानता का व्यवहार होना चाहिए। जब 'धर्म' नागरिक जीवन की शान्ति में बाधक हो अथवा किसी धर्म के अनुयायियों की ओर से सरकार के सामने ऐसी मांगें रखी जायें जिनका मौलिक नागरिक अधिकारों से संघर्ष हो, तो राज्य को सार्वजनिक हितों का पूरा ध्यान रखते हुए ऐसे संघर्षों का निवारण करना चाहिए।

भारत में गो-वध, मसजिद के सामने बाजा बजाने, ताजिया और आरती आदि प्रश्नों को लेकर हिन्दू-मुसलमानों में विशेष रूप से त्यौहारों के समय बड़े दंगे हो जाया करते हैं। प्रत्येक नागरिक को राज-पथ का प्रयोग करने का अधिकार है। प्रत्येक धर्म के अनुयायी को अपने धर्म या समाज के जुलूस में भी शामिल होने का अधिकार है। हिन्दुओं को मन्दिरों में पूजा-पाठ और आरती करने का उतना ही अधिकार है जितना कि मुसलमानों को नमाज पढ़ने का। अब यदि मुसलमानों का यह आक्षेप है कि नमाज के वक्त सड़कों पर बाजा न बजाया जाये या आरती न की जाये, तो क्या कभी मुसलमान भी यह सोचने का प्रयत्न करेंगे कि यदि इसी प्रकार हिन्दू भी यह आक्षेप करें कि आरती के समय कोई नमाज न पढ़े या मुहर्रम के दिनों में ढोल न पीटे जायें क्योंकि इससे मन्दिरों के देवता अप्रसन्न होते हैं अथवा नागरिकों की नींद में खलल

पड़ता है, तो मुसलमान क्या करेंगे ? इस प्रकार के अविवेकपूर्ण और धार्मिकता कट्टरताभरे आक्षेपों का तो अन्त ही नहीं आयेगा। इसलिए सामाजिक शांति के लिए सहनशीलता और बंधुभाव की आवश्यकता है।

प्रत्येक धर्म के अनुयायी को यह भी अधिकार है कि वह अपने धर्म का जनता में प्रचार करे और दूसरे धर्मवालों को अपने धर्म में दीक्षित करे। इस प्रकार यह धर्म-प्रचार और धर्म-परिवर्तन का कार्य शान्तिपूर्वक होना चाहिए। बलपूर्वक किसी को धर्म में मिलाना उचित नहीं है। अनाथों, नाबालिगों और विधवाओं को धर्म-परिवर्तन का अधिकार नहीं होना चाहिए क्योंकि इन्हें प्रायः प्रलोभन देकर विधर्मी बना लिया जाता है।

व्यावसायिक स्वाधीनता

व्यवसाय का वैयक्तिक जीवन में ही नहीं बल्कि सामाजिक जीवन में भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। व्यावसायिक स्वाधीनता का मतलब है प्रत्येक व्यक्ति को अपनी रुचि, योग्यता और स्थिति के अनुसार व्यवसाय स्वीकार करने का अधिकार। जिस मनुष्य को अपनी रुचि के अनुसार काम मिल जाता है, वह उसे बड़ी उत्तमता से करता है। इसीलिए प्रत्येक को अपने मन का व्यवसाय पसन्द करने का अधिकार होना चाहिए। कोई भी व्यक्ति अपनी जाति, धर्म या समुदाय के कारण किसी भी व्यवसाय या सरकारी पद से वंचित न किया जाये। यदि वह उसके योग्य न होगा तो स्वयं ही असफल होगा। इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यवसाय को अपने हितों की रक्षा के लिए संगठन करने की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

अन्य नागरिक अधिकार

उपर्युक्त मौलिक अधिकारों के अतिरिक्त निम्नलिखित अधिकार भी मानव-जीवन को सुखी बनाने के लिए जरूरी हैं—

प्राथमिक तथा उच्च-शिक्षा

राज्य की ओर से समस्त नागरिकों के बालक-बालिकाओं की प्राथ-

मिक शिक्षा निःशुल्क हो, ऐसा प्रवन्ध होना चाहिए। उच्च शिक्षा-प्राप्ति के लिए भी राज्य को प्रोत्साहन देना चाहिए। जो जातियाँ शिक्षा में पिछड़ी हैं उनके लिए शिक्षा का विशेष प्रवन्ध होना चाहिए जिससे वे शीघ्र-से-शीघ्र दूसरी शिक्षित जातियों के समान वन सकें। छात्रवृत्तियों आदि द्वारा विश्वविद्यालयों में उनके लिए सब प्रकार की सुविधाएँ दी जानी चाहिए।

आवागमन की स्वतंत्रता

प्रत्येक नागरिक को राज्य[1] की सीमा में भ्रमण तथा प्रवास का अधिकार होना चाहिए। यदि राज्य की सीमा से वाहर जाना हो तो पासपोर्ट की सुविधा प्रत्येक नागरिक को मिलनी चाहिए।

सम्पत्ति का अधिकार

प्रत्येक नागरिक का अपनी अर्जित या प्राप्त सम्पत्ति और निजी आवश्यकता की चीजों पर व्यक्तिगत स्वामित्व होना जरूरी है, क्योंकि इसके विना उसका जीवन कठिन हो जायगा। परन्तु वड़े-वड़े व्यवसायों, कारखानों, कम्पनियों, वैंकों, रेलों, खानों, भूमि आदि पर राज्य या समाज का अधिकार होना चाहिए जिससे उत्पत्ति तथा वितरण के साधनों से समस्त समाज लाभ उठा सके और वे किसी व्यक्ति-विशेष या समूह की ही वैयक्तिक सम्पत्ति न रहें।

न्याय-प्राप्ति

प्रत्येक नागरिक क़ानून की दृष्टि में समान है। इसका अर्थ यह है क़ानून धनी-निर्धन, मजदूर-मालिक, शिक्षित-अशिक्षित में भेद नहीं मानता। वह सबों के लिए एक-सा है। यदि कोई पूँजीपति भी हत्या का अपराधी है, तो क़ानून उसे प्राणदण्ड देगा और यदि कोई ग्रेजुएट भी चोरी का अपराधी है तो क़ानून उसे क़ैद की सजा देगा। किसी खास राज-

---

१. 'राज्य' की व्याख्या के लिए पहला अध्याय देखिए।

नीतिक दल से सम्बन्ध रखने से न्यायालय उसके साथ कोई रियायत नहीं करेगा।

भाषा, संस्कृति तथा साहित्य

प्रत्येक नागरिक को अपनी भाषा, मातृभाषा, तथा संस्कृति के विकास व प्रयोग का अधिकार है। वह चाहे तो अन्य भाषाओं का भी ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इसमें उसको बाधा नहीं दी जानी चाहिए।

आहार-विहार और आचार-विचार की स्वाधीनता

प्रत्येक नागरिक को अधिकार है कि यदि समाज के प्रति नैतिक या दूसरे प्रकार का अपराध न होता हो तो वह अपनी इच्छानुसार भोजन करे, वस्त्रालंकार धारण करे, खेल-कूद तथा मनोरंजन करे, तथा अपना रहन-सहन रखे। वह अपनी इच्छानुसार विवाह-शादी, सन्तान-पालन तथा सामाजिक जीवन का पूर्णतया उपभोग कर सकता है।

सार्वजनिक स्थानों और सम्पत्ति के प्रयोग का अधिकार

प्रत्येक नागरिक को सामाजिक नियमों का उल्लंघन न करते हुए सार्वजनिक पाठशाला, शिक्षणालय, विद्यालय, मन्दिर, मसजिद, गिरजा, नदी, तालाब, वाटिका, पार्क, कुआँ, समस्त सरकारी भवन, म्यूनिसिपल बोर्ड, ज़िला बोर्ड के दफ्तर आदि के प्रयोग का अधिकार है। किसी भी नागरिक को अपनी जाति, धर्म या रंग के कारण उपर्युक्त सार्वजनिक सम्पत्ति के उपयोग से वंचित नहीं रखना चाहिए।

समाचारों की गोपनीयता

प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार है कि डाक, तार या फ़ोन द्वारा वह जो पत्र, संवाद या समाचार भेजे, वह गुप्त रहे। अर्थात् राज्य की ओर से डाक-तार-विभाग को प्रत्येक नागरिक के पत्र-व्यवहार की गोपनीयता की रक्षा करनी चाहिए। परन्तु युद्ध-काल में 'सेंसर' विभाग के सामने इस गोपनीयता की रक्षा संभव नहीं।

राजनीतिक अधिकार

नागरिक-स्वाधीनता के अलावा नागरिकों के लिए राजनीतिक अधिकार भी आवश्यक हैं। राजनीतिक अधिकारों और नागरिक-अधिकारों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है क्योंकि दोनों की उत्पत्ति इसी सिद्धान्त के आधार पर हुई है कि राज्य नागरिकों को अपना जीवन सुखी बनाने के लिए समान सुविधाएँ प्रदान करे। राजनीतिक अधिकार मुख्यतः तीन प्रकार के हैं—

(१) मताधिकार (२) प्रतिनिधित्व का अधिकार (३) पदाधिकार

(१) मताधिकार

प्रजातन्त्र राज्य में प्रतिनिधि-संस्थाओं का सबसे अधिक महत्त्व है। एक प्रकार से प्रतिनिधि-संस्थाएँ ही प्रजातन्त्र का आधार हैं। इन संस्थाओं का निर्वाचन होता है। इन निर्वाचनों के लिए जो निर्वाचक होते हैं, उनकी योग्यताएँ क़ानून द्वारा निर्धारित होती हैं। जो निर्वाचक की योग्यता रखते हैं, उन्हीं को मताधिकार प्राप्त होता है। जिन देशों में प्रजातन्त्र का अधिक विकास हो चुका है, उनमें प्रत्येक वयस्क स्त्री-पुरुष को मताधिकार प्राप्त है। केवल नाबालिग़ और उन्मत्त व्यक्ति ही मताधिकार से वंचित रखे जाते हैं, क्योंकि वे अपने अधिकार का समुचित प्रयोग नहीं कर सकते।

भारतवर्ष में प्रान्तीय एवं केन्द्रीय व्यवस्थापक सभाओं के लिए कुल ३½ करोड़ स्त्री-पुरुष मतदाता हैं। इस समय भारत की कुल जनसंख्या लगभग ४० करोड़ है। इस प्रकार ३६½ करोड़ जनता को यह महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान् राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं है। भारत में मताधिकार सम्पत्ति और शिक्षा के आधार पर है। यही कारण है कि मतदाताओं की संख्या इतनी कम है।

(२) प्रतिनिधित्व का अधिकार

प्रत्येक निर्वाचक, जिसकी आयु २५ और ३० वर्ष से अधिक हो,

क्रमशः प्रान्तीय असेम्वली और कौंसिल के लिए होनेवाले चुनावों में उम्मीदवार खड़ा हो सकता है। केन्द्रीय असेम्वली व राज्य-परिषद् के लिए भी सदस्य की आयु क्रमशः २५ और ३० वर्ष होनी चाहिए।

प्रतिनिधि के लिए शिक्षा-सम्वन्वी योग्यता का कोई नियम नहीं है। यही कारण है कि इन राज्य-संस्थाओं में पिछले प्रान्तीय चुनावों द्वारा ऐसे भी प्रतिनिधि चुने जाकर गये जो नाममात्र के साक्षर कहे जा सकते हैं।

भारतवर्ष में अव दलों की ओर से चुनाव लड़े जानें लगे हैं। भारत में कांग्रेस-दल ही सवसे सुसंगठित और शक्तिशाली है और उसका संगठन देश-व्यापी है ग्राम-ग्राम में उसके कार्यकर्त्ता मौजूद हैं। यही चुनावों में कांग्रेस की विजय का रहस्य है।

(३) पदाधिकार

प्रान्तीय तथा केन्द्रीय संस्थाओं के प्रतिनिधियों को, जो वहुमत-दल के होते हैं, अपना मंत्रि-मण्डल वनाने का अधिकार है। भारत में अभी केवल प्रान्तीय क्षेत्र में ही यह अधिकार मिला है। केन्द्रीय शासन तो आज भी सन् १९१९ के शासन-विधान के अनुसार जारी है।

इसके अतिरिक्त नागरिकों को राज्य की समस्त नौकरियों में नियुक्ति पाने का अधिकार है। प्रत्येक नौकरी के लिए सरकार ने योग्यताएँ निर्धारित कर दी हैं और जव उसे नियुक्तियाँ करनी होती हैं तव वह प्रान्तीय सर्विस के लिए प्रान्तीय पब्लिक सर्विस कमीशन तथा भारतीय सर्विस के लिए फेडरल पब्लिक सर्विस कमीशन की नियोजित की हुई प्रतियोगिता-परीक्षाओं द्वारा नियुक्ति करती है। प्रत्येक सर्विस में साम्प्रदायिक ढंग पर प्रतिनिधित्व की पद्धति प्रचलित है।

: ६ :

नागरिकों के कर्त्तव्य

अधिकार और कर्त्तव्य

पिछले अध्याय में नागरिकों के अधिकारों के संबंध में हम विचार कर चुके हैं। परन्तु अधिकारों के साथ कर्त्तव्यों का भी घनिष्ठ संबंध है, क्योंकि बिना कर्त्तव्य-पालन के अधिकारों का उपभोग संभव और समुचित नहीं है।

प्रत्येक राज्य या राष्ट्र में नागरिक को भाषण-स्वाधीनता का अधिकार होता है। वह देश के क़ानून के अनुसार मर्यादा का पालन करते हुए अपनी इच्छानुसार विचार प्रकट करने में स्वतंत्र है। परन्तु उसके इस अधिकार के उपभोग के लिए यह भी अत्यन्त आवश्यक है कि और दूसरे नागरिक उसकी विचार-स्वाधीनता में बाधा न डालें। उनपर किसी बाधा को उपस्थित न होने देने का उत्तरदायित्व ही उस नागरिक के लिए विचार-स्वाधीनता तथा भाषण-स्वाधीनता के अधिकार को जन्म देता है। यदि एक नागरिक एक सभा में या किसी जन-समुदाय में या अपने ग्राम की पंचायत के सदस्यों के बीच अपने विचार प्रकट करने का प्रयत्न करे और उसी समय दूसरे नागरिक उसके इस अधिकार के उपभोग में बाधा पहुँचाने के लिए किसी प्रकार से शान्तिभंग करदें तो वह नागरिक अपने अधिकार का कभी उपभोग नहीं कर सकेगा।

इससे यह सिद्ध है कि जब किसी नागरिक को नागरिकता का कोई अधिकार प्राप्त होता है, तो यह अधिकार ही दूसरों के लिए कर्त्तव्य बन जाता है। दूसरों का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे उसके प्रयोग में किसी तरह की बाधा उत्पन्न न करें।

इस प्रश्न पर एक दूसरे पहलू से भी विचार किया जा सकता है। यदि समाज के सभी सदस्य केवल अधिकारों पर तो ज़ोर दें पर अपने कर्त्तव्यों की उपेक्षा करें, तो इसका परिणाम होगा उनके अधिकार-प्रयोग

में संघर्ष। इसके फलस्वरूप समाज का कोई भी व्यक्ति स्वतंत्रतापूर्वक अपने अधिकार का प्रयोग न कर सकेगा।

भारतीय कर्त्तव्य-शास्त्र में कर्त्तव्यों के साथ-साथ अधिकारों पर भी जोर दिया गया है। जब नागरिक अपने कर्त्तव्यों का सच्चाई के साथ पालन करते हैं तभी वे ऐसा वातावरण पैदा करने में सफल हो सकते हैं जिसमें वे अधिकारों का प्रयोग स्वतंत्र रीति से कर सकें।

कर्त्तव्य-परायणता की आवश्यकता

समाज सार्वजनिक कल्याण के लिए संगठित जन-समुदाय का नाम है। समाज का निर्माण सब व्यक्तियों के कल्याण के उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही हुआ है। अतः यदि समाज का कल्याण वांछनीय और अभिप्रेत है, तो व्यक्तियों को इसके लिए उद्योग करना होगा और समाज के अभ्युदय के लिए व्यक्तियों का जो उत्तरदायित्व है, वही उनका कर्त्तव्य है।

यदि समाज के व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों का पालन न करें तो समाज का संगठन बना नहीं रह सकता। इसी प्रकार यदि किसी नगर या ग्राम के निवासी अपने ग्राम या नगर की व्यवस्था के लिए संगठित होकर अपने कर्त्तव्य का पालन न करें तो उसकी स्थिति बड़ी खराब हो जायेगी।

समाज में जबतक सब व्यक्ति अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार अपने कर्त्तव्यों का पालन करते रहते हैं, तबतक समाज के लोग सभी प्रकार से सुखी और प्रसन्न रहते हैं और समाज भी उन्नतिशील बनता है। परन्तु जब समाज के व्यक्ति अपने दायित्वों और कर्त्तव्यों के पालन की अवहेलना करके केवल अधिकारों पर ही जोर देते हैं, तब उनका पतन शुरू हो जाता है और अन्त में समूचे समाज की अधोगति हो जाती है।

भारत में हिंदू-जाति के पतन और पराभव का कारण भी उसकी कर्त्तव्य-परायणता के प्रति उपेक्षा-भावना ही है। प्राचीन काल में वैदिक वर्ण-व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मणों के लिए ये कर्त्तव्य निर्धारित किये गये थे:—

(१) वेद पढ़ना तथा पढ़ाना—अर्थात् गुरुकुलों द्वारा समाज में विद्या का प्रचार करना।

(२) यज्ञ करना तथा कराना—अर्थात् समाज के कल्याण के लिए उत्तम और शुभ कर्म करना।

(३) दान देना—अर्थात् ब्राह्मण ने अपनी साधना तथा तपस्या से जो ज्ञान संचय किया है, उसे जनता को देना। विद्या-दान सर्वोत्तम दान माना गया है।

इन कर्त्तव्यों के साथ-साथ ब्राह्मण को यह अधिकार प्राप्त था कि वह दान स्वीकार करे। जनता उसकी सेवाओं के पुरस्कार में अपनें श्रद्धा के अनुसार ब्राह्मण को दान-दक्षिणा दे, उसकी भेंट-पूजा करे, उसका आदर-आतिथ्य करे। ब्राह्मण अपने इन सर्वश्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्यों के पालन करने पर ही इनसे सम्बन्धित अधिकारों के भोग का अधिकारी बन सकता था। परन्तु जब ब्राह्मणों ने अपने इन कर्त्तव्यों की उपेक्षा करके सिर्फ़ दान-दक्षिणा ग्रहण करने पर ही जोर दिया, तब समाज का पतन हो गया। आज यह स्थिति है कि एक ब्राह्मण, एक क्षत्रिय या वैश्य अपने अधिकारों के निमित्त तो सदैव संघर्ष करने के लिए सन्नद्ध है, परन्तु अपने कर्त्तव्यों के बारे में वह कुछ भी नहीं सोचता। इसीलिए तो आज समाज में न नागरिकों को अपने अधिकारों का उपभोग करने की स्वाधीनता है और न समाज में संगठन तथा सामंजस्य है।

कर्त्तव्यों के प्रकार

कर्त्तव्य अनेक प्रकार के हैं। उनका वर्गीकरण भी कई प्रकार से किया जा सकता है। हम यहाँ कर्त्तव्यों को पाँच भागों में विभक्त करते हैं—

(१) अपने प्रति कर्त्तव्य;
(२) अपने परिवार के प्रति कर्त्तव्य;
(३) नागरिकों के प्रति कर्त्तव्य;
(४) समाज के प्रति कर्त्तव्य;
(५) राज्य के प्रति कर्त्तव्य।

(१) अपने प्रति कर्त्तव्य

प्रत्येक नागरिक का सबसे पहले अपनें प्रति कर्त्तव्य है। यह वाक्य

कुछ विचित्र-सा प्रतीत होता है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति का अपने प्रति भी कर्त्तव्य है। वह नागरिकों और समाज के प्रति कर्त्तव्य का पालन ही उसी समय कर सकता है जबकि उसने अपने प्रति कर्त्तव्यों का पालन कर लिया हो।

प्रत्येक नागरिक को श्रेष्ठ नागरिक बनने का प्रयत्न करना चाहिए। यही उसका निजी कर्त्तव्य है। श्रेष्ठ नागरिक बनने के लिए आवश्यक है कि वह अपनी शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक शक्तियों के सामंजस्य और पूर्ण विकास के लिए प्रयत्न करे। इसके लिए उसे अपनें शरीर का विकास करने की आवश्यकता है शरीर को स्वस्थ बनाते तथा ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए अपने चरित्र का निर्माण करना है। मानसिक शक्तियों के विकास के लिए उसे विविध ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए और आत्मिक-विकास के लिए आध्यात्मिक साधना तथा ध्यान एवं चिंतन की आवश्यकता है।

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि श्रेष्ठ नागरिक ही समाज का एक उपयोगी अंग है, क्योंकि वही समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करनें में समर्थ हो सकता है।

(२) अपनें परिवार के प्रति कर्त्तव्य

समाज की इकाई व्यक्ति है और यदि समाज के संगठन पर विचार किया जाये तो यह स्पष्ट प्रकट होगा कि समाज का आधार परिवार-समूह है। प्रत्येक व्यक्ति का परिवार में जन्म होता है और परिवार में ही वह पालन-पोषण पाता है तथा उसी में रहकर उसके विचारों का निर्माण होता है तथा वह अपनें परिजनों की विचारधारा तथा संस्कारों को ग्रहण करके समाज में उपस्थित होता है। इसप्रकार व्यक्ति के निर्माण में परिवार का बहुत बड़ा योगदान है। प्रत्येक व्यक्ति का अपनें माता-पिता के प्रति विशेष कर्त्तव्य है। हिन्दू-विधान के अनुसार प्रत्येक पुत्र का यह कर्त्तव्य है कि वह वयस्क होने पर अपने माता-पिता का भरण-पोषण करे, उनका यथावत् सत्कार करे तथा उनकी धर्म-सम्मत आज्ञाओं

का पालन करे। हिन्दू-शास्त्रों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति जन्म लेते ही जो तीन प्रकार के ऋणों—पितृ-ऋण, देव-ऋण और ऋषि-ऋण को अपने ऊपर ले लेता है उनमें इस प्रकार उसे पितृ-ऋण चुकाने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है।

पति और पत्नी परिवार के प्रमुख सदस्य हैं। पति के पत्नी के प्रति कुछ विशेष कर्त्तव्य हैं और पत्नी के भी पति के प्रति विशेष कर्त्तव्य हैं। पति को पत्नी के भरण-पोषण का भार वहन करना पड़ता है। पत्नी के प्रति उसे वैवाहिक कर्त्तव्यों को भी पूरा करना पड़ता है। पति का कर्त्तव्य है कि वह पत्नी के प्रति सच्चाई तथा प्रेम का व्यवहार करे और पत्नीव्रत का पालन करे। इसी प्रकार पत्नी को भी पति के प्रति भक्तिभाव रखकर पातिव्रत का पालन करना चाहिए। पत्नी गृह की स्वामिनी है और उसका कर्त्तव्य है कि वह घर की सब बातों की ठीक प्रकार व्यवस्था करे तथा सन्तान का यथोचित पोषण करे और उसे शिक्षा दे। पति-पत्नी का आपसी व्यवहार मैत्री के आधार पर होना चाहिए—अर्थात् पति पत्नी को दासी न समझे प्रत्युत उसे वास्तव में जीवन-संगिनी समझे।

माता-पिता के सन्तान के प्रति कुछ विशेष कर्त्तव्य हैं। उनका कर्त्तव्य है कि वे अपनी सन्तान का पालन-पोषण करें और उन्हें शिक्षित बनावें। इसी प्रकार भाइयों व बहनों तथा अन्य सम्बन्धियों के साथ भी प्रत्येक व्यक्ति को यथोचित प्रेम-पूर्वक सद्व्यवहार करना चाहिए।

हिन्दू-विधान में आचार्य की बड़ी पूजा की जाती है। आचार्य को एक प्रकार से बालक का आध्यात्मिक पिता ही कहा जाता है। आचार्य अर्थात् शिक्षकों व अध्यापकों के प्रति विद्यार्थियों को यथोचित व्यवहार करना चाहिए।

(३) नागरिकों के प्रति कर्त्तव्य

अपने या अपने परिवार के सदस्यों के प्रति नागरिक के जो कर्त्तव्य हैं उनका पालन करने मात्र से ही नागरिक के कर्त्तव्यों की सम्यक् पूर्ति

नहीं हो जाती। उसके अपने पड़ोसियों, वस्ती के वासियों, नगर-निवासियों, ग्रामवासियों तथा देश-वासियों के प्रति भी कई कर्त्तव्य हैं।

इनके साथ उसे कैसा व्यवहार करना चाहिए—किन-किन परिस्थितियों एवं अवसरों पर उसे कैसा-कैसा व्यवहार करना चाहिए—इसका पूर्ण विवेचन तो कर्त्तव्य-शास्त्र का विषय है। यहाँ इसका पूरा विवेचन सम्भव नहीं है। अतः हम यहाँ केवल उन सामान्य और आधारभूत सिद्धान्तों के सम्बन्ध में ही विचार करने का प्रयत्न करेंगे जिनके आधार पर इन नागरिकों के साथ सम्बन्ध स्थिर करना उचित है।

समाज में समता, प्रेम तथा सहानुभूति की प्रतिष्ठा के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि एक नागरिक दूसरे नागरिकों के साथ भाई के समान व्यवहार करे। दूसरे शब्दों में उसे भ्रातृभाव की वृद्धि के लिए उद्योग करना चाहिए। भ्रातृभाव के साथ-साथ नागरिक में सेवा की भावना का होना भी उचित है। कोई भी कार्य इस भावना से नहीं करना चाहिए कि वह किसी दूसरे के साथ उपकार कर रहा है। ऐसा विचार ही मिथ्या अहंकार का जन्मदाता है और अहंकार सच्ची सेवा के मार्ग में एक बड़ी बाधा है। प्रत्येक नागरिक को अपनी योग्यता के अनुसार अपनी सेवा का क्षेत्र चुनने की सुविधा होनी चाहिए। नागरिक के व्यवहार में शिष्टता तथा सहानुभूति का होना परम आवश्यक है। सहानुभूति के द्वारा ही वह नागरिकों व समाज की सेवा करने में समर्थ हो सकता है। सेवा के लिए सहानुभूति एक प्रकार की मार्ग-प्रदर्शिका है। प्रत्येक नागरिक को ग्राम, नगर तथा अपने मुहल्ले में शान्ति तथा एकता क़ायम रखने का प्रयत्न करना चाहिए। साधारण-सी ग़लतफ़हमियों तथा घटनाओं को लेकर साम्प्रदायिक उपद्रव हो जाते हैं। यह बताने की आवश्यकता नहीं कि इन उपद्रवों से समाज की कितनी हानि होती है। नागरिकों का यह कर्त्तव्य है कि वे ऐसी ग़लतफ़हमियों को दूर करने का संगठित रूप से उद्योग करें तथा मामूली विवादों को शीघ्र ही आपसी समझौते द्वारा तय करदें जिससे वे भयंकर उपद्रवों का रूप ग्रहण न कर सकें। यदि नागरिक सहनशीलता से काम लें तो ऐसे झगड़े

और उपद्रव बड़ी आसानी से शान्त किये जा सकते हैं। सहनशीलता वास्तव में मानवता का एक अमूल्य रत्न है। इसके अभाव में मानवीय सद्गुणों का विकास होना सम्भव नहीं और न इससे समाज का संगठन ही क़ायम रह सकता है। नागरिक का यह भी कर्त्तव्य है कि वह दूसरे नागरिकों के जीवन तथा सम्पत्ति का भी वैसा ही आदर करे जैसा कि अपने जीवन व सम्पत्ति का करता है।

राज्य ने प्रत्येक नागरिक को आत्म-रक्षा (Self-defence) का अधिकार दिया है। परन्तु उस अधिकार के साथ यह कर्त्तव्य लगा हुआ है कि वह दूसरे के जीवन व सम्पत्ति के अधिकार की रक्षा भी करे। जनता की जो सार्वजनिक सम्पत्ति हो—जैसे बाग़, पार्क, तालाब, कूप पाठशाला, धर्मशाला—उसकी रक्षा करना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है। जीवन में इस महत्त्वपूर्ण मौलिक सिद्धान्त का सदा, सर्वथा, सर्वत्र पालन होना आवश्यक है कि प्रत्येक नागरिक को दूसरे नागरिकों के साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसे व्यवहार की वह अपने प्रति उनसे आशा रखता है। इस नियम पर चलने से समाज के व्यक्तियों में कभी किसी विषय पर संघर्ष नहीं हो सकता और जीवन के सब काम बड़ी सफलता से चलते रह सकते हैं।

(४) समाज के प्रति कर्त्तव्य

हमने नागरिकों के कर्त्तव्यों के संबन्ध में ऊपर जो निवेदन किया है, वह केवल व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक नागरिक के ही लिए है। नागरिक के कुछ कर्त्तव्य ऐसे भी हैं जिन्हें वह दूसरों के सहयोग से पूरा कर सकता है। ऐसे कर्त्तव्य समाजगत होते हैं। इनके पालन से समूचे समाज का कल्याण होता है। प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वह दूसरे नागरिकों के साथ सहयोग-पूर्वक समाज के संगठन में भाग ले। समाज के उत्कर्ष के लिए उसे राज्य की ओर से कई प्रकार के संगठन निर्माण करने का अधिकार प्राप्त है। इस अधिकार का प्रयोग वह समाज की सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक, वैज्ञानिक, व्यावसायिक, व्यापारिक,

औद्योगिक, आर्थिक, मानसिक, स्वास्थ्य-विषयक आदि अनेक प्रकार की उन्नति के लिए कर सकता है।

नागरिकों का कर्त्तव्य है कि वे विविध उन्नति के लिए समाज-संघ, स्वास्थ्य-संघ, साहित्य-परिषद्, नाट्य-परिषद्, शिक्षा-परिषद्, विज्ञान-परिषद्, व्यवसाय-परिषद्, उद्योग-संघ, नगर-संघ, ग्राम-सुधार-संघ मनोरंजन-गृह, महिला-संघ, राजनीतिक परिषद्, और आध्यात्मिक परिषद् आदि संगठनों की स्थापना करें। इनमें उन्हें समान रूप से भाग लेना चाहिए और यथाशक्ति उनके उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अपनी योग्यतानुसार प्रयत्न करना चाहिए।

(५) राज्य के प्रति कर्त्तव्य

जिस प्रकार राज्य ने नागरिकों की सुख-सुविधा के लिए उन्हें अधिकार प्रदान किये हैं, उसी प्रकार नागरिकों का भी यह कर्त्तव्य है कि वे उसके प्रति अपने दायित्वों को पूरा करने का प्रयत्न करें। राज्य और नागरिकों का संबन्ध पारस्परिक सहकारिता की भावना पर ही निर्भर है। राज्य का आविर्भाव ही इसलिए हुआ है कि नागरिक सुख और शान्ति से जीवन व्यतीत कर सकें। राज्य का विकास, इस प्रकार, नागरिकों के सहयोग तथा सामाजिक कल्याण की भावना का ही फल है।

राज्य में शासन और नागरिक उसके सबसे महत्त्वपूर्ण अंग हैं। शासन का आविर्भाव भी इसी कारण हुआ है कि नागरिकों की सामाजिक व्यवस्था का उचित रीति से नियमन और संचालन हो सके। प्रजातन्त्र-शासन-प्रणाली के अन्तर्गत शासन का निर्माण नागरिकों की आकांक्षा के अनुसार होता है। इसी आकांक्षा की अभिव्यक्ति के लिए प्रतिनिधियों के चुनाव की प्रणाली का विकास हुआ।

प्रतिनिधियों का चुनाव

प्रजातंत्र-शासन-प्रणाली के अंतर्गत प्रत्येक वयस्क स्त्री-पुरुष को, जिसकी आयु १८ वर्ष या इससे अधिक हो, शासन-संस्थाओं के लिए प्रतिनिधि

चुनने का अधिकार प्राप्त है। संसार के अनेक देशों में जनता को वयस्क-मताधिकार प्राप्त है, परन्तु भारतवर्ष में ४० करोड़ की जन-संख्या में सिर्फ ३-४ करोड़ नागरिकों को मताधिकार प्राप्त है।

मताधिकार एक बहुमूल्य अधिकार है; परन्तु अज्ञान के कारण नागरिक इसके महत्त्व को नहीं समझते। जो लोग वयस्क नहीं हैं, उन्हें यह अधिकार इसलिए नहीं दिया गया है कि उनकी विवेक-बुद्धि इतनी विकसित नहीं होती कि वे अपने कर्त्तव्य का उचित रीति से पालन कर सकें। अतः वयस्क मतदाताओं का यह कर्त्तव्य है कि वे लोगों की आकांक्षाओं का ध्यान रखते हुए ऐसे किसी उम्मीदवार को मत न दें, जो उसके अधिकारी नहीं हैं।

मतदाताओं का कर्त्तव्य है कि वे ऐसे देशभक्त, देश-हितैषी, विचारवान्, विद्वान, सदाचारी जनसेवक को अपना मत दें जो वास्तव में उनके सामूहिक हित के लिए कार्य करने में समर्थ हो। चुनावों के समय नागरिक इस संबंध में जैसा व्यवहार करते हैं उसी का यह दुष्परिणाम है कि योग्य, विद्वान और सच्चे सेवक बहुत कम प्रतिनिधि चुने जाते हैं। देखने में आता है कि स्वार्थी, चरित्रहीन या सामाजिक हितों के विरोधी उम्मीदवार प्रतिनिधि-संस्थाओं में चुन लिये जाते हैं। चुनावों के समय उम्मीदवारों की ओर से बल-प्रयोग किया जाता है और मत-दाताओं को तरह-तरह के प्रलोभन दिये जाते हैं। इस प्रकार उम्मीदवार तो भ्रष्ट होते ही हैं, वे अपना दुष्प्रभाव मतदाताओं पर भी डालते हैं।

प्रतिनिधियों के कर्त्तव्य

प्रतिनिधियों का कर्त्तव्य है कि वे शासन-परिषदों तथा प्रतिनिधि-सभाओं में जाकर समाज के हित के लिए उपयोगी कार्य करें। उन्हें अपने क्षणिक व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के लिए सामाजिक हितों पर कुठाराघात नहीं करना चाहिए। प्रतिनिधियों का यह भी कर्त्तव्य है कि वे अपने-अपने निर्वाचन-क्षेत्रों में समय-समय पर भ्रमण किया करें और अपने मतदाताओं ही नहीं प्रत्युत सभी नागरिकों की असुविधाओं, कष्टों

तथा शिकायतों की जाँच करके उनके निवारण का उचित प्रबंध करें। इसप्रकार मतदाताओं तथा नागरिकों के साथ सम्पर्क स्थापित करके वे वास्तव में उनकी आकांक्षाओं को जान सकेंगे और तदनुसार धारासभाओं में कार्य भी कर सकेंगे।

प्रतिनिधियों का मुख्य कर्त्तव्य तो यह है ही कि वे नागरिकों की सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक और औद्योगिक उन्नति के लिए उपयोगी क़ानून बनवाने के लिए प्रयत्न करें।

शासन-प्रबंध में सहयोग

प्रजातन्त्र-शासन-प्रणाली के अन्तर्गत शासन-प्रबन्ध नागरिकों के लिए, नागरिकों की इच्छा से, नागरिकों द्वारा होता है। इसलिए प्रजातन्त्र में प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार है और इसीलिए उसका यह कर्त्तव्य भी है कि वह शासन-प्रबन्ध के कार्य में योग दे। शासन-प्रबन्ध के कार्य में तीन प्रकार से सहयोग दिया जा सकता है—

(१) प्रतिनिधि के रूप में धारासभाओं में भाग लेकर और मन्त्रि-मण्डल का सदस्य बनकर शासनकार्य में प्रत्यक्ष भाग लिया जा सकता है। धारासभा का सदस्य बनकर उपयोगी क़ानून बनाकर सहयोग किया जा सकता है।

(२) शासन-प्रबन्ध के विविध विभागों—शिक्षा-विभाग, स्वास्थ्य-विभाग, स्थानीय स्वायत्त-विभाग, अर्थ-विभाग, ग्राम-सुधार विभाग, पुलिस-विभाग आदि—में पदाधिकार प्राप्त करके शासन-संचालन के कार्य में योग दिया जा सकता है।

(३) सामान्य नागरिकों को चाहिए कि वे उपर्युक्त प्रतिनिधियों तथा पदाधिकारियों के वैध कार्यों में योग दें।

क़ानून-निर्माण में नागरिकों का योगदान

क़ानून धारासभाओं में बनाये जाते हैं। इन सभाओं में नागरिकों के चुने हुए प्रतिनिधि भाग लेते हैं। परन्तु प्रजातंत्र-प्रणाली के अन्तर्गत

मतदाता-नागरिकों को भी क़ानून बनाने का अधिकार प्राप्त है। इसे अंग्रेजी में Initiative कहते हैं और धारासभाओं द्वारा स्वीकृत क़ानूनों पर भी नागरिकों को मत देने का अधिकार प्राप्त है। स्वीजरलैण्ड तथा अमरीका में नागरिकों को ये दोनों अधिकार प्राप्त हैं।

राज्य के क़ानूनों का पालन

नागरिकों का यह कर्त्तव्य है कि वे राज्य के शासन-विधान के तथा दूसरे क़ानूनों का पालन करें। प्रजातंत्र-राज्य में बहुमत द्वारा शासन होता है और धारासभाओं में भी प्रत्येक क़ानून बहुमत की राय से बनाया जाता है। इसलिए समस्त देश उस क़ानून से बाध्य हो जाता है। जब क़ानून बन चुकता है तब समस्त जनता का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह उसका सद्भावना के साथ पालन करे।

अब प्रश्न यह है कि यदि धारासभाओं और सरकार द्वारा कोई ऐसा क़ानूनबनाया गया है जो समाज के लिए या उसके किसी वर्ग के लिए घातक है, तो क्या उस क़ानून के विरोधियों का यह कर्त्तव्य है कि वे क़ानून की अवज्ञा करें? इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रत्येक प्रजातंत्र राज्य में नागरिकों को यह अधिकार है कि वे किसी भी क़ानून तथा सरकार के कार्य की आलोचना कर सकते हैं और उसके प्रति विरोध-प्रदर्शन भी कर सकते हैं। इस प्रकार के विरोध-प्रदर्शन वैध (न्यायोचित) मानें जाते हैं। इन प्रदर्शनों का उद्देश्य है लोकमत द्वारा सरकार को यह बताना कि उसने जो क़ानून बनाया है वह समाज या किसी विशेष वर्ग के लिए घातक है जिससे सरकार उसमें संशोधन का प्रयत्न कर सके।

परन्तु क़ानून की अवज्ञा करना तो देश के विधान के अनुसार अपराध है। संसार के किसी भी सभ्य राज्य के विधान ने नागरिकों को यह अधिकार नहीं दिया है। सोवियत प्रजातंत्र-संघ के शासन-विधान में भी संघ नागरिक-संघ के विधान और उसके क़ानूनों को मानने, श्रम के अनुशासन को क़ायम रखने, सार्वजनिक कर्त्तव्य का आदर करने और समाजवादी सभा (सोसाइटी) के नियमों का पालन

करने के लिए बाध्य है।[1]

परन्तु भारतवर्ष की स्थिति दूसरे प्रजातंत्र-राज्यों से भिन्न है। न तो भारत में पूर्ण प्रजातंत्र राज्य है और न यहाँ नागरिकों की आकांक्षा के अनुसार शासन ही होता है। इसलिए यह कहना कठिन है कि सरकार द्वारा जो क़ानून प्रचलित हैं वे प्रजा की आकांक्षा को अभिव्यक्त करते हैं।

इसीलिए महात्मा गांधी भारतवर्ष में, २२ वर्ष से सविनय अवज्ञा (Civil Disobedience) आन्दोलन का संचालन कर रहे हैं। उनका यह मत है कि यदि कोई क़ानून अनैतिक है, तो प्रजा को यह अधिकार है कि वह उसकी अवज्ञा करे। परन्तु अवज्ञा अहिंसात्मक होनी चाहिए। सन् १९१९ में गांधीजी ने रौलट-क़ानून के विरुद्ध सत्याग्रह—सविनय अवज्ञा—आन्दोलन किया और सन् १९३० में नमक-क़ानून, जंगल-क़ानून आदि के विरोध में। इस समय वह भारत-रक्षा-क़ानून (Defence of India Act) के विरोध में युद्ध-विरोधी सत्याग्रह का संचालन कर रहे हैं। महात्मा गांधी ने लिखा है—

"यह तो हम अधम दशा में पड़े हुए हैं इससे मान लेते हैं कि क़ानून में जो कुछ हो उसे मानना हमारा कर्त्तव्य है। अगर मनुष्य एक बार इस बात को महसूस करले कि अनुचित जान पड़नेवाले क़ानूनों का पालन करना नामर्दी है, तो फिर किसी का जुल्म उसे मजबूर नहीं कर सकता। यही स्वराज्य की कुंजी है।"[2]

शान्ति-रक्षा में सहयोग

प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वह देश की शान्ति की रक्षा में राज्य के अधिकारियों की सहायता करे और उन्हें सहयोग दे। सरकार ने शान्ति-रक्षा तथा अपराधों के अवरोध तथा अपराधों की

---

१. 'सोवियट प्रजातंत्र-संघ' का विधान

२. महात्मा गांधी; 'हिन्द-स्वराज्य' (हिन्दी-संस्करण १९३९) पृ० १४८

जाँच के लिए पुलिस-विभाग की स्थापना की है। समस्त देश में प्रत्येक ज़िले तथा तहसील और यहाँ तक कि ग्राम में भी पुलिस के कर्मचारी होते हैं। परन्तु पुलिस के कर्मचारी नागरिकों की सहायता के अभाव में न तो शान्ति-रक्षा ही कर सकते हैं और न अपराधों की जाँच ही कर सकते हैं। अतः नागरिकों का यह कर्त्तव्य है कि वे शान्ति की रक्षा तथा राजद्रोह, षड्यंत्र, हत्या, लूटमार, डकैती, चोरी, आग लगाना तथा अन्य अपराधों उनके अपराधियों की जाँच के संबंध में पुलिस को सहायता दें।

राज्य-कोष में कर तथा लगान आदि देना

राज्य के शासन का संचालन प्रजा द्वारा दिये गये कर, लगान आदि के रूप में आये हुए धन से ही होता है। यदि राज्य के पास इन साधनों के द्वारा पर्याप्त कोष प्राप्त नहीं होता तो वह लोकोपयोगी कार्यों को ठीक प्रकार से करने में असमर्थ रहता है। इसलिए नागरिकों का कर्त्तव्य है कि वे ठीक समय पर निर्धारित टैक्स, मालगुजारी आदि सरकार को देते रहें। यदि सरकार कोई ऐसा कर लगाती है जो प्रजा पर भार है अथवा जो उचित नहीं है तो प्रजा का यह कर्त्तव्य है कि वह उसका विरोध करे।

स्वदेश-रक्षा

प्रत्येक देश के नागरिकों का यह कर्त्तव्य है कि वे वाह्य आक्रमणों से स्वदेश की रक्षा के कार्य में अपने देश की सरकार की धन, जन आदि से पूरी सहायता करें। इसीलिए बहुत-से देशों में नागरिक सेनाएँ होती हैं। सोवियट राज्य में अनिवार्य सैनिक सेवा का नियम है। इसी प्रकार युद्ध-काल में प्रत्येक विग्रही राष्ट्र में अनिवार्य सैनिक सेवा का नियम प्रचलित हो जाता है। इस सम्बन्ध में मतभेद पाया जाता है। कुछ विद्वानों का यह मत है कि अनिवार्य सैनिक-सेवा का नियम नैतिकता और नागरिक स्वाधीनता की भावना के विरुद्ध है। प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र है और

उससे ज़बरदस्ती फ़ौज में सैनिक का काम कराना उचित नहीं।

दूसरा मत यह है कि देश की स्वाधीनता की रक्षा के लिए प्रत्येक नागरिक को सैनिक सेवा करनी चाहिए। ऐसा करना उसका कर्त्तव्य ही नहीं धर्म भी है। यदि अनिवार्य सेवा का नियम न रखा जाये तो नागरिक रक्षा के कार्य में सक्रिय भाग न लेना चाहेंगे।

इस सम्वन्ध में हमारा मत यह है कि नागरिकों में देशभक्ति की भावना इतनी प्रवल होनी चाहिए कि वे स्वदेश के लिए सदैव प्राणोत्सर्ग करने को तत्पर रहें। ऐसी दशा में वे स्वयं-सेवक-सेना तैयार करने का प्रयत्न स्वयं ही करेंगे।

कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय

व्यक्तिगत जीवन और सार्वजनिक जीवन में ऐसे अनेक अवसर आते हैं जब नागरिकों को यह निर्णय करना बड़ा कठिन जान पड़ता है कि क्या कर्त्तव्य है और क्या अकर्त्तव्य है? ऐसे अवसरों पर उन्हें क्या करना चाहिए—यह एक बड़ा विचारणीय प्रश्न है।

जब कभी इस प्रकार की समस्या उपस्थित हो जाये तब उन्हें यह विचार करना चाहिए कि जिस कार्य के करने से अधिक हित-साधन हो, समाज का लाभ हो, वही करना उचित है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि इस प्रकार के निर्णय में त्याग तथा वलिदान की भावना का प्राधान्य होगा।

श्री भगवानदास केला ने इस सम्बन्ध में लिखा है:—

"जिन कार्यों में भेदभाव न रखकर, समता का आदर्श रखा जाता है, जिनमें हम अपनी आत्मा की विशालता का अनुभव करते हैं, जिनमें स्वार्थ-परार्थ का प्रश्न नहीं उठता, वे ही कर्त्तव्य ह। इसके विपरीत जिन कार्यों से भेदभाव की उत्पत्ति होती है, अपने पराये का विचार होता है; अपना सुख-दुःख मुख्य समझा जाता है, जिनमें आत्मा के विस्तार की भावना न रख कर, उसे परिवार या नगर आदि के सीमित क्षेत्र में परिमित रखा जाता है, वे अकर्त्तव्य हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि

हमारा अपने परिवार या नगर आदि के प्रति कोई कर्त्तव्य नहीं है। नहीं नहीं जैसा कि अन्यत्र बताया गया है, हमारा कर्त्तव्य तो स्वयं अपने प्रति भी है। हाँ हमें दूसरों के हित को न भूलना चाहिए।"[१]

श्री केलाजी ने जो सिद्धान्त उपर्युक्त अवतरण में स्थिर किया है, वह वास्तव में नागरिक जीवन के लिए एक उच्च मानवीय आदर्श है। इस सिद्धान्त के समुज्वल प्रकाश में नागरिकगण कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का निर्णय बड़ी आसानी के साथ कर सकेंगे।

---

१ श्री भगवानदास केला : ''नागरिक-शास्त्र' (१९३२) पृ० ३१४

: १० :

प्रजातन्त्र

प्रजातन्त्र क्या है ?

प्रजातन्त्र के सम्बन्ध में विचार करने से पूर्व यह भली भांति जान लेना चाहिए कि प्रजातंत्र केवल राजनीतिक सिद्धान्त एवं पद्धति ही नहीं है बल्कि वह एक सामाजिक सिद्धान्त और प्रणाली भी है। प्रजातंत्र का अर्थ है वह सिद्धान्त या शासन-प्रणाली जिसके अनुसार राज्य की शासन-सत्ता उसके किसी एक व्यक्ति या वर्ग में निहित न होकर समाज के प्रत्येक सदस्य में निहित होती है। इसका अर्थ यह है कि राज्य का शासन सम्पूर्ण समाज के सदस्यों की सम्मति से होना चाहिए। प्रसिद्ध राजनीतिक लेखक श्री जेम्स ब्राइस का कथन है कि सरकारों का संचालन लोकमत द्वारा होता है। चाहे शासन-प्रणाली प्रजातन्त्र हो अथवा एक-तन्त्र या अभिजात-तन्त्र अथवा अधिनायक-तन्त्र, सभी प्रकार की शासन-पद्धतियों में शासन जनता की इच्छा से ही होता है।

प्रजातन्त्र और स्वेच्छाचारी शासन-तन्त्र में अन्तर यही होता है कि पहली प्रणाली के अन्तर्गत प्रजा यह अनुभव करती है कि सत्ता उसके पास है, सरकार का निर्माण उसी ने किया है और शासक प्रजा के आदेश का पालन करते हैं—अर्थात् शासन प्रजा की इच्छा के अनुसार होता है। दूसरी प्रणाली में प्रजा शासक की आज्ञा का पालन करती है; वह यह अनुभव नहीं करती कि उसका निर्माण उसी ने किया है। इस प्रकार वह शासक की आज्ञाओं का पालन करती है। दोनों में लोकमत की इच्छा से ही शासन होता है। अन्तर केवल इतना है कि प्रजातन्त्र में लोकमत स्वतन्त्र होता है और वह अपनी इच्छा से शासन का निर्माण करता है, दूसरी ओर एक-तन्त्र या अधिनायक-तंत्र में लोकमत अधिनायक या स्वेच्छाचारी शासक की सत्ता के भय या आतंक से उसका समर्थन करता है।

प्रजातन्त्र भारत के लिए नयी वस्तु नहीं है। यद्यपि प्राचीन भारत में आधुनिक ढंग की प्रजातन्त्र-प्रणाली का विकास नहीं हुआ था, तो भी यह प्रमाणित हो चुका है कि वैदिक राजा या हिन्दू नरेश स्वेच्छाचारी शासक नहीं होता था। प्राचीन काल में राजा का प्रजा की राज्य-समिति द्वारा चुनाव होता था।[१] राजा को मन्त्रि-परिषद् की सम्मति से शासन-संचालन करना पड़ता था। मन्त्रि-परिषद् के बहुमत का राजा आदर करता था।[२] राजा के कर्त्तव्यों का विधान धर्म-शास्त्रों में प्रतिपादित होता था और उसके अनुसार ही उसे कार्य करना पड़ता था। प्रजा राजा की केवल धर्मयुक्त आज्ञाओं को ही मानने के लिए बाध्य थी।[३] प्रजा को राजा के चुनने का अधिकार था परन्तु वह उसे अधिकार-च्युत भी कर सकती थी। राजा को प्रजा की सम्मति से कर वसूल करने का अधिकार था और वह पुलिस, सेना, सिविल सर्विस तथा राज्य के अन्य कार्यों का संचालन जाति-संघ, परिषदों या पंचायतों द्वारा करता था। उस समय आज जैसी वैधानिक परम्परा, पार्लिमेंट्री प्रणाली और उत्तरदायी शासन नहीं था। परन्तु ऐसे प्रमाण मौजूद हैं जिनसे यह सिद्ध है कि प्राचीन काल में भारत में प्रजातंत्र संस्थाएँ मौजूद थीं और संघ-शासन-प्रणाली का भी विकास हो चुका था।[४]

प्रजातन्त्र के प्रकार

आधुनिक काल में प्रजातंत्र के दो प्रकार हैं। एक प्रत्यक्ष प्रजातंत्र और दूसरा परोक्ष प्रजातंत्र। प्राचीन यूनान और रोम में राज्य छोटे

---

१. 'अथर्व वेद': हर्वर्ड ओरियण्टल सीरीज।

२. आत्ययिके कार्ये मन्त्रिणो मंत्रिपरिषदं चाहूय ब्रूयात्। ६३
तत्र यद्भूयिष्ठाः कार्यसिद्धिकरं वा ब्रूयुस्तत्कुर्यात्। ६४
—कौटल्य अर्थशास्त्र : अधिकरण १; अ० १५

३. 'हिन्दू राजनीति': स्व० काशीप्रसाद जायसवाल।

४. उपर्युक्त

छोटे नगरों के रूप में होते थे, इसलिए उस युग में यह संभव था कि राज्य के समस्त नागरिक स्वयं शासन-प्रणाली में भाग ले सकें। परन्तु आज के राष्ट्र-राज्य में जिनकी जनसंख्या ६ करोड़ से ३५ और ४० करोड़ तक होती है, प्रत्यक्ष रूप से शासन में भाग लेना सब नागरिकों के लिए संभव नहीं। इसीलिए सदियों पूर्व प्रतिनिधि या परोक्ष-प्रजातन्त्र का विकास किया गया था।

प्रतिनिधि-प्रजातंत्र का अर्थ यह है कि नागरिक अपने प्रतिनिधियों को अपना शासनाधिकार सौंप देते हैं और प्रतिनिधि अपने निर्वाचनों द्वारा सौंपे गये अधिकार का प्रयोग उनकी इच्छानुसार करते हैं। इसलिए यह कहा जाता है कि प्रजातंत्र में प्रजा की इच्छा से शासन होता है। निर्वाचकों द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि राज्य की धारासभाओंमें शासन-विधान का निर्माण करते हैं और फिर उसी के द्वारा राज्य का शासन होता है।

आधुनिक काल में प्रजातंत्र के दो मुख्य उदाहरण विद्यमान हैं—अंग्रेजी प्रजातंत्र और अमरीकन प्रजातंत्र। अंग्रेजी प्रजातंत्र को पार्लिमैन्ट्री या उत्तरदायी शासन-प्रणाली कहा जाता है। इस प्रणाली के अन्तर्गत निर्वाचित प्रतिनिधियों के बहुमत-दल द्वारा शासन का निर्माण होता है। जो पार्लिमेंट में बहुमत का नेता होता है, उसे सरकार बनाने का अधिकार होता है। अतः सरकार बहुमत के द्वारा पार्लिमेंट के प्रति उत्तरदायी होती है। संयुक्त राज्य अमरीका में प्रमुख शासक (Chief Executive) समस्त राज्यों के निर्वाचकों द्वारा चुना जाता है। उसे संयुक्तराज्य अमरीका की धारा-सभा (कांग्रेस) द्वारा सामान्यतया पद-च्युत नहीं किया जा सकता।

प्रजातंत्र का आधार

प्रजातंत्र का आधार क्या है ? ईश्वर ने मनुष्यों को स्वतंत्र पैदा किया है। वे किसी बंधन में नहीं हैं। ईश्वर ने सब मनुष्यों को समान पैदा किया है। सभी मनुष्यों को पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ

दी हैं। उन्हें मस्तिष्क और हृदय भी दिया ह। वे अपनी मानसिक एवं शारीरिक शक्तियों के विकास से अपने जीवन को सुखी बना सकते हैं। यह तो स्वयंसिद्ध है कि मनुष्य अपनी समस्त शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों का सामंजस्यपूर्ण विकास केवल स्वाधीन दशा में ही कर सकता है। यदि वे बंधन में रहें, तो उनका विकास स्वाभाविक ढंग से न हो सकेगा। यह भी स्वयंसिद्ध है कि मानव-जीवन का लक्ष्य शांति और आनंद की प्राप्ति है। अतः राज्य और समाज को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए, जिसमें रहकर समस्त मानव अपने इस परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ कर सकें। जिस समाज में कानून की व्यवस्था एवं नियंत्रण की सत्ता कुछ लोगों के हाथ में होगी, उसमें शेष जनता आनन्द-प्राप्ति के प्रयास में सफलता प्राप्त नहीं कर सकती। अतः इसका निष्कर्ष यह है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने समाज, राष्ट्र या राज्य की नीतियों के निर्माण में योग देना आवश्यक है, क्योंकि जबतक सभी मनुष्यों को अपनी आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति का सुयोग नहीं मिलेगा, तबतक समाज या राज्य यह निर्णय नहीं कर सकेगा कि समाज या राज्य के लिए कौनसे नियम हितकारी हैं अथवा किन नियमों के पालन न करने से समाज की हानि है? बस, प्रजातन्त्र का यही आधार है।[1]

अमरीका की स्वाधीनता की घोषणा में जो सन् १७७६ ई० में की गयी थी यह घोषित किया गया था—

"हम इन सत्यों को स्वयं-सिद्ध मानते हैं कि सब मनुष्य समान पैदा किये गये हैं। सृष्टिकर्त्ता ने उन्हें कुछ जन्म-सिद्ध अधिकार प्रदान किये हैं। इन अधिकारों में जीवन-स्वाधीनता और आनन्द-प्राप्ति के अधिकार शामिल हैं। इन अधिकारों की सुरक्षा के लिए सरकारों की स्थापना की गयी है। इन सरकारों को जो सत्ता प्राप्त है उसका आदि-स्रोत जनता ही है।"

---

१ 'प्रजातंत्र के मौलिक तत्त्व' : रामनारायण 'यादवेन्दु' : 'विश्वमित्र' मासिक, अगस्त १९४०

अगस्त सन् १७९१ ई० में फ्रांस की राष्ट्रीय परिषद् ने मानव-अधिकारों की घोषणा इस प्रकार की—

"अपने अधिकारों के सम्बन्ध में मनुष्य समान पैदा हुए हैं।... राजनीतिक समाज का उद्देश्य मनुष्य के जन्मसिद्ध तथा प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा करना है। ये अधिकार हैं नागरिक-स्वाधीनता, सम्पत्ति की सुरक्षा और अत्याचारों का विरोध।"

"समस्त प्रभुता का सिद्धान्त राष्ट्र में निहित है। कोई भी व्यक्ति किसी ऐसी सत्ता का प्रयोग नहीं कर सकता जो स्पष्ट रूप से राष्ट्र से प्राप्त न हुई हो।...समस्त नागरिकों को व्यक्तिगत रूप से या प्रतिनिधियों द्वारा क़ानून बनाने के लिए इकट्ठे होने का अधिकार है। क़ानून की दृष्टि में बराबर होने के कारण वे समान हैं। वे उन समस्त पदों व सम्मानों के अधिकारी हैं।[1]

प्रजातंत्र के तत्त्व

प्रजातंत्र के तीन मूल सिद्धान्त हैं—नागरिक-स्वाधीनता, समानता, और बंधुत्व। वास्तव में नागरिक-स्वाधीनता प्रजातंत्र का प्राण है। इसके बिना प्रजातंत्र की कल्पना संभव नहीं है। प्रजातंत्र-राज्य में नागरिक-स्वाधीनता को इतना अधिक महत्त्व प्राप्त है कि उसके शासन-विधान में सबसे प्रमुख स्थान नागरिकता के मौलिक अधिकारों की घोषणा को दिया जाता है। नागरिक-स्वाधीनता में निम्न-लिखित तत्त्व शामिल हैं—विचार-स्वाधीनता, मत-प्रकाशन की स्वाधीनता, भाषण-स्वाधीनता, सभा-संगठन की स्वाधीनता, व्यक्तित्व की स्वाधीनता, शरीर-स्वाधीनता, धार्मिक स्वाधीनता, आर्थिक स्वाधीनता, राजनीतिक स्वाधीनता। इनका विस्तृत विवेचन आठवें अध्याय में किया जा चुका है।

प्रजातंत्र का दूसरा प्रमुख तत्त्व है समानता। सब मनुष्य समान उत्पन्न हुए हैं। इसलिए राज्य को चाहिए कि वह भी क़ानून की दृष्टि में सबको समान माने और उनके साथ समानता का व्यवहार करे।

१. जेम्स ब्राइस : 'मॉडर्न डेमोक्रेसीज' (१) (१९२९)

राज्य को अपने समस्त नागरिकों की सुख-सुविधा के लिए समान अवसर व सुयोग देने चाहिएँ। समानता, के कई प्रकार हैं—राजनीतिक समानता, सामाजिक समानता, आर्थिक समानता आदि। राजनीतिक समानता से प्रयोजन यह है कि राज्य के समस्त नागरिकों को, जो योग्य हों, देश के शासन-संचालन में भाग लेने का समान अधिकार हो। शासन-संचालन किसी वर्ग-विशेष का एकाधिकार नहीं होना चाहिए। इसीलिए मताधिकार नागरिकों को प्राप्त है। वह इसी के द्वारा शासन में भाग लेने के अधिकारी हैं। परन्तु राजनीतिक समानता की सफलता के लिए सामाजिक समानता भी जरूरी है। जबतक समाज में प्रत्येक नागरिक को समान न माना जायेगा, तबतक उसका कोई राजनीतिक महत्त्व नहीं। इसी का एक फलितार्थ है—आर्थिक समता या आर्थिक न्याय। समाज में सब वर्गों के सुख के लिए आर्थिक समता जरूरी है। यदि पाश्चात्य देशों में प्रजातंत्र-प्रणाली विफल सिद्ध हुई है तो उसका एक मात्र कारण यही है कि प्रजातंत्र-प्रणाली ने पूँजीवाद के साथ गठ-बन्धन करके समाज में विषमता को जन्म दिया।

समाज में सच्ची बन्धुत्व की भावना उसी समय उत्पन्न हो सकती है जबकि उसमें नागरिक-स्वाधीनता और समानता का सिद्धान्त पूर्णतया प्रतिष्ठित हो गया हो और नागरिकों ने अपने दैनिक जीवन में उनके अनुसार आचरण करने का प्रयत्न किया हो।

प्रजातंत्र के उपर्युक्त तीन तत्त्वों के अतिरिक्त राज्य के नागरिकों में सार्वजनिक शिक्षा की भी व्यवस्था हो। जबतक नागरिक सार्वजनिक प्रश्नों में दिलचस्पी न लेंगे तबतक प्रजातंत्र का सफल होना संभव नहीं। इसके लिए नागरिक-शिक्षा के प्रसार की जरूरत है। जनता में उच्च सार्वजनिक जीवन के प्रति आकर्षण पैदा किया जाये। चरित्रवान् लोग सार्वजनिक कार्यों का संपादन करें। प्रत्येक नागरिक को स्वतंत्र रूप से सोचने का अभ्यास डाला जाये तथा उसका दृष्टिकोण गतिशील बनाया जाये। लोकमत भी प्रगतिशील एवं शिक्षित होना चाहिए। मतलब यह है कि समस्त सामाजिक जीवन का पुनस्संगठन प्रजातंत्र के आधार पर

होना चाहिए और नागरिकों को प्रजातंत्र के आदर्शों एवं व्यवहारों का ज्ञान कराया जाये ।

इस प्रकार का प्रजातंत्रवादी समाज ही सच्चे प्रजातंत्र-राज्य का विकास सफलतापूर्वक कर सकता है ।

प्रजातन्त्र-शासन के गुण

(१) प्रजातन्त्र-शासन का सबसे बड़ा गुण तो यह है कि जनता का शासन जनता की इच्छा से उसके चुने हुए प्रतिनिधियों की राज्य-संस्थाओं द्वारा होता है। इस प्रकार राज्य-प्रबन्ध पर लोकमत का नियंत्रण रहता है । राज्य के बहुमत-दल का शासन होता है, और यह दल पार्लमेंट के द्वारा प्रजा के प्रति उत्तरदायी होता है ।

(२) प्रजा की इच्छानुसार शासन होने के कारण यह शासन-पद्धति स्थायी है, राजतन्त्र या अधिनायक-तंत्र की भाँति अस्थायी नहीं ।

(३) प्रजातन्त्र में जनता यह अनुभव करती है कि उसी ने शासन की रचना की है और जो क़ानून शासन-संस्थाओं द्वारा बनाये जाते हैं, वे उसी की इच्छा से बनाये जाते हैं । इसलिए जनता राज्य के क़ानून का स्वेच्छा से पालन करती है ।

(४) जनता में राष्ट्र के प्रति प्रेम पैदा होता है। स्वराष्ट्र की रक्षा के लिए नागरिक स्वेच्छा से बड़े से बड़ा बलिदान करने को उद्यत रहते हैं।

(५) प्रजातंत्र-राज्य में विविध राजनीतिक या सामाजिक वर्गों में सामंजस्य स्थापित होजाता है । अतः वे परस्पर संघर्ष नहीं करते ।

(६) प्रजातंत्र में जनता की इच्छा से शासन होता है, इसलिए भीषण राज्यक्रान्ति की संभावना कम होती है । रक्तपातपूर्ण क्रान्तियाँ सदैव ऐसे राज्यों में होती हैं जिनमें लोकमत का दमन करके शासन चलाया जाता है ।

(७) प्रजातंत्र में शासन-कर्त्ता स्वेच्छाचारिता का प्रदर्शन नहीं कर सकते और न वे न्यायालय के कार्यों को छीनकर स्वयं न्याय की व्यवस्था कर सकते हैं ।

(८) प्रजातंत्र में जनता को नागरिक-शिक्षा प्राप्त करने का सुयोग मिलता है। वह सार्वजनिक प्रश्नों के संबंध में दिलचस्पी लेती है। उसमें सार्वजनिक हित के प्रश्न पर अपना स्वतंत्र मत प्रकट करने की क्षमता होती है।

प्रजातंत्र-शासन के दोष

प्रजातंत्र-शासन में जहाँ इतने गुण हैं वहाँ उसमें—उसकी प्रणाली में कुछ दोष भी हैं जिनमें से निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय हैं—

(१) प्रजातंत्र की शासन-संस्थाएँ मन्द गति से ही अपना कार्य-संचालन कर सकती हैं। किसी प्रश्न पर, आवश्यकता के समय, शीघ्रता से निर्णय करने की सुविधा कम होती है।

(२) लोकमत की प्रगतिशीलता के कारण जनता के विचारों में परिवर्तन होता रहता है। किसी भी सार्वजनिक प्रश्न पर मंत्रि-मण्डल में अथवा पार्लिमेंट में मतभेद होजाने से सरकारें त्यागपत्र दे देती हैं। फिर नये चुनाव होते हैं। इस प्रकार शासन-कार्य में अव्यवस्था बहुत होती रहती है।

(३) प्रजातंत्र-प्रणाली में बहुमत जब अल्पमत के विचारों का आदर नहीं करता तब अल्पमत अनेक प्रकार के विवाद तथा उपद्रव पैदा करता है। यह विवाद और संघर्ष पार्लिमेंट या धारासभा के सदस्यों तक ही समिति नहीं रहता प्रत्युत अल्पमत जनता पर भी अपना प्रभाव डालता है और जनता में उपद्रव और विद्रोह खड़े हो जाते हैं।

(४) प्रजातंत्र में जनता में नवीन आदर्शों, नवीन भावनाओं तथा नयी विचारधाराओं के कारण नवीनता के प्रति विशेष आकर्षण हो जाता है। इस प्रकार जनता में प्राचीन संस्थाओं को नष्ट करने और उनकी जगह नयी संस्थाएँ खड़ी करने का एक रिवाज-सा चल पड़ता है।

(५) प्रजातंत्र में प्रचार या प्रोपेगेंडा एक महान् शक्ति है। प्रत्येक

राजनीतिक दल नियमित रूप से अपने सिद्धान्तों एवं कार्यों का जनता में प्रचार करता है। जिस दल के पास प्रचार का अच्छा साधन होता है, वह, चाहे प्रजा का उतना हितैषी दल न हो, तव भी अपने प्रोपेगेंडा की वदौलत चुनावों में विजय प्राप्त कर लेता है। प्रोपेगेंडा से जहाँ लाभ हैं, वहाँ हानियाँ भी अनेक हैं। प्रोपेगेंडा की अधिकता का जनता पर वुरा प्रभाव पड़ता है। वह किसी भी प्रश्न को स्वतंत्र वुद्धि से सोचने की क्षमता खो वैठती है।

(६) प्रजातंत्र में शिक्षा के अभाव के कारण जव अधिकांश जनता अज्ञानी और अशिक्षित होती है तव अयोग्य, स्वार्थी तथा अवसरवादी व्यक्ति नेता वन वैठते हैं। जव ऐसे लोगों के हाथ में शासन-सत्ता आ जाती है, तव वे अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए उसका दुरुपयोग करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि निर्वाचनों में रिश्वतखोरी का वड़ा आतंक रहता है।

(७) प्रजातंत्र राज्य-प्रणाली के साथ सारी जनता सहयोग करने को प्रस्तुत रहती है, तो भी अत्यन्त विचारशील पुरुष, तत्ववेत्ता, महान् धर्मात्मा अथवा अत्यन्त उच्च श्रेणी के महापुरुषों के लिए प्रजातंत्र में कोई खास आकर्षक या उत्तेजक वात नहीं होती।

प्रजातंत्र में जो उपर्युक्त दोष वतलाये गये हैं वे उसकी उस प्रणाली में हैं जो पाश्चात्य देशों में स्थापित है। प्रजातंत्र के आदर्श में कोई दोष नहीं है। ये दोष व्यवहार के हैं जो प्रयत्न करने पर दूर भी हो सकते हैं।

भारतवर्ष और प्रजातंत्र

भारत के सभी विद्वान और राजनीतिक दल इस विषय में एक मत हैं कि भारत के लिए प्रजातंत्र-राज्यप्रणाली ही सवसे श्रेष्ठ और उपर्युक्त है। भारत-राष्ट्रीय महासभा का लक्ष्य भारत में स्वाधीन प्रजातंत्र-राज्य की स्थापना है। मुस्लिम लीग ने जव अपने लखनऊ अधिवेशन

(अक्टूबर, १९३७) में अपना लक्ष्य 'पूर्ण स्वाधीनता' को पाना मंजूर किया तब उसके अध्यक्ष श्री मुहम्मदअली जिन्ना ने बड़े ओजस्वी शब्दों में लीग के ध्येय की घोषणा करते हुए कहा—"**मुस्लिम लीग भारत के लिए पूर्ण राष्ट्रीय प्रजातन्त्रात्मक स्वराज्य चाहती है।**" सिक्ख, भारतीय ईसाई, दलितवर्ग, लिबरलदल, हिन्दू महासभा आदि सभी दल प्रजातन्त्र के आदर्श में विश्वास करते हैं।

पाकिस्तान

विगत लाहौर अधिवेशन (मार्च, १९४०) से मुसलिम लीग ने एक प्रस्ताव स्वीकार करके यह कुप्रचार करना शुरू कर दिया है कि भारत में दो राष्ट्र हैं—हिन्दू और मुसलमान। इसलिए भारत में प्रजातन्त्र-प्रणाली उपयुक्त नहीं है। हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिए अलग-अलग राज्य होने चाहिएँ। मुसलमानों का राज्य—पाकिस्तान—उत्तर-भारत में रहे जिसमें सीमा-प्रान्त, बिलोचिस्तान, पंजाब, सिन्ध, बंगाल आदि शामिल हों। शेष भारत में हिन्दू-राज्य क़ायम किया जाये। मुसलिम लीग के नेता श्री जिन्ना ने यह पाकिस्तान की नयी योजना तैयार की है। परन्तु इस योजना को भारत के समस्त मुसलमानों ने तो क्या उनके बहुमत ने भी स्वीकार नहीं किया। कांग्रेस, हिन्दू महासभा, सिक्ख, ईसाई तथा लिबरल सभी इस योजना का घोर विरोध कर रहे हैं। इस प्रकार भारत में पाकिस्तान की स्थापना राष्ट्र के लिए खतरनाक है। और इसकी स्थापना का स्वप्न भी पूरा नहीं हो सकता।

: ११ :

धार्मिक जीवन

नागरिक-जीवन और धर्म

मानव-जीवन में धर्म का स्थान सदैव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है। संसार में कोई भी ऐसा देश नहीं जहाँ किसी-न-किसी धर्म के अनुयायी न हों किन्तु भारत तो धर्म-प्रधान देश ही कहलाता है। भारतीय जीवन के सब अंगों—राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक—पर धर्म का प्रभाव है। यहाँ 'धर्म' की परिभाषा है—**यतोऽभ्युदयनिश्रेयससिद्धिः स धर्मः**—जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि हो वही धर्म है। वह मत मजहब या 'रिलीजन' के संकुचित अर्थोंवाला नहीं रहा। धर्म केवल योगियों या धर्माचार्यों की साधना की वस्तु नहीं है। वह जीवन के प्रत्येक अंग को स्पर्श करता है। हिन्दुओं के धर्म-ग्रंथ वेद हैं। उनमें मानव-जीवन की पूर्णता के लिए नियम और साधन बतलाये गये हैं। वे केवल आध्यात्मिक ज्ञान के कोष ही नहीं है, भौतिक ज्ञान के भी अक्षय भांडार हैं। सभी विद्वानों ने यह स्वीकार किया है कि भारत की संस्कृति आध्यात्मिक है और भारतीय जनता की धर्म में बड़ी श्रद्धा है। यहाँ धर्म ने ही मानव-जीवन को सुन्दर, श्रेष्ठ और पूर्ण बनाने और धर्म-भावना ने मानव के नैतिक धरातल को ऊँचा उठाने में विशेष योग दिया है। धर्म हमें सामाजिक उत्कर्ष के लिए ही प्रेरित नहीं करता बल्कि हमारे वैयक्तिक जीवन में भी आनन्द और शांति का सृजन करता है।

(१) वैदिक धर्म

हिन्दूधर्म संसार का सबसे प्राचीन धर्म है। इसी का वास्तविक नाम वैदिक धर्म है; परन्तु भारतवर्ष में विदेशियों के आगमन के बाद इस धर्म को 'हिन्दू धर्म' कहने लगे। यह नाम विदेशियों का रखा हुआ है। वेद, उपनिषद्, दर्शन तथा मनुस्मृति में 'हिन्दू' नाम का कहीं भी उल्लेख

नहीं मिलता। धार्मिक ग्रन्थों में इस धर्म का नाम 'आर्य्य धर्म' लिखा है।

उत्तर भारत प्राचीन समय में 'आर्यावर्त' के नाम से प्रसिद्ध था और उसके निवासियों को 'आर्य्य' कहा जाता था। 'आर्य्य' का अर्थ है श्रेष्ठ, उत्तम, मान्य पुरुष।

चारों वेद (ऋक्, यजु, साम, अथर्व) संसार के सबसे प्राचीन ग्रंथ हैं और वैदिक धर्म संसार का आदि-धर्म है। जब ब्रह्मा ने सृष्टि उत्पन्न की तो सबसे पहले उन्होंने चार ऋषियों को ज्ञान दिया। यही ईश्वरीय ज्ञान 'वेद' है जो उन ऋषियों के द्वारा मानव-समाज के लिए सुलभ हो सका।

उपनिषद् वेदों की व्याख्याएँ हैं जो बाद में ऋषियों ने कीं। इसी प्रकार दर्शनशास्त्र भी मुनियों द्वारा प्रणीत हैं। स्मृतियों में धर्म के नियम हैं। वे एक प्रकार से क़ानून-संग्रह हैं। सबसे प्राचीन स्मृति मानवधर्म-संग्रह है। यह 'मनुस्मृति' के नाम से भी प्रसिद्ध है।

वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण, शास्त्र, और मनुस्मृति सब संस्कृत भाषा में हैं। योगदर्शन के अनुसार वैदिक धर्मानुयायी को निम्न लिखित दस नियमों का पालन करना चाहिए। ये यम-नियम इस प्रकार हैं:—

(१) **अहिंसा**—मन, वचन और कर्म से प्राणी-मात्र से प्रेम करना तथा किसी भी प्राणी को हानि न पहुँचाना।

(२) **सत्य**—मन, वचन कर्म से सत्य का पालन करना।

(३) **अस्तेय**—मन, वचन, कर्म से चोरी का त्याग।

(४) **ब्रह्मचर्य्य**—वीर्य-रक्षा करते और संयमपूर्ण जीवन बिताते हुए, ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करके ब्रह्म-प्राप्ति की साधना करना।

(५) **अपरिग्रह**—आवश्यकता से अधिक का संग्रह न करना तथा स्वाभिमान-रहित रहना।

(६) **शौच**—जलादि से शरीर तथा वस्त्रों की शुद्धि, पवित्र विचारों से मन की शुद्धि तथा ब्रह्म-ज्ञान से आत्मा की शुद्धि करना।

(७) **सन्तोष**—पुरुषार्थ करना तथा हानि-लाभ में शोक न करना।

(८) तप—कष्ट सहन करते हुए भी धर्मसम्मत कार्यों का अनुष्ठानकरना।
(९) स्वाध्याय—स्वयं पढ़ना तथा दूसरों को पढ़ाना।
(१०) ईश्वर-प्रणिधान—ईश्वर की भक्ति में आत्म-समर्पण।

इस प्रकार संक्षेप में, सूत्ररूप में योगदर्शन-कार ने धर्म के दस नियम वतलाये हैं। इनके अनुसार आचरण करके मनुष्य न केवल लौकिक सुख ही प्राप्त कर सकता है, प्रत्युत मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है।

वैदिक धर्म के मौलिक सिद्धान्त इस प्रकार हैं :

(१) एकेश्वरवाद—इस विश्व और ब्रह्माण्ड का कर्त्ता केवल एक ईश्वर है। वह सर्वशक्तिमान्, निर्विकार, अजन्म, अनादि, सर्वव्यापक और सर्वज्ञ आदि है।
(२) जीव चेतन है और अनन्त है। वह अमर है, अजन्म है और अनादि है। जीव में इच्छा, ज्ञान और प्रयत्न होता है। जीव जैसे कर्म करता है, वैसा ही उसे फल मिलता है। जव जीव श्रेष्ठ कर्म करता है और उसे मोक्ष मिल जाता है तव वह १५ खरव, ५५ अरव, २० करोड़ वर्ष वाद पुनः शरीर धारण करता है।
(३) जीव एक शरीर का त्याग करके दूसरी योनि में जाता है। इस प्रकार पुर्नजन्म में विश्वास वैदिक सिद्धान्त है।
(४) यह सृष्टि-रचना प्रकृति और जीव से हुई है। प्रकृति जड़ है। उसमें चेतनता का अभाव है। प्रकृति का कभी नाश नहीं होता। इसलिए वह अनादि है, अनन्त है।
(५) वैदिक धर्म के अनुसार मानव-जीवन चार आश्रमों में विभाजित है—ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास।
(६) इसी प्रकार मानव-समाज गुण, कर्म और स्वभाव के आधार पर चार वर्णों में विभाजित है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।
(७) वैदिक धर्म मूर्तिपूजा और अवतारवाद में विश्वास नहीं करता।
(८) वैदिक धर्म जात-पांत और अस्पृश्यता की भी आज्ञा नहीं देता।

आज भारतवर्ष में वैदिक धर्म के इस स्वरूप की झलक आर्य-समाज में ही विद्यमान है, परन्तु वह भी पूर्णतया इसका पालन नहीं करता।

शेष हिन्दू-समाज में आज वैदिक धर्म का केवल विकृत रूप ही रह गया है। वैदिक धर्म के अनुयायियों में अनेक धार्मिक पंथ और प्रचलित हैं। हिन्दू-समाज के अन्तर्गत विविध प्रमुख मत इस प्रकार हैं—

(२) जैन मत

ईसा से ६ शताब्दियों पहले महावीर ने जैन मत की स्थापना की थी। जैन मत वैदिक धर्म की प्रतिक्रिया के रूप में उदय हुआ था। वह वैदिक धर्म के कुछ सिद्धान्तों को स्वीकार करता है। वस्तुतः वह हिन्दू धर्म का ही एक रूप है।

जैन-मत जगत की उत्पत्ति का कर्त्ता ईश्वर को नहीं मानता और न वह वैदिक वर्ण-व्यवस्था को मानता है। जैन मत शरीर और मन की शुद्धता पर जोर देता है। इस मत के तीन मूल तत्त्व हैं—ज्ञान, भक्ति और सदाचार। इन तीनों के द्वारा मोक्ष प्राप्त हो सकती है।

विश्व में दो शक्तियाँ हैं—प्रकृति और आत्मा। विशुद्ध आत्मा जब भौतिक शरीर में आजाता है तब वह दुःख का कारण बन जाता है। इसलिए तपस्या द्वारा इस शरीर को कष्ट देना चाहिए जिससे आत्मा इसका परित्याग करके मोक्ष का आनन्द भोग सके। निर्वाण में अतीत के कर्मों का नाश हो जाता है और आत्मा शरीर-बन्धन से मुक्त हो जाता है। जैन मत के अनुसार श्रेष्ठ आचरण के लिए निम्नलिखित नियमों का पालन करना चाहिए—(१) अहिंसा (२) सत्य (३) अस्तेय (४) शौच (५) त्याग।

जैन मत की पुस्तकें 'आगम' कहलाती हैं। जैनों में दो सम्प्रदाय हैं—श्वेताम्बर और दिगम्बर। श्वेताम्बर श्वेत वस्त्र धारण करते हैं और दिगम्बर वस्त्र धारण नहीं करते, नग्न रहते हैं। यद्यपि जैनमत के प्रवर्तक महावीर नास्तिक और मूर्तिपूजा के विरोधी थे, तो भी आजकल जैन मतावलम्बी महावीर की मूर्तियाँ बनाकर उनकी पूजा करते हैं। अहमदाबाद, इलोरा अजमेर, आबू और काठियावाड़ में जैन-मन्दिरों की प्रधानता है। ये जैनों के तीर्थ-स्थान हैं। सन् १९३१

की जनगणना के अनुसार भारत में १२ लाख ५१ हजार १०५ जैन हैं।

यद्यपि हिन्दू धर्म जैन धर्म से भिन्न है परन्तु इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि जैन अपने को हिन्दू ही मानते हैं और हिन्दू भी जैन धर्मावलम्बियों को हिन्दू मानते हैं। वे गौ-पूजा करते हैं, हिन्दू देव-मन्दिरों में जाते हैं, हिन्दू उत्तराधिकार क़ानून को मानते हैं; हिन्दू पर्वों और उत्सवों को मानते हैं और भाषा और संस्कृति की दृष्टि से भी वे हिन्दू ही हैं।

(३) बौद्ध मत

बौद्ध मत की प्रतिष्ठा ईसा से पूर्व पाँचवी शताब्दी में गौतम बुद्ध ने की थी। महात्मा बुद्ध के मतानुसार जीवन दुःखमय है; समस्त दुःखों का कारण मोह और तृष्णा है। अतः इच्छाओं के दमन द्वारा ही दुःखों का परिहार हो सकता है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए बुद्ध ने निम्नलिखित नियमों के पालन पर जोर दिया है—(१) अहिंसा (२) अस्तेय, (३) ब्रह्मचर्य (४) सत्य (५) ईर्ष्या-त्याग (६) शिष्ट भाषण (७) प्रलोभन-त्याग (८) घृणा-परित्याग (९) अज्ञान-निवारण

बौद्ध मत में मुक्ति के लिए ईश्वर-भक्ति और ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। उसमें नीति-मार्ग पर अधिक जोर दिया गया है। उसकी दृष्टि में आत्म-संयम ही मोक्ष का साधन है। बौद्ध मत में अहिंसा को सबसे उच्च स्थान प्राप्त है। इस धर्म का प्रचार एशिया में खूब हुआ। यद्यपि भारत में तो बौद्ध-मतानुयायियों की संख्या बहुत ही कम है, परन्तु ब्रह्मा, लंका, तिब्बत, मंगोलिया, चीन और जापान में बौद्ध मत का ही प्रचार अधिक है क्योंकि सम्राट अशोक ने बौद्ध मत का अनुयायी बनकर उसके विस्तार के लिए इन देशों में महान् उद्योग किया था।

बौद्धमत के अन्तर्गत दो बड़े सम्प्रदाय हैं—हीनयान और महायान। हीनयान सम्प्रदाय के अनुयायी बुद्ध के उपदेशों में श्रद्धा रखते हैं; वे बुद्ध को एक शिक्षक के रूप में मानते हैं जिसने दुःखों से मुक्ति पाने का मार्ग बतलाया। महायान सम्प्रदाय के अनुयायी

बुद्ध को भगवान् मानते हैं और उन्हें सर्वज्ञ एवं अमर मानकर उनकी पूजा करते हैं।

बुद्ध हिन्दुत्व के पुजारी थे। वह वास्तव में हिन्दू-समाज के एक महान् क्रान्तिकारी सुधारक थे। उनके महान् कार्य की विशेषता यह है कि उन्होंने उपनिषदों के सिद्धान्तों और वेद के उपदेशों को व्यावहारिक जीवन में ओतप्रोत कर उनकी सत्यता सिद्ध की। बुद्ध ने ईश्वर और आत्मा के संबंध पर भी उतना अधिक जोर नहीं दिया जितना लोक-कल्याण और सेवा-धर्म पर। उन्होंने भारत में प्रचलित जाति-प्रथा की निस्सारता को सिद्ध करके मानव-बन्धुत्व की स्थापना की। उन्होंने स्त्रियों की स्थिति में भी सुधार किया। वास्तव में बुद्ध विश्व-प्रेम के मानवीय उच्चादर्श को जीवन में चरितार्थ करनेवाले मानवता के महान् पुजारी थे। परन्तु आज बौद्धमतानुयायी बुद्ध के आदर्शों व सिद्धान्तों के सर्वथा विपरीत आचरण कर रहे हैं।

सिक्ख मत

सिक्ख मत नवीन मत है। यह हिन्दू-समाज में सुधार करने के लिए एक ऐसे युग में प्रचलित हुआ था जबकि हिन्दुत्व पतन की चरम-सीमा को पहुँच चुका था। जब हिन्दुत्व पर विजातीय शासकों द्वारा आक्रमण हो रहा था, तब गुरु नानक (सन् १४६९-१५३८) ने सिक्ख मत की स्थापना की थी। गुरु नानक ने देश में भ्रमण कर लोगों को यह सन्देश दिया कि सबको ईश्वर की सत्ता में विश्वास करना चाहिए। कहा जाता है कि हिन्दुओं के अतिरिक्त मुसलमान भी नानक के भक्त बन गये। गुरु नानक का जातपाँत और अस्पृश्यता में विश्वास नहीं था। सब मनुष्य समान हैं—यही उनका मूल सिद्धान्त था। सिक्खों का धर्म-ग्रन्थ 'आदि-ग्रन्थ' है। सिक्खमतानुसार ईश्वर एक और सर्वव्यापक है, वह अभय, अमर, अजन्म, स्वयम्भू, महान् और दयालु है। वह सत्य था, सत्य है और सदैव सत्य रहेगा। उसके सिवा दूसरा कोई नहीं। अनेक गुणों के कारण ईश्वर के अनेक नाम हैं, पर उसका मुख्य नाम

सतनाम है। सिक्ख मत में इस जगत को अनित्य माना गया है और कहा गया है कि ईश्वर के ज्ञान से ही मोक्ष मिल सकता है; अतः उसी का ध्यान करना चाहिए और उसके ही चरणों में आत्म-समर्पण करना चाहिए। सिक्ख मत मूर्ति-पूजा में विश्वास नहीं करता और न वलि देने में ही उसका विश्वास है। सिक्ख गुरु-परम्परा को मानते हैं। उनके दस गुरु हुए हैं—(१) नानक (२) अंगद (३) अमरदास (४) रामदास (५) अर्जुन (६) हरगोविन्द (७) हरराम (८) हरकिशन (९) तेगवहादुर (१०) गोविन्दसिंह। नानक के स्वर्गवास के बाद सिक्ख मत में एक नये सम्प्रदाय का उदय हुआ जो दसवें गुरु के जीवन-काल में पूर्णतया सुसंगठित हो चुका था। सिक्खों को हिन्दुत्व की रक्षा के लिए विजातीय शासकों से लोहा लेना पड़ा, इसलिए सिक्ख-मत सैनिक संगठन में परिणत हो गया। यह नवीन सम्प्रदाय 'खालसा पंथ' कहलाता है। इसके विपरीत जो नानक के शान्ति के उपदेशों में विश्वास करते हैं वे 'नानक-पंथी' कहलाते हैं।

भारत में सिक्खों की सबसे अधिक संख्या पंजाब में है। भारत में कुल सिक्ख ४३ लाख २५ हजार ७७१ हैं। सिक्ख पंच ककार धारण करते हैं—केश, कच्छ, कड़ा, कृपाण और कंघा।

हिन्दू-समाज के अन्य मत-मतान्तर

उपर्युक्त प्रमुख मतों के अतिरिक्त हिन्दू-समाज में और भी विविध मत एवं पथ हैं। हम संक्षेप में इनका उल्लेख करते हैं।

हिन्दू-समाज में अगणित मतों के प्रादुर्भाव का कारण यह है कि भिन्न-भिन्न देवताओं को ईश्वर का प्रतीक माना गया है—जैसे ब्रह्मा, विष्णु, महादेव आदि।

अज्ञानवश लोगों ने अपने इष्ट देवता को ही सर्वोपरि प्रधानता देकर विविध पथों की कल्पना कर डाली। उन्होंने अपने इष्ट-देवता को ईश्वर का अवतार माना और उसकी मूर्ति बनाकर पूजा करने लगे। विष्णु के माननेवाले वैष्णव और शिव के माननेवाले शैव कहलाये। यही

नहीं, लोगों ने देवियों की भी कल्पना की—जैसे सरस्वती, लक्ष्मी, पार्वती आदि। ब्रह्मा की देवी सरस्वती, विष्णु की देवी लक्ष्मी और शिव की देवी पार्वती या दुर्गा मानी गयी। इन तीनों देवियों को आदिशक्ति माना गया है और इनके उपासक शाक्त कहलाते हैं। इनके अलावा हिन्दू-समाज में कबीर-पंथ, दादू-पंथ, गोसाईं सम्प्रदाय, माधव और नारायण सम्प्रदाय और वाममार्ग आदि अनेक पंथ और सम्प्रदाय प्रचलित हैं जो किसी संत अथवा आचार्य के नाम पर क़ायम हुए हैं।

आर्यसमाज

उन्नीसवीं सदी में जब भारत में वैदिक धर्म के प्रति हिन्दुओं की श्रद्धा नष्ट हो रही थी, धार्मिक क्षेत्र में पाखण्ड और दम्भ का ज़ोर बढ़ रहा था और समाज नैतिक पतन की ओर तेजी से अग्रसर हो रहा था, तब धार्मिक हिन्दू जाति के अन्धविश्वास, और अज्ञान को दूर करने के लिए स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना की। उन्होंने समस्त भारत में भ्रमण करके वैदिक-धर्म-विरोधी मत-मतान्तरों का खण्डन किया और वैदिक धर्म के सच्चे स्वरूप को जनता के सामने प्रस्तुत किया। स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज के १० नियम निर्धारित किये जो इस प्रकार हैं—

(१) सब सत्य विद्या का और उससे समझे जानेवाले सब पदार्थों का आदिमूल परमात्मा है।

(२) ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है। उसी की उपासना करना उचित है।

(३) वेद सत्य विद्याओं की पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना आर्यों का परम धर्म है।

(४) सत्य को ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने को सदा उद्यत रहना चाहिए।

(५) सब काम धर्मानुसार सत्य और असत्य का विचार करके करना चाहिए।

(६) संसार का उपकार अर्थात् आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना आर्यसमाज का मुख्य उद्देश्य है।
(७) सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य आचरण करना चाहिए।
(८) अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।
(९) प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।
(१०) सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतंत्र और प्रत्येक हितकारी नियम में स्वतंत्र रहना चाहिए।

आर्यसमाज के द्वारा हिन्दू-समाज में अनेक क्षेत्रों में सुधार हुए। उसने वेद-कालीन गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली की स्थापना की तथा कन्याओं की शिक्षा के लिए अलग कन्या-गुरुकुल खोले। स्त्रियों में शिक्षा-प्रचार और पर्दा-प्रथा-निवारण के लिए खास तौर से काम किया। बाल-विवाह तथा वैवाहिक कुरीतियों के निवारण के लिए भी महान् प्रयत्न किया गया। मादक-द्रव्य-निषेध, हिन्दी-भाषा प्रचार विधवा-विवाह, अनाथों की रक्षा तथा शुद्धि-संगठन – ये आर्य-समाज के मुख्य आन्दोलन हैं। आर्यसमाज ने ऐसी सर्वतोमुखी क्रान्ति का प्रादुर्भाव किया कि जिससे मृतप्राय हिन्दू-जीवन में जागरण, शक्ति और स्फूर्ति का संचार होगया। भारतवर्ष में आज भी प्रत्येक नगर और जिले में आर्य समाज कार्य कर रहा है। भारत के बाहर भी यूरोप, अमरीका और अफ्रीका में जहाँ भारतीय प्रवासी रहते हैं, आर्यसमाज की संस्थाएँ हैं।

ब्राह्म-समाज

सन् १८२८ में बंगाल में राजा राममोहन राय ने उपनिषदों के ब्रह्म की उपासना के लिए ब्राह्मसमाज' की स्थापना की। सन् १९३० में सबसे पहले उसका मन्दिर स्थापित किया गया जिसमें सबको प्रवेश की आज्ञा दी गयी। ब्राह्मसमाजी मूर्तिपूजा, जातपाँत, अस्पृश्यता आदि कुप्रथाओं को नहीं मानते। इस प्रकार 'ब्राह्म-समाज' ने हिन्दुओं को विधर्मी होने से बचाया।

रामकृष्ण-मिशन

सन् १८३३ में बंगाल में रामकृष्ण परमहंस का जन्म हुआ। वे ईश्वर के अनन्य भक्त थे। सांसारिक सुखों को त्याग कर उन्होंने संन्यास-व्रत लिया और योग-समाधि द्वारा ईश्वर की प्राप्ति के लिए साधना की। उन्होंने यह अनुभव किया कि सब धर्मों मे एकता है। इसलिए उन्होंने किसी धर्म का खण्डन नहीं किया। स्वामी विवेकानन्द, जो रामकृष्ण के महान् शिष्यों में से थे, वेदांत के प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने वेदान्त का प्रचार विदेशों में भी किया। स्वामी रामकृष्ण के उपदेशों का प्रचार करनेवाली संस्था 'रामकृष्ण मिशन' नाम से प्रसिद्ध है।

इस्लाम धर्म

इस्लाम या मुसलमान धर्म संसार के प्रमुख धर्मों में से है। इसके संस्थापक हज़रत मुहम्मद की जन्म-भूमि एशिया महाद्वीप के अरब देश में है। अरबवासियों के द्वारा ही यह धर्म भारत, अफगानिस्तान, मिश्र, तुर्की आदि देशों में फैलाया गया। मुहम्मद साहब के उपदेशों का संग्रह 'कुरान' में है। जब मुसलमानों का राज्य हिन्दुस्तान में हुआ तो उन्होंने भी अपना धर्म यहाँ प्रचलित किया। कई मुसलमान बादशाहों ने धर्मप्रचार के लिए हिन्दू जनता पर बड़े अत्याचार किये, किन्तु अकबर आदि ने जनता को पूर्ण स्वतन्त्रता दी। मुहम्मद साहब के उपदेशों का सार यह है:—

(१) एक ईश्वर में विश्वास करो।
(२) क़ुरान में विश्वास करो।
(३) खुदाई निर्णय, स्वर्ग और नर्क में विश्वास करो।
(४) पैगम्बरों में भक्तिभाव रखो।
(५) प्रतिदिन यह पाठ करना चाहिए कि "अल्लाह के सिवा और कोई ईश्वर नहीं है। मुहम्मद अल्लाह का पैगम्बर है।"
(६) मक्का की ओर मुहँ करके दिन मे ३ से ५ बार तक नमाज पढ़नी चाहिए।

(७) दान-दक्षिणा देनी चाहिए ।

(८) रमजान के दिनों में व्रत रखना चाहिए ।

(९) मक्का की तीर्थ-यात्रा करनी चाहिए ।

इस्लाम का मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं है। उसका भ्रातृभाव और समानता का सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, और उसका द्वार सब मनुष्यों के लिए खुला हुआ है। मुहम्मद साहब ने कर्म पर अधिक जोर दिया है। उन्होंने लिखा है—

"जो सच्चाई के साथ अपनी जीविका कमाते हैं, उन्हें ईश्वर प्रेम करता है।"

"ईश्वर उन लोगों पर कृपा करता है जो अपनी मेहनत से कमाते हैं और भिक्षावृत्ति पर निर्भर नहीं रहते।"

दान-दक्षिणा के सम्बन्ध में मुहम्मद साहब ने लिखा है—

"दान देना प्रत्येक मुसलमान का धर्म है। जिसके पास दान देने के लिए कुछ नहीं, उसे चाहिए कि वह दूसरों के साथ भलाई करे और बुराई से अलग रहे। यही दान है।

"भूखों को भोजन दो; रोगियों की सेवा करो। आपत्ति-ग्रस्त व्यक्ति की (चाहे वह मुसलमान हो या ग़ैर-मुसलमान) मदद करो।"

सहनशीलता की भावना के संबंध में मुहम्मद साहब का आदेश है—

"पूरा मुसलमान वही है जिसके वचन और कर्म से मानव-जाति सुरक्षित रहे। सावधान रहो! वह मुसलमान नहीं जो व्यभिचार करता है, चोरी करता है, मदिरा-पान करता है या जो किसी के धन का अपहरण करता है।"

"जो एकेश्वरवादी है और जो परलोक में विश्वास करता है, उसे अपने पड़ोसियों को हानि नहीं पहुँचानी चाहिए।"

"यदि तुम सृष्टि-रचयिता को प्रेम करते हो, तो पहले अपने सहयोगियों को प्रेम करो।"

'ईश्वर उसके लिए दयालु नहीं जो मानव-जाति के प्रति ऐसा व्यवहार नहीं करता।"

भारत में मुसलमानों के दो मुख्य सम्प्रदाय हैं—शिया और सुन्नी। दोनों में सबसे अधिक संख्या सुन्नी मुसलमानों की है। शिया बहुत ही कम हैं। अरब तथा दूसरे देशों से भारत में आये हुए मुसलमानों तथा उनके वंशजों की संख्या भी बहुत कम है। शताब्दियों तक हिन्दू और मुसलमानों के साथ रहने से एक-दूसरे पर आचार-विचार का भी बहुत प्रभाव पड़ा है। कई मुसलमान और हिन्दू वेशभूषा, भाषा आदि की संकीर्णता से बहुत दूर हैं।

अधिकांश मुसलमानों के तो पूर्वज हिन्दू ही हैं। बम्बई में खोजा, गुजरात (काठियावाड़) में कच्छी मेमन, हलाई मेमन और बोहरा तथा मलकाने आदि पहले हिन्दू थे। आज भी उनके उत्तराधिकार तथा विरासत और वसीयत के मामले हिन्दू-विधान के अनुसार तय होते हैं।

सन् १९२१ की जनगणना के अनुसार भारत में मुसलमानों की जनसंख्या ७ करोड़ ७६ लाख ७८ हजार है।

ईसाई धर्म

ईसाई धर्म भी संसार के प्रमुख धर्मों में से है। इसके प्रवर्तक महात्मा ईसा एशिया महाद्वीप में गेलिली में पैदा हुए थे, परन्तु उनका धर्म पहले यूरोप में फैला। जब यूरोप के निवासी वाणिज्य-व्यापार करने या उपनिवेश बसाने के लिए दूसरे महाद्वीपों, देशों या टापुओं में पहुँचे तो अपने धर्म को वहाँ लेगये और उसे वहाँ प्रचलित किया।

ईसा ने धर्म के मूलतत्त्वों के रूप में नीचे लिखे आदेश[1] दिये थे— किसी और देवता को मत मानो जल, थल और आकाश की किसी वस्तु की प्रतिमा या चित्र मत बनाओ, लोगों के आगे सिर न झुकाओ, न उनकी पूजा करो; सबके प्रति दया दिखाओ; अपने प्रभु का नाम बेकार मत लो; ६ दिन काम करके रविवार को पवित्रता से बिताओ; अपने माता-पिता का आदर करो। व्यभिचार मत करो; चोरी मत करो; अपने पड़ोसी के विरुद्ध झूठी गवाही मत दो और न उसकी किसी चीज पर जी ललचाओ।

---

१. 'एक्सोडस' (ओल्ड टेस्टामेण्ट) : अध्याय २०

भारत में पुर्तगाल देशवासी व्यापार के लिए आये, तब उन्होंने यहाँ ईसाई-धर्म का सूत्रपात किया। बाद में यहाँ ईस्ट इण्डिया कम्पनी का राज्य उसके शासकों द्वारा फैलाया जाने लगा और अंग्रेजी राज्य की स्थापना होजाने के बाद तो राजसत्ता की सहायता से यहाँ ईसाई-धर्म का जोरों से प्रचार किया गया। फलस्वरूप भारत में एक नया सम्प्रदाय पैदा हो गया जो 'इण्डियन क्रिश्चियन' कहलाता है। आजतक भारत में यूरोप और अमरीका के विदेशी मिशन ईसाई धर्म का प्रचार करते आरहे हैं। नगर-नगर में ईसाई और उनके पादरी और गिरजे दिखायी देते हैं। आरण्यक जातियों (जैसे भील, गोंड, संथाल, कोल आदि) में ईसाई धर्म-प्रचारकों के विशेषरूप से केन्द्र बने हुए हैं, और उनमें नियमित रूप से प्रचार हो रहा है। ईसाई पादरी व प्रचारक शिक्षा, चिकित्सा आदि अनेक प्रकार से प्रलोभन भी देते हैं। सन् १९३१ में भारत में ईसाइयों की आबादी ६२ लाख ९७ हज़ार ७ थी।

पारसी धर्म

ईसा से पूर्व ८ वीं सदी में फारस में पारसी मत की स्थापना हुई। जरथुस्त्र ने इस धर्म की प्रतिष्ठा की। यह फारस का राष्ट्रीय धर्म था। और समस्त फारस में इस धर्म के अनुयायी थे। परंतु जब सन् ५३७ में मुसलमानों ने फारस पर आक्रमण किया तो उन्होंने बहुत-से पारसियों को मुसलमान बना लिया। जरथुस्त्र के कुछ अनुयायी भारत में आकर बस गये। अब इस सम्प्रदाय के लोग केवल भारत में ही मिलते हैं। पारसी धर्म का आधार नीति-शास्त्र है। ये अहिंसा, दान, पवित्रता और परोपकार में पूरा विश्वास रखते हैं। ये अग्निपूजक हैं। तपस्या और तपस्वी जीवन के लिए पारसी धर्म में कोई स्थान नहीं है। इनकी धर्म-पुस्तक 'अवेस्ता है'। पारसियों में कोई जाति-भेद नहीं है। वे धर्मान्धता और प्रचार में विश्वास नहीं करते। पारसियों में विद्या, वैभव और विद्वत्ता अधिक है। पारसी अधिकांश में बम्बई प्रान्त में हैं। भारत में इनकी संख्या ११ लाख के लगभग है।

: १२ :

सामाजिक जीवन

भारत के सामाजिक जीवन में एकता का अभाव है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, सिक्ख आदि धर्ममात्र ही नहीं हैं, बल्कि वे सामाजिक जीवन की भी व्यवस्था करते हैं। प्रत्येक धर्म के धार्मिक सिद्धान्त ही भिन्न नहीं होते, प्रत्युत उनके द्वारा प्रतिपादित सामाजिक व्यवस्थाएँ, आदर्श और सस्थाएँ भी भिन्न होती हैं। सामाजिक जीवन में रीति-रिवाजों का बड़ा महत्त्व है। सच तो यह है कि सामाजिक जीवन इन रीतियों के आधार पर ही स्थिर है। यूरोप के देशों में विविध धर्मों का पालन करते हुए भी लोग सामाजिक जीवन में समता के आदर्श को स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत भारत में प्रत्येक धर्म और मत ने अपना समाज-शास्त्र अपने ही ढग का गढ़ लिया है। एक हिन्दू का सामाजिक जीवन एक मुसलमान या ईसाई के सामाजिक जीवन से भिन्न है। यद्यपि इनमें परस्पर समन्वय करनेवाली प्रवृत्तियाँ भी काम कर रही हैं। भारतीय सामाजिक जीवन के प्रधान-प्रधान अंगों की रूपरेखा यों है—

हिन्दू जीवन

हिन्दू-समाज की मुख्य विशेषता है संयुक्त परिवार तथा जाति-प्रथा। आर्यसमाज सैद्धान्तिक रूप में जातपाँत को नहीं मानता; परन्तु व्यावहारिक रूप में इसका घातक प्रभाव आर्यसमाज पर भी पड़े बिना नहीं रह सका। आर्यसमाज भारत में पुनः वैदिक वर्ण-व्यवस्था की स्थापना करना चाहता है। अतः सबसे पूर्व प्राचीन वर्ण-व्यवस्था पर व्यावहारिक दृष्टि से विचार करना उपयुक्त होगा।

वैदिक वर्ण-व्यवस्था

'वर्ण' शब्द के अर्थ हैं रूप, भेद, प्रकार, रंग आदि। परन्तु इसका वैदिक अर्थ है श्रम-विभाजन।

ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में वर्ण-व्यवस्था का विधान है। यजुर्वेद में लिखा है—

"जो पूर्ण व्यापक परमात्मा की सृष्टि में मुख के समान सबमें उत्तम हो वह ब्राह्मण, जो बाहु की भाँति बलवीर्यवान् हो वह क्षत्रिय, जो उरू की भाँति अन्य सब अंगों का पोषण करे वह वैश्य और जो पाँवों की भाँति सेवा करे वह शूद्र है।"[1]

इस वेद-मंत्र में सम्पूर्ण मानव-समाज को गुणों एवं योग्यता के आधार पर चार भागों में विभाजित किया गया है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ब्राह्मण की उपमा मस्तिष्क से दी गयी है। जिस प्रकार शरीर में मस्तिष्क का स्थान सर्वोच्च है, उसी प्रकार समाज में ब्राह्मण का स्थान है। वह जैसे शरीर के कार्यों का संचालक है, उसी प्रकार ब्राह्मण भी समाज का नियामक है। क्षत्रिय की उपमा बाहु से दी गयी है। जिस प्रकार बाहु शरीर में बल का सूचक है और शरीर की रक्षा करता है उसी प्रकार क्षत्रिय अपने बल से समाज की रक्षा करता है। उरू का कार्य है भोजन के पाचन आदि से शरीर का पोषण। उसी प्रकार वैश्य का भी कार्य पोषण करना है। वह धन-धान्य से समाज का पालन करता है। पाँव जिस प्रकार शरीर की सेवा करते हैं—उसी प्रकार शूद्र भी सारे समाज की सेवा करते हैं।

वर्ण-व्यवस्था के सिद्धान्त में यह कार्य-विभाजन बड़ी उत्तमता से किया गया है। समाज को बुद्धि, बल, पोषण और सेवा इन चार की जरूरत है ही। जबतक इनमें से एक का भी अभाव होगा समाज की व्यवस्था ठीक नहीं रह सकती। ब्राह्मण बुद्धि का प्रतीक है; क्षत्रिय बल का, वैश्य पोषण का और शूद्र सेवा का। यह वर्ण-व्यवस्था व्यक्तिगत गुण, कर्म और स्वभाव पर निर्भर है। जन्म के कारण ही न कोई ब्राह्मण हो सकता है, न क्षत्रिय और न वैश्य। यही कारण है कि सामाजिक जीवन में संस्कार का विशेष महत्त्व है। संस्कारों से ही एक शूद्र ब्राह्मण

1. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः
उरू तदस्य यद्वैश्य पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥यजुर्वेद ३१–११

का पद पा सकता है एक वैश्य क्षत्रिय बन सकता है। यदि ब्राह्मण में उसके वर्ण के अनुसार गुण-कर्म न हों तो वह गिर जाता है।

(१) ब्राह्मण के कर्त्तव्य—वेद-शास्त्रों तथा समस्त ज्ञान-विज्ञान का अध्ययन करना, उनकी जनता को शिक्षा देना, शुभ कर्म करना, तथा यज्ञ कराना, समाज को विद्यादि शुभ गुणों का दान देना और गृहस्थों से अपनी जीविका के लिए दान-दक्षिणा प्राप्त करना। गीता के अनुसार ब्राह्मण में निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक है—शम, दम, तप, शौच, क्षमा, निरभिमान, ज्ञान, विज्ञान तथा आस्तिकता।

(२) क्षत्रिय के कर्त्तव्य—वेद-शास्त्रों का अध्ययन, यज्ञ तथा शुभ कर्म करना, सुपात्रों को दान तथा प्रजा को अभयदान, प्रजा की रक्षा, जितेन्द्रिय रहना, वीरता के काम करना, तेजस्वी होना, आपत्ति के समय धैर्य्य से काम लेना, सैन्य-विद्या में निपुणता, युद्ध-कौशल, ईश्वर-भक्ति तथा प्रजा को पुत्र के समान मानना।

(३) वैश्य के कर्त्तव्य—वेद-शास्त्रों का अध्ययन, यज्ञ करना, दान देना, पशु-पालन, वाणिज्य-व्यापार करना, ब्याजलेना तथा कृषि करना।

(४) शूद्र के कर्त्तव्य—मनुस्मृति के अनुसार परमेश्वर ने जो विद्याहीन हो जिसको पढ़ने से भी विद्या न आ सके, जो शरीर से पुष्ट, सेवा में कुशल हो उस शूद्र के लिए अन्य वर्गों की निंदा से रहित प्रीति-पूर्वक सेवा करना यही एक कर्म करने की आज्ञा दी गयी है।

इन वर्णों का आधार व्यक्ति के गुण, कर्म एवं स्वभाव हैं—इसके लिए मनुस्मृति का निम्नलिखित प्रमाण दिया जाता है—

"जो शूद्र कुल में उत्पन्न होकर ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य के समान गुण, कर्म स्वभाववाला हो वह ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य हो जाता है वैसे ही जो ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्य कुल में उत्पन्न हुआ और उसके गुण, कर्म और स्वभाव शूद्र के सदृश हों, तो वह शूद्र हो जाता है।"[1]

---

१. शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥ मनु० अ० १० श्लोक ६५

आपस्तम्ब सूत्र में लिखा है—

"धर्माचरण से निकृष्ट वर्ण अपने से उत्तम वर्ण को प्राप्त होता है।" शुक्रनीति का अध्याय १ श्लोक ३८ भी यही कहता है—

"जन्म से कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र या मलेच्छ नहीं किन्तु सारे वर्ण-भेद का आधार गुण-कर्म पर है।"

वर्तमान युग में वर्ण-व्यवस्था

वैदिक युग में या उसके बाद किसी अन्य युग में यह वर्ण-व्यवस्था, जिसका ऊपर वर्णन किया गया है, समाज में बनी रही हो, परन्तु यह तो निर्विवाद है कि आज भारत में वर्ण-व्यवस्था का पूर्ण विनाश हो चुका है। आज न कोई ब्राह्मण वर्ण है, न क्षत्रिय वर्ण और न वैश्य वर्ण। महात्मा गांधी के शब्दों में आज सब 'शूद्र' हैं। सम्भव है, कुछ व्यक्ति ऐसे निकल आयें जो वैदिक परिभाषा के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य हों, परन्तु इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि आज 'वर्ण' वास्तविक रूप में नहीं मिल सकते।

वर्ण-व्यवस्था आर्य-सभ्यता के विकास-काल में किसी अवस्था के लिए उपयुक्त रही होगी, परन्तु आज के सामाजिक जीवन में, जो पूर्व-कालीन जीवन से सर्वथा भिन्न है, वर्ण-व्यवस्था विकृत हो गयी है और श्रेय की ओर ले जाने के बदले हमें ह्रास की ओर ही ले जा रही है।

जाति-प्रथा

आज के हिन्दू-जीवन की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं—जाति और परिवार। आज भारत में ३००० से भी अधिक जातियाँ हैं और उनकी भी हजारों उपजातियाँ हैं। इस तरह हिन्दू-समाज जातियों के छोटे-छोटे दायरों में बँटा हुआ है। वेदों में ऐसा एक भी मंत्र नहीं है जो जाति-प्रथा को सिद्ध करता हो। इस प्रकार यह तो सिद्ध है कि यह संस्था वेदविहित नहीं है और न धार्मिक ही है।

मनुस्मृति में भी चार वर्णों का विधान है। यदि उसमें जातियों का

उल्लेख है तो वह यह सिद्ध नहीं करता कि जातियाँ धार्मिक संस्थाएँ हैं। स्मृतियाँ तो युग-विशेष के सामाजिक नियमों के संग्रह हैं। उनमें समय-समय पर परिवर्तन होना स्वाभाविक है।

जातियों की उत्पत्ति वस्तुतः हिन्दू-सामाजिक जीवन में अराजकता के फलस्वरूप हुई है। हिन्दू समाज में, जो हजारों उपजातियाँ हैं, वे हिन्दू जीवन की अन्य विशिष्टताओं से सम्बन्धित हैं। इन विशिष्टताओं में से एक है सम्मिलित परिवार।[1]

जाति की तीन मुख्य विशेषताएँ हैं। वे इस प्रकार हैं :—

(१) जन्मपरक अपरिवर्तनशील विषमता

इसका अर्थ यह है कि जो व्यक्ति जिस जाति में जन्म लेता है वह आजन्म उसी में गिना जाता है। वह अपनी जाति को बदल नहीं सकता। यदि वह 'महत्तर' के कुल में पैदा हुआ है तो वह चाहे जैसा विद्वान और पण्डित क्यों न हो जाये, उसकी जाति 'महत्तर' ही रहेगी और समाज उसके साथ उसी प्रकार का व्यवहार करेगा।

(२) व्यवसायों व उद्योगों का जाति के आधार पर वर्गीकरण और उनकी विषमता

प्रत्येक जाति के लिए जो व्यवसाय या पेशा निर्धारित है वह उसी को करती है और अपनी सन्तान को भी वही काम सिखाती है। एक ब्राह्मण कहलानेवाला व्यक्ति पुरोहित का काम करके अपनी जीविका कमाता है; वह अपने पुत्र को भी वही काम सिखाता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति सफाई का काम करता है, वह अपनी सन्तान से भी वही काम कराता है।

(३) विवाह-सम्बन्ध तथा खानपान :—

जाति की तीसरी विशेषता यह है कि वह विवाह-सम्बन्ध तथा खान-पान अपनी ही जाति तक परिमित रखती है। इस प्रकार जाति रक्त की पवित्रता पर अधिक जोर देती है।

---

१. के० एम० पणिक्कर : 'हिन्दूइज्म एण्ड दि मॉडर्न वर्ल्ड' : पृष्ठ २९

यह जाति-प्रथा हिन्दू-संगठन और एकता में सबसे अधिक बाधक रही है। सभी समाज-सुधारकों ने यह स्वीकार किया है कि जाति-प्रथा सामाजिक संगठन के लिए एक विकट बाधा है। आश्चर्य की बात है कि हिन्दू-महासभा, जो हिन्दू-संगठन पर जोर देती है, हिन्दू-समाज के इन अगणित विभागों के नाश के लिए कोई योजना नहीं सोचती। प्रोफेसर वाडिया ने जाति-प्रथा के सम्बन्ध में लिखा है—

"उपनिषदों की उच्च कोटि की आध्यात्मिकता और गीता का नीति-शास्त्र जाति के अत्याचार के कारण कोरे शब्द-मात्र रह गये हैं। जिस भारत ने चेतन और जड़ जगत की एकता का सन्देश दिया उसी ने एक ऐसे सामाजिक विधान को जन्म दिया जिसने अपनी सन्तति को छोटे-छोटे दायरों में बांट दिया। उसी ने विदेशी सत्ता को यहाँ विजय प्राप्त करने का सुयोग दिया जिसके कारण वह न केवल गरीब और कमज़ोर ही हो गया है बल्कि अछूतपन का आगार बन गया है।[1]

हिन्दू-समाज में प्रचलित जात-पाँत की कुप्रथा का जो कुप्रभाव समाज के आचार पर पड़ा है उसके विषय में विद्वान् बैरिस्टर डा० भीमराव अम्बेडकर ने लिखा है:—

"जाति ने सार्वजनिक भावना का नाश कर दिया है। जाति ने सार्वजनिक दान-दक्षिणा की भावना का विनाश कर दिया है। जाति ने लोकमत को असंभव बना दिया है। एक हिन्दू की जनता उसकी जाति ही है। उसकी जिम्मेदारी केवल उसकी जाति के प्रति है। उसकी भक्ति केवल उसकी जाति तक ही परिमित है। सदाचार पर जाति का बंधन है और नैतिकता भी जाति से प्रभावित है।[2]

जाति-प्रथा ने वास्तव में हिंदू-समाज का बड़ा अनिष्ट और अनर्थ किया है और वह उसके पतन के कारणों में से एक है। परन्तु हर्ष की बात है कि विचारशील मनीषियों के द्वारा जात-पाँत प्रथा में अब परिवर्तन किये

---

१. प्रो० वाडिया : 'कंटेम्पोरेरी इण्डियन फ़िलॉसफी', पृ० ३६८

२. डॉ० भीमराव अम्बेडकर : 'एनिहिलेशन ऑव कास्ट', पृ० २४

जा रहे हैं और जाति-बंधन भी ढीला होता जा रहा है। हिन्दू-समाज के नेता यह अनुभव कर रहे हैं कि हिन्दुत्व की रक्षा के लिए हिन्दू-संगठन जरूरी है। हिन्दुओं में एकता पैदा करने के लिए प्रयत्न करने की आवश्यकता को अब वे अनुभव करने लगे हैं। अब जाति-प्रथा एक सामाजिक संस्था बन गयी है और उसका धर्म से तनिक भी संबंध नहीं है, इस तत्त्व को सभी हिन्दू नेता स्वीकार करते हैं। आजकल भारत में केन्द्रीय और प्रान्तीय धारासभाओं के रूप मे एक ऐसी सत्ता मौजूद है जो सामाजिक सुधार करा सकती है। इन्हें हिन्दू-विधान में परिवर्तन एवं संशोधन करने का अधिकार मिला हुआ है। जनता के इन प्रतिनिधियों को 'स्मृति' बनाने का अधिकार है। इसलिए हिन्दू-समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन के लिए इस सत्ता का प्रयोग किया जा सकता है और धारासभा द्वारा एक नयी स्मृति बनायी जा सकती है जो सब प्रकार से इस बीसवीं सदी के लिए उपयुक्त सिद्ध हो सके।

हिन्दू-समाज की सभी जातियों को राजनीतिक सत्ता मिली हुई है और वे सभी राज्य-संघटन पर अपना प्रभाव डाल सकती हैं। जिन जातियों को प्राचीन काल में कोई व्यवस्था देने का अधिकार नहीं था वे भी आज धारासभा में जाकर देश के लिए उपयोगी क़ानून बनाने में हाथ बँटा रही हैं। तब तो केवल ब्राह्मणों ही को व्यवस्था देने का अधिकार था, परन्तु आज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, तथा दलित जातियों और स्त्रियों तक को इन धारा-सभाओं में जाकर क़ानून बनाने का अधिकार है।

इस जमाने में देश में जो राष्ट्रीय आन्दोलन चल रहा है उसका भी जाति पर स्वास्थ्यकर प्रभाव पड़ रहा है। राष्ट्रीय आन्दोलन दो प्रकार से पुरातन हिंदू-भावना पर कुठाराघात कर रहा है। उसके द्वारा राजनीतिक सत्ता को अधिक महत्त्व दिया जा रहा है और धार्मिक सत्ता तथा कट्टरता का राजनीतिक जीवन में कोई महत्त्व का स्थान नहीं है। दूसरा प्रभाव यह पड़ रहा है कि राजनीतिक सत्ता पाने के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन यह सिद्ध कर रहा है कि समाज के निर्माता स्वयं मानव हैं।

वह कोई दैवी विधान नहीं है जिसे ईश्वर ने हमपर लाद दिया हो। इस प्रकार यह भावना जाग्रत होती जा रही है कि मनुष्य ही समाज-व्यवस्था के निर्माता हैं।

कुटुम्ब का प्रयोजन

'कुटुम्ब' वह छोटे-से-छोटा मानव-समुदाय है जिसमें केवल पति-पत्नी और उनकी सन्तान हों अतः विवाह के बाद ही कुटुम्ब का प्रादुर्भाव होता है।

कुटुम्ब मानव के जन्म के साथ ही पैदा हुआ और आज भी वह विद्यमान है। वास्तव में कुटम्ब उतना ही प्राचीन है जितनी कि मानव-जाति। मानव के कौटुम्बिक जीवन का समाज से गहरा सम्बन्ध है। वास्तव में मानव-सभ्यता का आधार कुटुम्ब ही है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि कुटुम्ब के नाश होने ही मानव सभ्यता भी नष्ट होकर फिर उसी वर्बर दशा को प्राप्त हो जायेगी। विवाह, उत्तराधिकार, दत्त-विधान आदि सबका कुटुम्ब से सम्बन्ध है। कुटुम्ब और विशेष रूप से संयुक्त कुटुम्ब का आर्य-संस्कृति में बड़ा महत्त्व है।

भारतवर्ष में प्रारम्भ से ही संयुक्त कुटुम्ब-प्रथा पायी जाती है। भारत के अधिकांश में पितृकुल ही हैं। दक्षिण में कुछ ऐसी जातियाँ भी हैं जिनमें मातृकुल भी पाये जाते हैं। कुटुम्ब-प्रथा के पीछे दो विचार प्रमुख हैं—स्त्रियाँ पवित्र और साध्वी रहें और उत्तराधिकार का नियंत्रण पुरुषों के हाथ में हो। जबतक समाज मे इन दोनों विचारों का आदर होता रहेगा, तबतक कुटुम्ब क़ायम रहेगा।

संयुक्त-कुटुम्ब-प्रथा

संयुक्त-कुटुम्ब की प्रथा बहुत प्राचीन है। इसमें पति, पत्नी पिता, माता, पितामह, पितामही, बहन, भाई, पुत्र पुत्री, दत्तक पुत्र आदि शामिल हैं। कुटुम्ब के विशेष नियम होते हैं। इन्हें कुलाचार कहते हैं। जन्मोत्सव, उपनयन, विवाह, खान-पान, सामाजिक रीति-रिवाज, उत्तराधिकार और

सदाचार आदि इन कुलाचारों ही पर निर्भर होते हैं। सयुंक्त-कुटुम्ब में गृहपति का स्थान सर्वोच्च है और गृहिणी उसके अधीन रहती है।

हिन्दू-विधान के अनुसार आजकल कुटुम्ब के निम्नलिखित सदस्यों को सम्पत्ति के अधिकार विरासत में मिलते हैं—

(१) पुत्र (२) पौत्र (३) प्रपौत्र (४) पत्नी (५) पुत्री (६) नाती (धेवता) (७) मा (८) पिता (९) भ्राता (१०) भतीजा आदि। दायभाग-क़ानून के अनुसार बंगाल में यदि कोई हिन्दू किसी भी सम्पत्ति को छोड़कर मर जाये या मिताक्षरा क़ानून के अनुसार कोई हिन्दू अपनी पृथक् सम्पत्ति छोड़कर मर जाये तो उसकी एक या सब विधवा स्त्रियों को मिलकर उसके पुत्र के बराबर भाग मिलेगा। परन्तु उसका या उनका सम्पत्ति पर वैसा अधिकार न होगा जैसा स्त्री-धन पर होता है।

संयुक्त कुटुम्ब में स्त्री-पुरुष के अधिकार

संयुक्त-कुटुम्ब में पुरुष को कुटुम्ब में सबसे अधिक अधिकार प्राप्त हैं। पुत्र का अपने पिता की आधी सम्पत्ति पर अधिकार होता है। वह उसे अपने पिता के जीवन में विभाजित करा सकता है। जबतक वह जीविकोपार्जन के योग्य नहीं हो जाता तबतक पिता से उसे भरण-पोषण का अधिकार है। पिता की मृत्यु के बाद उसकी पैतृक या अर्जित सम्पूर्ण सम्पत्ति पर उसका पूरा अधिकार हो जाता है। वह उसे वसीयत में दे सकता है, बेच सकता है या रहन रख सकता है। उसे सम्पत्ति क्रय करने का भी अधिकार है। वह उसे दान अथवा दहेज में दे सकता है। उसके अधिकार पर बन्धन नहीं है। परन्तु यदि उसके कोई पुत्र है तो उसे उसके अधिकार पर आघात करने का अधिकार नहीं है। यदि पुत्र के आधे हिस्से को उसने भ्रष्ट कर दिया या उसे अनावश्यक ढंग से खर्च किया तो पुत्र को उसे पुनः प्राप्त करने का अधिकार है। पुरुष, संक्षेप में, गृहस्वामी है। वह वास्तविक अर्थ में गृह का स्वामी है; स्त्री गृह-स्वामिनी है। परन्तु उसके गृह में अधिकार बहुत सीमित हैं। कुटुम्ब में स्त्रियों में केवल निम्नलिखित स्त्रियों को सम्पत्ति के अधिकार प्राप्त हैं—

(१) विधवा पत्नी (२) पुत्र की विधवा पत्नी (३) पौत्र की विधवा पत्नी (४) पुत्री (५) मा (६) पितामही (७) बहन (८) पौत्री (९) पुत्र की पुत्री।

स्त्रियों के सम्पत्याधिकार दो प्रकार के हैं। एक को हम स्त्री-अधिकार (Woman's Estate) कहते हैं और दूसरे को स्त्री-धन। पुरुष से जो सम्पत्ति विरासत में प्राप्त होती है, वह स्त्री-अधिकार है। उस सम्पत्ति को केवल भोगने का ही उसे अधिकार है। उस पर उसका पूर्ण स्वामित्व नहीं होता।

स्त्री-धन पर स्त्री का पूर्ण अधिकार होता है। यहाँ स्त्री-धन का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया गया है। विशिष्ट स्त्री-धन में निम्नलिखित सम्पत्ति सम्मिलित है--

१. सम्बन्धियों से प्राप्त दान या वसीयत।

२. वस्त्राभूषण।

३. विवाह-संस्कार के अवसर पर या उससे पूर्व अन्य पुरुषों से प्राप्त दान।

४. गैर सम्बन्धियों से प्राप्त दान।

५. कुमारावस्था या विधवावस्था में कला-कौशल द्वारा अर्जित सम्पत्ति।

६. बम्बई प्रान्त में जो सम्पत्ति स्त्री अपने पितृ-कुल में वसीयत में प्राप्त करती है, वह चाहे पुरुष से प्राप्त की गयी हो या स्त्री से, स्त्री-धन है।

७. वृत्ति के बदले में मिली सम्पत्ति।

८. विपरीत कब्जे द्वारा प्राप्त सम्पत्ति।

९. ग्रांट, दान, समझौते या विभाजन द्वारा प्राप्त सम्पत्ति, यदि दाता का उद्देश्य स्त्री को पूर्ण अधिकार देने का हो।

१०. स्त्री-धन द्वारा क्रय की हुई सम्पत्ति।

पुत्रियों के पालन-पोषण का भार कुटुम्ब पर होता है। सयुंक्त कुटुम्ब के पुत्र, पौत्र और प्रपौत्रों के पालन-पोषण, उपनयन-संस्कार तथा विवाह का भार भी कुटुम्ब पर होता है। पुत्रियों व बहनों का विवाह भी कुटुम्ब

को करना पड़ता है। विधवा पुत्र-वधू का संरक्षक श्वसुर होता है। उसका धर्म है कि वह उसका पालन-पोषण करे। यदि कोई स्त्री पति से अलग हो जाये तो उसे विशेष अवस्थाओं में वृत्ति पाने का भी अधिकार है।

मनुस्मृति के अनुसार स्त्री को बाल्यकाल में माता-पिता, सधवावस्था में पति और विधवावस्था में पुत्र के नियंत्रण में रहना चाहिए। हिन्दू कुटुम्ब में स्त्री का मुख्य कार्य सन्तानोत्पत्ति तथा सन्तान पालन के सिवा गृह-कार्य का प्रबन्ध करना है। पुरुष घर के बाहर जीविकोपार्जन में संलग्न रहता है और स्त्रियाँ घर का काम-काज करती हैं।[1] गृह की व्यवस्था में स्त्रियों का पूरा हाथ होता है। विवाह तथा जन्मोत्सव आदि अवसरों पर उनकी इच्छानुसार ही कार्य होता है।

हिन्दू पति को बहु-विवाह का अधिकार है। वह एक ही समय में एक से अधिक स्त्रियों से विवाह-सम्बन्ध कर सकता है। परन्तु इसका उपयोग प्रायः बहुत कम करते हैं क्योंकि इसे अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता। विधवा-विवाह की प्रथा अब पुनः प्रचलित हो गयी है। पर फिर भी ब्राह्मणों आदि जातियों में, जो बहुत-ही कट्टर हैं, अपनी विधवा पुत्रियों को युवती होने पर भी अविवाहित रखते हैं; उनका पुनर्विवाह नहीं करते; जबकि पुरुषों को पुनर्विवाह का अधिकार है। सती-प्रथा तो बहुत पहले से ग़ैर-क़ानूनी घोषित हो चुकी है। फिर भी आजकल कभी-कभी हिन्दू विधवाएँ सती हो जाती हैं। सती होने में मदद करना आज दण्डनीय अपराध है। बहु-विवाह के रोकने के लिए जुलाई १९३८ में क्रमशः 'बहुविवाह अवरोध क़ानून' तथा 'बहु-विवाह नियमन क़ानून' के मसविदे भारतीय राज्यपरिषद् (कौंसिल ऑफ स्टेट) में प्रस्तुत किये गये थे, परन्तु अभीतक इनके सम्बन्ध में कोई निश्चय नहीं हो सका।

हिन्दू-समाज में बाल-विवाह का भी अधिक प्रचार है। यद्यपि सन्

---

१. ब्रह्मा-देश में पति को विवाहोपरान्त ससुराल में रहना पड़ता है। पत्नी बाहर जीविकोपार्जन करती है, बाजारों में दूकान पर बैठती हैं और पति गृह के काम-काज करते हैं।

१९३० से बाल-विवाह अवरोध क़ानून 'शारदा एक्ट' के नाम से भारत में प्रचलित है जिसके अनुसार १४ वर्ष से कम आयु की कन्या और १८ वर्ष से कम आयु के लड़के का विवाह करना दण्डनीय है। तोभी बाल-विवाह प्रतिवर्ष जहाँ-तहाँ होते सुने जाते हैं।

विवाह बहुधा स्वजाति में ही कुल या गोत्र बचाकर किया जाता है। विवाह में दहेज देने का भी अधिक प्रचार है। इसके विरुद्ध कई जातियों में आन्दोलन चल रहा है। आर्यसमाज ने इस दिशा में अच्छा काम किया है। राष्ट्रीय विचारों के युवक भी इसके समर्थक हैं। लाहौर का जात-पाँत तोड़क मण्डल भी अन्तर्जातीय विवाह को प्रोत्साहन देता है। इन सब विचारधाराओं के फलस्वरूप सुसंस्कृत तथा शिक्षित युवक-युवतियाँ प्रायः जात-पाँत के बन्धनों को तोड़कर विवाह करने में कोई बुराई नहीं मानते। परन्तु ऐसा 'स्पेशल मैरिज ऐक्ट' के अनुसार ही किया जा सकता है। स्पेशल मैरिज संशोधन ऐक्ट (१९२३) के अनुसार हिन्दू, बौद्ध, सिक्ख तथा जैन जातपाँत को तोड़कर विवाह कर सकते हैं उन्हें अब यह घोषणा करने की ज़रूरत नहीं कि वे हिन्दू-धर्म को नहीं मानते। ऐसा विवाह रजिस्ट्रार के सामने होता है। बाद में धार्मिक संस्कार भी किया जा सकता है। इस विवाह का प्रभाव यह होता है कि पति-पत्नी संयुक्त-कुटुम्ब के सदस्य नहीं रहते। उनका उत्तराधिकार तथा विरासत हिन्दू-विधान के अनुसार नहीं बल्कि भारतीय उत्तराधिकार-क़ानून के अनुसार होता है। वह किसीको गोद नहीं ले सकता। उसका पिता चाहे तो गोद ले सकता है, मानों उसका यह पुत्र काल-कवलित हो गया हो।

आर्य विवाह-क़ानून (Arya Marriage Validation Act) के अनुसार अब प्रत्येक आर्यसमाजी को यह अधिकार है कि वह जातपाँत तोड़कर विवाह कर सकता है। यह विवाह वैदिक रीति के अनुसार किया जा सकता है। विवाह की रजिस्ट्री कराने की ज़रूरत नहीं है।

हिन्दू-क़ानून के अनुसार स्त्री पति को तलाक नहीं दे सकती। केवल प्रथा के अनुसार ही कुछ जातियों में स्त्री को तलाक़ का अधिकार है।

संयुक्त कुटुम्ब-प्रथा का भविष्य

हिन्दू-जीवन पर पाश्चात्य संस्कृति तथा सभ्यता का भयंकर प्रभाव पड़ा है। पाश्चात्य देशों में संयुक्त कुटुम्ब की प्रथा नहीं है। वहाँ कुटुम्ब में पति-पत्नी होते हैं और जबतक उनके पुत्रों व पुत्रियों का विवाह नहीं होता तबतक वे भी उनके साथ रहते हैं। बाद में वे अलग रहते हैं। पाश्चात्य देशों में स्त्री-स्वातंत्र्य तथा व्यक्तिवाद की भावना के कारण संयुक्त कुटुम्ब का रिवाज नहीं है। आज भारत में नवीन सभ्यता के उपासक युवक और युवतियाँ भी स्वतन्त्र जीवन बिताने के लिए संयुक्त-कुटुम्ब का त्याग कर देते हैं। यह प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। देश के आर्थिक जीवन और औद्योगीकरण का भी संयुक्त कुटुम्ब पर प्रभाव पड़ रहा है।

अब जीवन-निर्वाह की समस्या इतनी जटिल हो गयी है कि एक व्यक्ति बड़े-बड़े कुटुम्ब का पालन करने में असमर्थ-सा रहता है। गाँवों के लोग शहरों में आकर बस जाते हैं और मिलों तथा कारखानों में मजदूरी करते हैं। शहरों में जीवन बिताना बड़ा क़ीमती पड़ता है। इसलिए ये मज़दूर ग्राम से अकेले आते हैं या अपनी स्त्री-बच्चों को साथ ले आते हैं। इस प्रकार संयुक्त कुटुम्ब की प्रथा टूटती जा रही है।

आश्रम-व्यवस्था

पुराने समय में भारतीय ऋषियों ने जिस प्रकार सामाजिक जीवन को चार वर्णों में बाँटा था, उसी प्रकार व्यक्तिगत जीवन को भी चार आश्रमों में बाँटा हुआ था। मनुष्य की औसत आयु १०० वर्ष मानी गयी है। इसीके आधार पर मानव-जीवन को चार भागों में विभाजित किया गया था—ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। सबसे पहले २५ वर्ष तक मनुष्य को ब्रह्मचर्य्य का पालन करना चाहिए। इसके बाद विवाह करके अपनी सहधर्मिणी के साथ समाज-सेवा में रत रहना चाहिए। ५० वर्ष की आयु तक गृहस्थ-जीवन बिताना चाहिए। बाद में वानप्रस्थी बनकर वन में योग-साधन और स्वाध्याय करना चाहिए।

इसकी अवधि ७५ वर्ष की आयु तक है। इसके बाद १०० वर्ष अर्थात् मृत्यु पर्यन्त संन्यासी रहना चाहिए।

परन्तु आज वर्ण-व्यवस्था के साथ यह आश्रम-व्यवस्था भी नष्ट हो-चुकी है। आज का हिन्दू-जीवन वैदिक-जीवन नहीं रहा। उसमें मौलिक परिवर्तन हो गया है। आज सिवा आर्य-समाज के गुरुकुलों के और कहीं 'ब्रह्मचारी' नहीं मिलेंगे। गुरुकुलों में २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य्य का पालन कर वेदादि शास्त्रों का अध्ययन किया जाता है।

संन्यासियों का हिन्दू-समाज में बड़ा महत्त्व है। उनकी बड़ी 'पूजा' की जाती है। आज भारत में ५२ लाख से भी ज्यादा साधु और सन्त हैं जो हिन्दू गृहस्थों के ७१ करोड़ से भी अधिक रुपये प्रतिवर्ष खाने-पीने, नशे, कपड़े-लत्ते और भोग-विलास में व्यय करते हैं। जिस देश में रात-दिन मेहनत करनेवाले मजदूर दो वक्त मामूली खाना भी नहीं खा सकते, उस देश में भारत के २३½ करोड़ हिन्दुओं के पसीने की कमाई पर ५२ लाख साधु महन्त और सन्तों का खाना, पीना और मौज उड़ाना हिन्दू-समाज की अंध-श्रद्धा का एक ज्वलन्त प्रमाण है।

अस्पृश्यता

'अस्पृश्यता' हिन्दू-धर्म का महान् पाप है; उसपर लगी हुई जंग है। अंत्यजों का तिरस्कार करना मनुष्यता को खोदेना है।[1]

'अस्पृश्यता' नाम का रोग हिन्दू-समाज की ही एक विशेषता है। हिन्दू-शास्त्रों में छूआछूत पर धार्मिक आवरण डाल दिया जाने से वह बद्धमूल हो गया है। यह वास्तव में एक महान् सामाजिक पाप है जो हिन्दुओं ने अपने ही धर्म-बन्धुओं के साथ किया है। किसी वर्ग को अस्पृश्य घोषित करदेना वास्तव में मानवता का अपमान ही है। आज भारत में ६ करोड़ से भी अधिक हिन्दू नर-नारी अस्पृश्यता के अभिशाप का दुःख भोग रहे हैं। उन्हें हिन्दू समाज में रहते हुए न धार्मिक अधिकार हैं, न

---

१. 'हमारा कलंक' : महात्मा गांधी

सामाजिक अधिकार और न राजनैतिक अधिकार ही प्राप्त हैं। वे अपने ग्राम व नगर के सार्वजनिक स्थानों, संस्थाओं, स्कूलों, मन्दिरों, नदी, तालाब तथा कुओं का प्रयोग स्वतंत्रता से नहीं कर सकते।

महात्मा गांधी ने सबसे पहले हिन्दू-समाज के इस पाप के विरुद्ध सन् १९३२ में देशव्यापी आन्दोलन खड़ा किया। उनसे पूर्व भी आर्यसमाज के प्रसिद्ध नेता स्वामी श्रद्धानन्द ने दलितोद्धार-आन्दोलन और पंजाब के प्रसिद्ध नेता लाला लाजपतराय ने अछूतोद्धार-आन्दोलन शुरू किया। अपने समय में इन आन्दोलनों को एक सीमा तक सफलता भी मिली। परन्तु महात्मा गांधी ने जो आन्दोलन सन् १९३२ में 'साम्प्रदायिक निर्णय' के विरोध में यरवदा-जेल में बन्दी की दशा में शुरू किया, वह कई दृष्टियों में सबसे महत्त्वपूर्ण है।

महात्माजी ने सबसे गहरा प्रहार अस्पृश्यता की धार्मिकता पर किया। उन्होंने संसार और हिन्दू-समाज को यह चुनौती दी कि वह यह सिद्ध करे कि वेदों या शास्त्रों में अस्पृश्यता का विधान है। उन्होंने यह घोषणा की कि अस्पृश्यता धार्मिक नहीं है। वह एक सामाजिक कोढ़ है। उसका निर्माण समाज ने किया है अतः उसका नाश भी समाज के उद्योग से हो सकता है।

साम्प्रदायिक निर्णय के विरोध में जब गांधीजी ने यरवदा-जेल में आमरण अनशन रखा तब २५ सितम्बर १९३२ को बम्बई में सनातन हिंदू-धर्म के महान् नेता पं० मदनमोहन मालवीय के सभापतित्व में हिन्दुओं और हिन्दू नेताओं ने सर्व-सम्मति से निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकार किया—

"यह सम्मेलन यह निश्चय करता है कि भविष्य में हिन्दुओं में कोई भी व्यक्ति अपने जन्म के कारण अछूत नहीं माना जायेगा और अबतक जो ऐसे माने गये हैं, उन्हें सार्वजनिक कुओं, स्कूलों, सड़कों, और समस्त सार्वजनिक संस्थाओं के प्रयोग के सम्बन्ध में दूसरे हिन्दुओं के समान अधिकार होगा। प्रथम सुयोग प्राप्त होने पर इस अधिकार को क़ानूनी स्वीकृति दी जायेगी। यदि पहले से ही इसे क़ानूनी स्वीकृति नहीं मिली, तो यह स्वराज्य पार्लमेण्ट के प्रथम क़ानूनों में से एक होगा।"

"और यह भी निश्चय किया गया है कि समस्त हिन्दू-नेताओं का यह कर्त्तव्य होगा कि वे समस्त शान्तिमय और वैध उपायों द्वारा दलित वर्ग पर लादी गयी समस्त सामाजिक अयोग्यताओं और मन्दिर-प्रवेश के सम्बन्ध में प्रतिबन्ध के निवारण के लिए शीघ्र प्रयत्न करें।"

इस प्रस्ताव द्वारा समस्त हिन्दू-नेताओं ने यह घोषणा की कि भविष्य में कोई भी हिन्दू अपने जन्म के कारण अछूत न माना जायेगा और साथ ही इस प्रस्ताव के दूसरे भाग द्वारा यह निश्चय किया गया कि दलित वर्ग पर जो सामाजिक प्रतिबन्ध तथा मन्दिर-प्रवेश के संबंध में जो रुकावट है, उसे 'शान्तिमय तथा वैध' उपायों द्वारा शीघ्र दूर करने का प्रयत्न किया जाये। शान्तिमय तथा वैध उपायों के अन्तर्गत धारा-सभा द्वारा क़ानून-निर्माण भी शामिल है। इस प्रकार इन अयोग्यताओं के निवारण तथा मन्दिर-प्रवेश की सुविधा देने के लिए केन्द्रीय धारा-सभा तथा प्रान्तीय धारा-सभाओं का उपयोग किया जाना उचित है।

'हरिजन' नाम देकर हरिजन-सेवा, आदि देशव्यापी आन्दोलन के सूत्रधार महात्मा गांधी हैं।

'हरिजन-सेवक-संघ' नाम की एक अखिल भारतीय संस्था का कार्य ही इन अधिकार-वंचित हिन्दुओं की तरह-तरह से सेवा करना तथा छुआछूत को मिटाना है, इसकी शाखाओं के रूप में प्रत्येक प्रान्त में हरिजन सेवक संस्थाएँ कार्य कर रही हैं।

मुस्लिम जीवन

हिन्दू और मुस्लिम सामाजिक जीवन में स्पष्ट अन्तर दिखायी देता है। मुसलमानों की आदर्श समाज-व्यवस्था का मूलाधार सामाजिक एकता की भावना है। मुस्लिम समाज में प्रत्येक मुसलमान बराबर है। यद्यपि मुसलमानों में हिन्दू-समाज-जैसी ३००० से भी ऊपर जातियाँ और अगणित उपजातियाँ नहीं हैं, तोभी मुसलमानों में शिया और सुन्नी दो बड़े सम्प्रदाय हैं। इनके अतिरिक्त और भी अनेक सम्प्रदाय और जातियाँ हैं। उत्तराधिकार, विरासत, वसीयत, विवाह, वक़्फ़ आदि के संबंध में

मुसलमानों की व्यवस्था मुसलिम-क़ानून के अनुसार होती है। मुसलमानों में हिन्दू संयुक्तकुटुम्ब-प्रथा जैसी कोई संस्था नहीं है। सम्मिलित रहने से वे सम्मिलित कुटुम्ब नहीं कहला सकते।

उत्तराधिकार

मुसलमानों में दो सम्प्रदाय प्रमुख हैं और उन दोनों के क़ानून भी भिन्न-भिन्न हैं। हनाफी-क़ानून (सुन्नी-क़ानून) के अन्तर्गत उत्तराधिकारी तीन श्रेणियों में विभाजित हैं। प्रथम श्रेणी के उत्तराधिकारियों के हिस्से क़ानून द्वारा निर्धारित हैं जो निम्न प्रकार हैं--

(१) पिता (२) पितामह (३) पति (४) पत्नी (५) मा (६) पितामही (७) पुत्री (८) पौत्री (९) सहोदर भ्राता (१०) सहोदर वहन इत्यादि।

इन सवके हिस्से निर्धारित हैं। इनको देने के वाद दूसरी श्रेणी के उत्तराधिकारियों को हिस्सा मिलता है। पुत्र और पौत्र दूसरी श्रेणी में आते हैं। परन्तु व्यवस्था इसप्रकार की गयी है कि पुत्र व पौत्रों के लिए काफ़ी हिस्सा वच रहता है। शिया-क़ानून के अनुसार उत्तराधिकारियों को ३ भागों में वाँटा गया है--प्रथम श्रेणी में रक्त-सम्वन्ध रखनेवाले वारिस आते हैं जैसे माता-पिता और उनकी सन्तान, पितामह और पितामही तथा भाई और वहन और उनकी सन्तान, चाचा तथा मामा और उनकी सन्तान, पितामह और पितामही तथा भाई और वहन और उनकी सन्तान, चाचा तथा मामा और उनकी सन्तान; पति-पत्नी विवाह-सम्वन्ध से उत्तराधिकारी हैं। मुसलमानों का उत्तराधिकार क़ानून इतना जटिल और पेचीदा है कि उसे समझना एक समस्या है।

सम्पत्याधिकार की दृष्टि से मुस्लिम स्त्रियों की स्थिति हिन्दू-महिलाओं से कहीं उत्तम और श्रेष्ठ है। मुस्लिम महिलाओं को अपने हिस्से पर पूर्ण अधिकार होता है। मुसलमान अपनी सम्पत्ति को वसीयत में भी दे सकता है। परन्तु किसी वारिस के नाम वसीयत उस समय तक वैध नहीं मानी जाती जवतक कि वसीयत करनेवाले की मृत्यु के वाद

दूसरे वारिस अपनी सम्मति न देदें। मुसलमान एक तिहाई से अधिक सम्पत्ति वसीयत द्वारा नहीं दे सकता। यह एक-तिहाई भाग क्रिया-कर्म के खर्च तथा कर्ज़े को अदा करने के बाद जो बचे उसका हिस्सा माना जाता है। मुसलमान को अपनी सम्पत्ति दान करने का अधिकार है। वह अपनी सारी सम्पत्ति अपने वारिस को भी दान कर सकता है।

विवाह

विवाह को मुसलमानों में धार्मिक संस्कार नहीं माना जाता। वह केवल एक समझौता है जिसका उद्देश्य सन्तानोत्पादन और बच्चों को क़ानूनी अधिकार-युक्त बनाना है। मुसलमानों में विवाह १५ वर्ष की आयु में किया जा सकता है। परन्तु यदि किसीका विवाह उसकी सम्मति के बिना किया जाये और विवाह के समय उसकी उम्र १५ वर्ष की हो तथा दिमाग भी सही हो, तो ऐसा विवाह अवैध होगा। विवाह के लिए एक पक्ष की ओर से प्रस्ताव होना चाहिए और दूसरे पक्ष द्वारा उसे स्वीकृति दी जानी चाहिए। यह कार्य दो साक्षियों के सामने होना चाहिए। प्रस्ताव और उसकी मंजूरी एक ही मिलन में होनी चाहिए। यदि प्रस्ताव एक बार किया गया हो और उसकी स्वीकृति एक या दो दिन बाद दी जाये तो यह उचित नहीं। विवाह के लिए किसी प्रकार के धार्मिक या सामाजिक कृत्य की आवश्यकता नहीं है। एक मुसलमान एक समय में एक साथ चार पत्नियाँ तक रख सकता है। मुसलमान अपनी मा, माता-मही, पुत्री, पौत्री, प्रपौत्री, बहन, चाची तथा मामी के साथ विवाह नहीं कर सकता। वह अपनी सास, अपनी पत्नी की पुत्री, अपने पिता की स्त्री या अपने पुत्र की वधू से भी विवाह नहीं कर सकता। परन्तु दो भाइयों या बहनों की सन्तानों में परस्पर विवाह हो सकता है।

शिया-क़ानून दो प्रकार के विवाहों को स्वीकार करता है, एक स्थायी और दूसरा अस्थायी। एक मुसलमान पुरुष मुस्लिम, ईसाई, यहूदी या पारसी स्त्री के साथ अस्थायी विवाह कर सकता है। परन्तु शिया स्त्री किसी गैर-मुस्लिम पुरुष से अस्थायी विवाह नहीं कर सकती। यह अस्थायी विवाह क्या है? अस्थायी विवाह के लिए यह जरूरी है कि

सहगमन की अवधि नियत करदी जाये—यह एक दिन, एक मास या एक साल या अधिक समय के लिए हो सकती है और दूसरी बात यह है कि महर निर्धारित कर दिया जाये। जबतक महर निर्धारित नहीं किया जाये तब तक अस्थायी विवाह बंध नहीं हो सकता।

प्रत्येक मुस्लिम स्त्री को विवाह के समय निर्धारित दहेज़ (Dower) वर की ओर से भेंट किया जाता है। यह दो प्रकार का होता है। एक तो सुहागरात से पूर्व देना होता है और दूसरा तलाक़ या मृत्यु के समय उसके वारिस को देना पड़ता है।

तलाक़

मुसलमानों में तलाक़ की प्रथा है। विवाह-सम्बन्ध-विच्छेद तीन प्रकार से हो सकता है—

(१) पति-द्वारा अपनी इच्छानुसार;

(२) पति-पत्नी की परस्पर सम्मति से;

(३) पति या पत्नी की प्रार्थना पर न्यायालय के निर्णय से।

मुस्लिम पति को जिसका दिमाग़ सही है तथा जिसकी उम्र १५ साल की है अपनी पत्नी को अपनी इच्छा से बिना कोई कारण बतलाये तलाक़ देने का अधिकार है।[१] यह वास्तव में स्वेच्छा की पराकाष्ठा है।

पति-पत्नी परस्पर सम्मति से तलाक़ दे सकते हैं। परन्तु पत्नी को अपनी ओर से तलाक़ देनें का अधिकार केवल निम्न-लिखित दशाओं में ही प्राप्त है। वे दशाएँ निम्न प्रकार हैं—

(१) पति की नपुंसकता; परन्तु नपुंसकता विवाह के समय होनी चाहिए और उसके बाद भी बराबर रही हो और तब उसे उसका ज्ञान न हो।

(२) यदि पति ने पत्नी पर व्यभिचार का मिथ्या दोषारोपण किया हो।

---

१. मुल्ला: 'प्रिंसिपिल्स ऑव मुहम्मडन लॉ' पृ० २०२

मुस्लिम स्त्री केवल उपर्युक्त दो आधारों पर ही तलाक़ के लिए न्यायालय से प्रार्थना कर सकती है।

यदि उसका पति व्यभिचार करता है, उपपत्नी रखता है, या उसकी परवरिश नहीं करता है, तो भी पत्नी के लिए विवाह-सम्बन्ध को तोड़ने का अधिकार नहीं है। इस सम्बन्ध में मुस्लिम स्त्री का भाग्य ऐसा नहीं है कि हिन्दू महिला उससे ईर्ष्या करे।

मुस्लिम महिलाओं में परदे की बड़ी भयंकर कुप्रथा है। इस परदे की प्रथा ने स्त्रियों को विलास की सामग्री बना दिया है। परदे की प्रथा के कारण न स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार व प्रसार हो सकता है और न वे सामाजिक या राजनीतिक आन्दोलन में पुरुषों का हाथ बँटा सकती हैं।

विवाहों के अवसरों पर दहेजों का रिवाज भी मुसलमानों में बहुत अधिक है।

मुसलमानों में हिन्दू-समाज की तरह जाति-भेद भी हैं। जो लोग मुसलमान बनाये जाते हैं, वे अक्सर हिन्दुओं के दलितवर्ग के व्यक्ति ही होते हैं। वे मुसलमान होकर भी मुस्लिम-समाज में 'दलित' ही बने रहते हैं। उनके साथ समानता का व्यवहार नहीं किया जाता।

ईसाई, पारसी आदि जीवनों का यद्यपि भारतवर्ष में अस्तित्व है, जिसका परिचय धार्मिक जीवन में दिया गया है। पर उनका भारतीय संस्कृति में कोई विशेष स्थान नहीं है।

नागरिकों का स्वास्थ्य

सुखपूर्वक जीवनयापन के लिए स्वास्थ्य अत्यन्त आवश्यक है। यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि 'स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क का वास होता है।' हममें से प्रत्येक अपने अनुभव से यह जानता है कि यदि हमारे शरीर में कोई कष्ट और पीड़ा हो तो उसका हमारे चित्त और मस्तिष्क पर भी प्रभाव पड़ता है, वह खिन्न और दुखी रहता है।

भारतवर्ष में जनता में स्वास्थ्य के प्रति बड़ी उपेक्षा की भावना देखी जाती है। जनता सुन्दर स्वास्थ्य का न मूल्य समझती है और न आवश्यकता। फिर उसकी प्राप्ति के लिए चेष्टा करना तो दूर रहा। यही कारण है कि हमारे देश में जन्म और मृत्यु की औसत संख्या अन्य देशों से बहुत बढ़ी-चढ़ी है। बाल-मृत्यु तथा प्रसूताओं की भीषण मृत्यु-संख्या बड़ी भयानक है और हृदय को कँपा देनेवाली है।

स्त्री-पुरुषों की मृत्यु संख्या का अनुपात

मृत्यु-संख्या का अनुपात प्रति १०० जन्म इस प्रकार है—

आयु	बालक	बालिकाएँ
०	२४.८७	२०.२१
१	९.१८	८.६५
२	५.६४	५.०६
३	३.९२	३.४०
४	२.७४	२.३३
५	१.९३	१.६५
६	१.४५	१.२५
७	१.१५	१.०१
८	.९४	.८८
९	.८३	.८२

भारत की मृत्यु-संख्या (आयु के अनुसार अनुपात)

आयु	प्रतिशत बालक	प्रतिशत बालिकाएँ
१०	.७९	.८१
११	.८१	.८४
१२	.८४	.८८
१३	.८८	.९३
१४	.९३	१.०२
१५	.९८	१.१५
१६	१.०४	१.३०
१७	१.१०	१.४०
१८	१.१६	१.५६
१९	१.२१	१.६६
२०	१.२७	१.७६

दूसरे देशों की तरह भारत में भी बालक बालिकाओं से अधिक पैदा होते हैं। अर्थात् भारत में बालिकाओं की प्रतिशत जन-संख्या के लिए बालकों की जन-संख्या १०८ है। इंगलैण्ड में बालकों की ऐसी जन-संख्या १०५ है। इसी कारण ९ वर्ष की आयु के भीतर बालकों की मृत्यु-संख्या का अनुपात बालिकाओं की मृत्यु-संख्या के अनुपात से अधिक रहता है।

परतु १० वर्ष की आयु से बालिकाओं की प्रतिशत मृत्यु-संख्या एकदम बढ़ जाती है और बालकों की प्रतिशत मृत्यु-संख्या से आगे निकल जाती है।

भारतवर्ष में ५५ वर्ष की आयु के बाद पुरुषों में स्त्रियों की अपेक्षा मृत्यु-संख्या अधिक होती है। यूरोप में भी यही बात है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ दीर्घजीवी होती हैं। ग्रेट-ब्रिटेन में ८० वर्ष से ऊपर की आयुवाले मनुष्यों में पुरुषों से स्त्रियाँ दोगुनी हैं। सन् १९३२ में १०० वर्ष के ऊपर आयुवाले १८ मनुष्य मरे। इनमें केवल २ ही पुरुष थे; शेष स्त्रियाँ थीं।

सन्	जन्म	अनुपात प्रति १०००	मृत्यु	अनुपात प्रति १०००
१९३१	९१,३५,८९०	३४.३	६५,१५,०९९	२४.९०
१९३२	९०,५४,५०६	६४.७८	५८,०५,६६९	२१.८५
१९३३	९६,७८,८७६	३६.४३	६०,९६,७८७	२२.९५
१९३४	८२,८८,८९७	३३.७	६८,५६,२४४	२३.००
१९३५	९६,९८,७९४	३४.९	६५,७८,७११	२३.६

उपर्युक्त १० वर्ष की मृत्यु और जन-संख्या के अंकों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में जन्म और मृत्यु-संख्या में क्रमोन्नति होती रही ह।

सन् १९३० की जनगणना के अनुसार भारत में प्रति १००० जन्म के पीछे १८०.८३ वालकों-वालिकाओं की मृत्यु का अनुपात है। इन दस वर्षों में इसमें कोई सुधार नहीं हुआ। भारत में वाल-मृत्यु अन्य देशों की अपेक्षा वहुत ही अधिक है। नगरों में और विशेषतः वड़े-वड़े नगरों में मृत्यु का अनुपात तो और भी अधिक है। ५ वर्ष तक की आयु के वालकों की मृत्यु संख्या एक लाख जन्म पीछे ४५ हज़ार है।

भारत की जन-संख्या में वृद्धि

भारत की जन-संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जारही है। जन-संख्या की वृद्धि के सम्वन्ध में निम्नलिखित अंकों से इस वृद्धि का अनुपात ज्ञात हो जायेगा:—

सन्	भारत की जन-संख्या	वृद्धि की संख्या
१८९१	२८,७३,१४,६७१	
१९००	२९,४३,६१,०५६	+ ७०,४६,३८१
१९११	३१,५१,५६,३९६	+ २,०७,९५,३४०
१९२१	३१,८९,८२,४८०	+ ३८,३६,०८४
१९३१	३५,२८,३७,७७८	+ ३,३८,५५,२९८

इस वर्ष (१९४१ में) जो मनुष्य-गणना हुई है, उसके अनुसार भारत की जन-संख्या प्रायः ४० करोड़ हो गयी है। इस प्रकार १०

वर्षों में प्रायः ५ करोड़ जन-संख्या की वृद्धि हुई।

जन-संख्या में यह वृद्धि वास्तव में एक बड़ी विकट समस्या है। भारत में भीषण दरिद्रता की छाया में जनता की संख्या में वृद्धि वास्तव में एक ऐसी समस्या है जो समाज-शास्त्रियों के लिए एक आश्चर्य है। भारत में इतने भीषण रोगों, भयंकर बीमारियों तथा बालमृत्यु-संख्या के बावजूद भी यहाँ संख्या बढ़ती जारही है और यदि उसी क्रम से संख्या में वृद्धि होती रही तो इस बढ़ती हुई संख्या के पालन-पोषण की समस्या बड़ा विकट रूप धारण कर लेगी।

प्रसूति-काल में मृत्यु

भारत में बहुत छोटी आयु में विवाह होजाने से स्त्रियाँ छोटी आयु में ही गर्भधारण करने लगती हैं। शारीरिक अवस्था भी गर्भधारण के पूर्णतः अयोग्य होती है इसलिए यहाँ प्रसूति-काल में ही माताएँ रोगिणी बन जाती हैं और शीघ्र ही मृत्यु के मुख में चली जाती हैं।

बालमृत्यु सम्बन्धी अंक देखने से यह भलीभाँति प्रमाणित हो जाता है कि १६ वर्ष की अवस्था तक बालिकाओं की अपेक्षा बालकों की मृत्यु अधिक संख्या में होती है। परन्तु इस आयु के बाद जब वे गर्भ-धारण करने लगती हैं तो उनकी मृत्युसंख्या का अनुपात पुरुषों की अपेक्षा बढ़ जाता है। १५ से ४० वर्ष की अवस्था में स्त्रियों की मृत्यु अधिक होती देखी गयी है। इसके कई कारण हैं—(१) बाल-विवाह (२) कम आयु में शरीर की दुर्बल अवस्था में गर्भधारण (३) प्रसूति-काल में दुर्व्यवस्था (४) स्वच्छ वायु, प्रकाश और स्थान का अभाव (५) पौष्टिक भोजन का अभाव।

प्रसूति-काल में माताओं की मृत्यु के सम्बन्ध में १९३३ में सर जान मिगाड ने जाँच की थी। उनके अनुसार प्रसूताओं की मृत्यु के अंक १९५ प्रति हजार हैं।

उनका कथन है कि १००० बालिका माताओं में १०० माताओं की मृत्यु तो प्रसूति-काल में ही हो जाती है और भारतवर्ष भर में

लगभग २ लाख माताएँ प्रतिवर्ष बच्चों के जन्म होने के समय प्रसूति-गृह में मर जाती हैं !

सन् १९३८-३९ में कलकत्ता में अखिल भारतवर्षीय सार्वजनिक स्वास्थ्य संस्था (All India Institute of Hygiene and Public Health) की ओर से एक साल तक प्रसूताओं की मृत्यु के सम्बन्ध में जाँच-पड़ताल की गयी थी। ८८७ प्रसूताओं की मृत्यु के कारणों की जाँच की गयी। इनमें से ७०१ प्रसूताओं की मृत्यु का कारण प्रत्यक्ष रूप से गर्भधारण सम्बन्धी था और १८६ प्रसूताओं की मृत्यु का कारण वे रोग थे जो गर्भधारण से सम्बन्ध रखते हैं। प्रसूताओं में रक्त का अभाव, विषमय गर्भपात, प्रसूति सम्बन्धी विषाक्रमण और प्रसूति के बाद यक्ष्मा का आक्रमण ही प्रमुख कारण हैं जो उनकी मृत्यु के लिए उत्तरदायी हैं। इनमें ४०% मृत्यु-संख्या का कारण यक्ष्मा था। और २३.०% मृत्यु-संख्या का कारण रक्त का अभाव था।

जीवन-काल का औसत

संसार के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध देशों का आयु का औसत (वर्षों में) इस प्रकार है—

सन्	देश	पुरुष	स्त्री
१९३१	भारत	२६.९१	२६.५६
१९२६	जर्मनी	५५.९७	५८.८२
१९२३	फ्रांस	५२.१९	५५.८७
१९२२	ग्रेट-ब्रिटेन	५५.६२	५९.५८
१९२२	इटली	४९.२५	५०.७५
१९२७	रूस	४१.९३	४६.७३
१९२२	जापान	४२.०६	४३.२०
१९२५	स्वीडन	६०.७२	६२.९५
१९००	बेलजियम	४५.३५	४८.८५

भारत में औसत आयु २६ वर्ष है। परन्तु जर्मनी और इंग्लैण्ड में ५५

वर्ष से भी अधिक औसत आयु है। कितना महान् अन्तर है! 'जीवेम शरदः शतम्' का सायं-प्रातः पाठ करनेवाली आर्य-सन्तति का यह पतन कितना भयावह है।

सन् १९३१ में भारत में प्रान्तों के अनुसार औसत-आयु इस प्रकार है—

प्रान्त	स्त्री	पुरुष
बंगाल	२४.९१	२४.२१
बम्बई	२७.८४	२६.३७
मद्रास	२८.७१	३०.०४
पंजाब	२८.०५	२६.५७
संयुक्तप्रान्त	२४.५६	२५.०९
बिहार-उड़ीसा	२८.८८	२६.९०
मध्यप्रान्त	२८.१०	२८.२१

संक्रामक रोगों की वृद्धि और भीषणता

भारतवर्ष में मलेरिया, हैजा, इन्फ्लुएंजा, चेचक, मोतीझरा, प्लेग तथा यक्ष्मा आदि भयंकर संक्रामक रोगों की दिन पर दिन वृद्धि हो रही है। सरकार की ओर से अभीतक इन रोगों के निवारण के लिए कोई प्रभावशाली कार्यक्रम बनाकर काम नहीं किया गया। प्रतिवर्ष मलेरिया से भारतवासी सबसे बड़ी संख्या में मर जाते हैं; परन्तु अभी तक उसके प्रतिकार का कोई उपाय नहीं किया गया। आजकल राजयक्ष्मा रोग भारतीय ग्रामों और नगरों में बड़े व्यापक रूप में फैल रहा है। इस रोग की दिन पर दिन वृद्धि के कारण केवल मृत्यु की संख्या में ही वृद्धि नहीं होती बल्कि यह महा भयानक रोग सार्वजनिक स्वास्थ्य का बड़ा घातक भी बन रहा है।

सन् १९३५ की जन-गणना के अंकों के अनुसार समस्त ब्रिटिश भारत में ६५,७८,७११ स्त्री-पुरुष तथा बच्चे प्रतिवर्ष मरे और उसका ब्यौरा इस प्रकार है:—

चेचक से	९०,७०३
प्लेग से	३२,०९१
पेचिश और संग्रहणी से	२७८,८८३
हैजे से	२१७,१६२
शीत से उत्पन्न फुप्फुस-सम्बन्धी रोगों से	४८२,८७०
बुखार से	३,७५४,७५१
अन्य रोगों से	१,७२२,३११

भारतवर्ष में राजयक्ष्मा रोग भीषण रूप धारण करता जा रहा है। सरकार भी उसकी भीषणता का अनुभव करने लगी है और लेडी लिनलियगो ने आन्दोलन करके राजयक्ष्मा के प्रतिकार के लिए (King Emperor's Anti-Tuberculosis Fund) कोष स्थापित किया है जिसमें कई लाख रुपये जमा हो चुके हैं। इस कोष के धन से भारत भर में आधुनिक चिकित्सा-प्रणाली के अनुसार राजयक्ष्मा के रोगियों के लिए चिकित्सालय व स्वास्थ्यशालाएँ बनाई जायेंगी। भारत में इस रोग से ५ लाख व्यक्ति मर जाते हैं। यह रोग सब रोगों से भयंकर, घातक और सार्वजनिक स्वास्थ्य का महान् शत्रु है। हैजा, प्लेग आदि तो कभी-कभी प्रकोप करते हैं और कुछ समय के बाद शान्त भी हो जाते हैं, परन्तु यक्ष्मा रोग तो जिस गृह में एक बार उसके किसी सदस्य पर आक्रमण करता है, उस गृह का ही सर्वनाश नहीं करता प्रत्युत पड़ोसियों के लिए भी घातक सिद्ध हो जाता है। समाज के—गृह के सबसे उपयोगी और स्वस्थ लोगों पर इसका प्रभाव अधिक होता है। युवक, युवती स्त्रियों, विद्यार्थियों तथा माताओं पर यह भयंकर रोग अपना बड़ा घातक आक्रमण करता है।

भारत के अपाहिज

भारत में दूसरे देशों की अपेक्षा अपाहिजों की भी संख्या बहुत अधिक है। अपाहिजों में पागल, गूँगे-बहरे, अंधे और कोढ़ी सम्मिलित हैं। सन् १९३१ की जन-गणना के अनुसार समस्त भारत में—

पागल	१,२०,३०४
गूंगे-वहरे	२,३०,८९५
कोडी	१,४७,९११
अंधे	६,०१,३७०

इस प्रकार कुल ११ लाख अपाहिज थे। यदि इन सब अपाहिजों को इकट्ठा किया जाये तो कलकत्ते के वरावर नगर वस जायेगा, जो ब्रिटिश साम्राज्य में लन्दन के वाद दूसरा विशाल नगर है। इससे आप अनुमान लगा सकते हैं कि अपाहिज कितने अधिक हैं।

अस्वास्थ्य के कारण

भारतवर्ष में अस्वास्थ्य के निम्नलिखित कारण देखने में आये हैं—

जल-वायु का प्रभाव—भारतवर्ष के अनेक भागों की जल-वायु स्वास्थ्य के लिए उपयुक्त और अनुकूल नहीं है। अनेक भागों में वर्षा की अधिकता के कारण मच्छर आदि रोगों के जीवाणु अधिक पैदा होजाते हैं जिनसे रोगों में वृद्धि होजाती है। भारत के अधिकांश भाग में गरमी अधिक पड़ती है और उसका भी स्वास्थ्य पर वुरा प्रभाव पड़ता है। जो लोग पञ्जाव तथा सीमाप्रांत और पहाड़ी प्रदेशों में रहते हैं, उनका स्वास्थ्य उत्तम है, पर जो वंगाल तथा मद्रास प्रान्तों में रहते हैं, वे अस्वस्थ और शरीर से अत्यन्त दुर्वल हैं।

स्वास्थ्य-विज्ञान के नियमों के प्रति अवहेलना—भारतवासियों में और विशेषतः अशिक्षित तथा गरीव जातियों में स्वास्थ्य-रक्षा के नियमों का पालन नहीं किया जाता। शारीरिक स्वास्थ्य तथा गृह और आस-पास के वातावरण को शुद्ध रखने की ओर नागरिकों का ध्यान विल्कुल नहीं है। भारत में संक्रामक रोगों का प्रकोप जो प्रतिवर्ष भयंकर रूप में होता है और जिसमें लाखों मनुष्य मर जाते हैं, उसकी वृद्धि का कारण भी जनता का अज्ञान है। ग्रामों और नगरों में ऐसे लोगों की संख्या सवसे अधिक है जो रोगों के कीटाणुओं के सिद्धान्त में विश्वास नहीं करते। इसी कारण वे छूतछात का भी ध्यान नहीं रखते। स्वास्थ्य तथा

सफ़ाई के नियमों के ज्ञान के अभाव में उनके पालन की आशा करना व्यर्थ है। भारतवर्ष में स्वास्थ्य तथा सफ़ाई के नियमों के प्रचार तथा नागरिकों-द्वारा उनके पालन करने की बड़ी आवश्यकता है।

नागरिक भावना का अभाव—इसके अतिरिक्त जनता में नागरिक-भावना (Civic Sense) का भी बड़ा अभाव है। गृह-देवियाँ अपने मकान की सफ़ाई करके कूड़ा-कर्कट, गोबर, पाखाना, कीचड़ या मैला पानी, लापरवाही के साथ अपने द्वार के सामने बिखेर देती हैं। वे इतना सोचने का कष्ट नहीं उठातीं कि यह कूड़ा कर्कट पड़ा रहकर कितनी घातक दुर्गन्ध पैदा करता है और रोग के कीटाणुओं को पैदा करता है। स्वच्छता बनाये रखना मुहल्ले के प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। इस कूड़े-कचरे को कुत्ते, बिल्ली, पशु-पक्षी (जैसे मुर्ग़ियाँ, यदि मुहल्ले में ईसाई या मुसलमानों के घर हों) तितर-बितर करके और भी गंदगी बढ़ा देते हैं। घर के पास ही बच्चे पाखाना फिरते देखे जाते हैं। रेलवे के डिब्बे तक में इतनी अधिक गन्दगी होती है कि वहाँ बैठना कभी-कभी नरक-यात्रा से कम नहीं होता। यात्री लोग अपनी सीट पर बठे-बैठे ही हाथ-मुंह धोकर पानी रेल के डिब्बे में ही छोड़ देते हैं, पान की पीक से फर्श को गंदा कर देते हैं और थूकना तो साधारण-सी बात है। रेल के डिब्बे में जो शौचालय होता है, वह भी गंदा रहता है और इसके लिए यात्रा करने-वाले नागरिक ही जिम्मेदार हैं। यह उनकी स्वास्थ्य के प्रति उपेक्षा पर एक खेदजनक आलोचना है कि वे इन शौचालयों का भी ठीक तरह से प्रयोग करना नहीं जानते।

मेलों, उत्सवों, सम्मेलनों या विवाहादि के समारोहों के समय तो और भी अधिक गन्दगी के दर्शन होते हैं। भारत में जब हैज़ा या इन्फ्लुएंजा शुरू होता है, तब उसका श्रीगणेश हरिद्वार के कुम्भ, इलाहाबाद के गंगा-स्नान, मथुरा के मेलों तथा गढ़मुक्तेश्वर के स्नान के मेलों से ही होता है। ऐसे अवसरों पर लोग चाहे जिस स्थान पर मल-मूत्र का त्याग करते हैं और ये मल-मूत्र और विशेषतः हैज़ा के रोगियों के मल-वमन आदि के कीटाणु खाद्य पदार्थों में मिलकर स्वस्थ लोगों

के पेट में जाते हैं तो उन्हें भी हैज़ा होजाता है।

प्रत्येक व्यक्ति जहाँ अपने शरीर, वस्त्र, गृह आदि की शुद्धता और सफ़ाई रखे, वहाँ उसका यह भी कर्तव्य है कि वह अपने पड़ौस तथा बस्ती या ग्राम की सफ़ाई तथा स्वास्थ्य के लिए नियमों का पालन करे।

भय और अंध-विश्वास—भारतवासियों के अस्वास्थ्य का एक छिपा रहस्य है धार्मिक अंध-विश्वास तथा मिथ्या भय। मनुष्य में ही क्या प्रत्येक प्राणी मे आत्म-रक्षा तथा स्वजाति-रक्षा की प्रबल भावना है। इसी कारण उसमें भय का भी भाव है। मनुष्य अपनी तथा स्वजाति की रक्षा के लिए अनेक जानवरों व चीज़ों से भयभीत रहता है—सांप, बिच्छू, शेर, बिजली आदि।

यह ठीक है और आत्म-रक्षा के लिए ऐसी खतरनाक चीज़ों तथा जीवों से अपनी रक्षा करना बुद्धिमानी है। परन्तु अज्ञान-वश लोग ऐसे कल्पित भय के शिकार बने रहते हैं कि जिनका इस जगत् में कोई अस्तित्व नहीं। भूत, चुड़ैल, देवी, देवता, काली, भवानी आदि ऐसे कल्पित जीव हैं जिनकी स्वार्थी लोगों ने अपनी जीविका के हेतु कल्पना करली है। इस प्रकार के अज्ञान से लोग किसी भयंकर बीमारी से आक्रान्त होजाने पर देवी-देवता की, भूत-प्रेत की पूजा करते हैं—जात (यात्रा) को जाते हैं और देवता को मनाने के लिए न जाने क्या-क्या मूर्खता पूर्ण दुष्कर्म करते हैं। परन्तु अज्ञान के कारण उन्हें यह पता नहीं चलता कि ये सब मिथ्या पाखण्ड है। इस प्रकार भूत-प्रेतों की पूजा में लगकर न रोगी के रोग की चिकित्सा करायी जाती है और न उसे किसी डाक्टर या वैद्य को दिखाया जाता है। फलतः असावधानी के कारण उसकी मृत्यु होजाती है। नवयुवती स्त्रियों में कामोन्माद के कारण हिस्टीरिया रोग का आक्रमण होजाता है। मूर्खा स्त्रियाँ समझती हैं कि यह चुडैल का चक्कर है और फिर उसका उपचार करती हैं।

(१) प्रसव-क्रिया का अवैज्ञानिक ढंग

माताओं और बालकों की मृत्यु संख्या में वृद्धि का मूलकारण है

गर्भवती स्त्रियों का गिरा हुआ स्वास्थ्य तथा मूर्खा दाइयों-द्वारा प्रसव क्रिया का सम्पादन। बच्चे जनाने का काम ग्रामों और नगरों में अशिक्षित तथा गँवार दाइयों द्वारा किया जाता है। वे अपने स्वास्थ्य के नियमों के प्रति अज्ञान के कारण प्रसव के समय शुद्धि का ध्यान नहीं रखतीं। फलतः प्रसूत-काल में स्त्री के गर्भाशय में विप का संचार होजाता है। इस प्रकार प्रसूताएँ रोगी होकर मर जाती हैं। इस ओर कई प्रान्तों की सरकारों ने म्युनिसिपल बोर्डों-द्वारा शिक्षित धात्रियों (Midwives) तथा परिचारिकाओं (Nurses) की व्यवस्था करदी है जो बिना किसी फीस के प्रसव-क्रिया का सम्पादन करती हैं। प्रत्येक बड़े नगर में स्वास्थ्य-केन्द्र तथा प्रसूता-केन्द्र (Maternity Centers) खुल गये हैं, तो भी इस दिशा में अभी बहुत-कुछ करने की जरूरत है। ग्रामों में भी ऐसी ही व्यवस्था हो जानी चाहिए।

(२) परदा-प्रथा

भारतवर्ष के संयुक्तप्रान्त, बिहार, राजस्थान, मध्य-भारत तथा उड़ीसा और कुछ देशी राज्यों में मुसलमानों तथा हिन्दुओं में परदे की बड़ी बुरी प्रथा आज भी प्रचलित है। बंगाल, पंजाब मद्रास, बम्बई, आसाम तथा महाराष्ट्र आदि प्रान्तों में स्त्रियों में परदे का बिल्कुल रिवाज नहीं है। भारत में परदे के कारण स्त्रियों को हर समय घर की जेल में बन्द रहना पड़ता है। वे न शुद्ध हवा पा सकती हैं और न टहलकर अपने स्वास्थ्य को सुधार सकती हैं। परदे के विरुद्ध जबसे आन्दोलन छिड़ा है और जबसे राष्ट्रीय आन्दोलन ने जोर पकड़ा है तबसे इस दिशा में कुछ सुधार हुआ भी है। प्रसन्नता की बात है कि शिक्षित समाज में से परदा विदा होता जा रहा है।

(३) शुद्ध तथा पौष्टिक खाद्य-पदार्थों का अभाव

अस्वास्थ्य का एक बड़ा प्रमुख कारण है शुद्ध खाद्य-पदार्थों का अभाव। आजकल के बाजार में प्रायः कोई भी खाद्य वस्तु शुद्ध रूप में नहीं

मिलती। आटा, चावल, दाल आदि सड़े-गले मिलते हैं। मिठाइयाँ मिलावट के घी की, या खराब तेल की होती हैं और दूध आदि तरल पदार्थ शुद्ध नहीं मिलते। जब राष्ट्र के नागरिकों को ये शुद्ध पौष्टिक पदार्थ खाने के लिए न मिलेंगे तो फिर उनका स्वास्थ्य अच्छा कैसे बनेगा? म्युनिसिपलबोर्डों तथा जिलाबोर्डों की ओर से शुद्ध-भोजन में मिलावट के विरुद्ध कानून चलाये गये हैं, परन्तु कर्मचारियों और अधिकारियों की उपेक्षा तथा अवहेलना के कारण इनका ठीक-ठीक पालन नहीं हो रहा है।

(४) असंयत-जीवन तथा मादक-द्रव्यों का प्रयोग

भारतवर्ष में जीवन को सदाचारी बनाने की ओर दूसरे देशों की अपेक्षा जितना ही अधिक उपदेश दिया जाता है उतना ही कम उस पर आचरण किया जाता है। समाज में व्यभिचार, गुप्त व्यभिचार, बलात्कार तथा वेश्या-वृत्ति का चक्र समूचे समाज के स्वास्थ्य के लिए घातक सिद्ध हो रहा है। भारत में बढ़ती हुई दुष्कृतियाँ तथा अपराध इसका स्पष्ट प्रमाण हैं। रहा-सहा स्वास्थ्य मादक-द्रव्यों के प्रयोग द्वारा नष्ट हो रहा है। भारत के नगरों में मिल और कारखानों के पास ही मादक-द्रव्यों की दूकानें हैं जिन्हें सरकार का संरक्षण प्राप्त है। मजदूर लोग ८—१० घण्टे काम करने के बाद अपनी थकावट मिटाने को शराब, ताड़ी या अफीम आदि का सेवन करते हैं। सन् १९३७ में जब ७ प्रान्तों में कांग्रेस ने मंत्रित्व-पद-ग्रहण किया, तब महात्मा गांधी की प्रेरणा तथा आदेश से कांग्रेस मंत्रियों ने अपने-अपने प्रान्तों में मादक-द्रव्यों के निषेध (Prohibition) के लिए उद्योग किया था। और मद्रास, बम्बई, संयुक्त प्रान्त, बिहार उड़ीसा, व मध्यप्रदेश में शराबबन्दी कुछ चुने हुए विशेष जिलों व नगरों में की गयी थी।

महात्माजी का यह कार्यक्रम था कि ३ वर्षों में समस्त देश में पूर्ण रूप से शराबबन्दी हो जायेगी; परन्तु नवम्बर १९३९ में युद्ध के कारण कांग्रेसी मन्त्री-मण्डलों ने पद-त्याग कर दिया और यह कार्य आगे न बढ़ सका। वर्तमान सरकार उसी पुराने कार्य को उसी मर्यादा में कर

रही है। वम्बई की हाईकोर्ट की ओर से जवसे यह निर्णय हुआ है कि शरावबन्दी की व्यवस्था अवैध है; तबसे वम्बई नगर में पुनः मद्य निषेध व्यवस्था भंग हो गयी है।

(५) अस्वास्थ्यप्रद मकान

ग्रामों और नगरों में मकानों का निर्माण बहुत ही अवैज्ञानिक ढंग से किया जाता है। सम्पत्तिशाली शिक्षित वर्ग के लोग और वम्बई, कलकत्ता अहमदावाद जैसे नगरों के सेठ-व्यापारी अपने आराम के लिए तो खुले स्थानों में बँगले तथा कोठियाँ वनवाते हैं; परन्तु उनके कारखानों व मिलों में काम करनेवाले मजदूरों के लिए बड़ी गन्दी और अस्वास्थ्यकर कोठरियाँ होती हैं। उन्हें ८ फीट लम्बी चौड़ी कोठरियों में ४ से ८ तक की संख्या में गुजर करनी पड़ती है।

नगरों के मकान एक-दूसरे से इतने सटे हुए होते हैं कि उनमें शुद्ध हवा और प्रकाश का प्रवेश स्वतन्त्र रूप से नहीं हो पाता।

(६) आर्थिक दुर्दशा और दरिद्रता

भारतवासियों के हीन स्वास्थ्य का एक प्रधान कारण उनकी आर्थिक दुर्दशा और भयंकर गरीवी तथा वेकारी भी है। जून १९४१ में भारत-मन्त्री श्री एमरी ने पार्लमेंट में भाषण करते हुए भारत के सम्बन्ध में कहा—**"भारत समृद्धिशाली है। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के पास अधिक राज-कोष है···।"**

परन्तु इस कथन में सचाई का लेश भी नहीं है। भारत की समृद्धि का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भारत-मंत्री ने प्रान्तीय और केन्द्रीय सरकारों की वढ़ती हुई आमदनी पर अपनी दृष्टि डालकर यह निष्कर्ष निकाल लिया है कि भारत समृद्धिशाली है। परन्तु उन्होंने नयी दिल्ली और लखनऊ, वम्बई, कलकत्ता, मद्रास, लाहौर आदि नगरों के सरकारी खजानों के आदिस्रोत पर विचार करने का कष्ट नहीं किया।

देश की जनता की समृद्धि का पता शिमला-शैल के भव्य भवनों में

निवास करनेवाले सम्पत्ति-जीवियों से नहीं लग सकता। इसके लिए तो भारत के ग्रामों का भ्रमण आवश्यक है। आप किसी भी ग्राम में चले जाइए, वहाँ आपको दरिद्रता का ताण्डव दिखायी देगा और उसके चारों ओर खड़े दीखेंगे रोग, चिन्ता, बेकारी, और दैन्य।

सन् १९३८ में तत्कालीन अर्थ-मन्त्री सर जेम्स ग्रिग ने अपने बजट भाषण में कहा था कि—'ब्रिटिश भारत की राष्ट्रीय आय १६ अरब रुपये है। यदि इस कथन को सत्य मान लिया जाये तो ब्रिटिश भारत में प्रत्येक व्यक्ति की औसत वार्षिक आमदनी ५३ रुपये ५ आने ४ पाई होती है। यदि इस आय में से केन्द्रीय, प्रान्तीय सरकारों तथा स्थानीय बोर्डों को दिये जानेवाले टैक्सों को कम कर दिया जाये जो अनुमान से ८ रुपये ५ आने ४ पाई होते हैं तो प्रत्येक व्यक्ति की वार्षिक आमदनी ४५ रुपये पड़ती है। इस प्रकार ४ रुपये मासिक से भी कम आमदनी पड़ती है।[१]

क्या यह भारत की समृद्धि का प्रमाण या उसकी भीषण दरिद्रता का चित्र है?

(७) स्वास्थ्य-विभाग की अव्यवस्था

सार्वजनिक स्वास्थ्य की रक्षा तथा सफाई की व्यवस्था का पूरा उत्तरदायित्व प्रत्येक प्रान्त की सरकार पर है। प्रत्येक प्रान्त में एक स्वास्थ्य-विभाग होता है। इसका प्रधान अधिकारी तो मंत्री होता है, परन्तु विभाग-सम्बन्धी व्यवस्था का दायित्व इंडियन सिविल सर्विस के सेक्रेटरी पर रहता है। प्रत्येक प्रान्त में स्वास्थ्य-विभाग का एक डाइरेक्टर होता है जिसके नियन्त्रण में स्वास्थ्य-विभाग का कार्य संचालित होता है। यह विभाग अपना कार्य स्थानीय बोर्डों (चुंगियों तथा जिला बोर्डों) के द्वारा सम्पादन करता है। इस विभाग के स्थानीय कर्मचारी स्थानीय

---

१ भारत-मंत्री ऐमरी के भाषण पर सर इब्राहीम रहमतुल्ला खाँ का वक्तव्य—'लीडर' (१९ जून १९४१)।

बोर्ड के नियन्त्रण में रहते हैं। स्थानीय बोर्डों का शासन-प्रबन्ध वैसे ही असन्तोषजनक रहता है। इनके सदस्य तथा चेयरमैन राजनीतिक चालों का आश्रय लेकर नागरिक जीवन के साथ खिलवाड़ करना ही अपना मनोरंजन या व्यापार समझते हैं।

यही कारण है कि इन बोर्डों के नियन्त्रण में रहने के कारण स्वास्थ्य-विभाग के स्थानीय अधिकारी भी मनमाने ढंग से कार्य करते हैं। प्रत्येक नगर में एक हैल्थ आफीसर तथा कई सेनीटरी इन्सपैक्टर होते हैं। इनका यह कार्य है कि बस्तियों में भ्रमण कर सफाई की व्यवस्था करें। परन्तु देखा यह गया है कि ये अफसर वर्षों में भी किसी बस्ती में निरीक्षण करने नहीं आते और न सेनीटरी इन्स्पेक्टर ही अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हैं।

स्वास्थ्य-विभाग की ओर से मेहतरों के रहन-सहन तथा उनके सफाई-कार्य में सुधार करने के लिए इस विभाग की ओर से कोई कार्य नहीं किया गया है। कलकत्ता, बम्बई आदि बड़े नगरों में तो कुछ प्रबन्ध किया भी गया है।

स्वास्थ्य-विभाग की ओर से नगरों में वाटिकाओं व पार्कों, स्वास्थ्य-गृहों तथा जलाशयों की व्यवस्था होनी चाहिए। परन्तु इस ओर बहुत ही कम ध्यान दिया जाता है।

स्वास्थ्य सुधार के उपाय

हमने स्वास्थ्य-हीनता के जिन कारणों पर ऊपर विचार किया है, उनके निवारण द्वारा ही स्वास्थ्य में सुधार हो सकता है। यदि उपर्युक्त कारणों के निवारण के लिए समस्त नागरिक मिलकर स्वास्थ्य-विभाग के सहयोग से प्रयत्न करें, तो कोई कारण नहीं कि भारतवासियों के स्वास्थ्य में सुधार न हो सके।

: १४ :

सांस्कृतिक जीवन

शिक्षा, साहित्य, भाषा और कला संस्कृति के अंग हैं। अतः भारत के सांस्कृतिक जीवन पर विचार करने में इन पर विचार करना आवश्यक है।

शिक्षा

प्राचीन काल में शिक्षा

आज सभी विद्वान् एक मत से यह स्वीकार करते हैं कि शिक्षा का लक्ष्य मानव की शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों का सामंजस्यपूर्ण विकास और उत्कर्ष है। आज भारत में जो शिक्षा-प्रणाली प्रचलित है, उससे राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती। इसलिए उसके प्रति बड़ा असंतोष पैदा हो रहा है और उसमें सुधार और संशोधन के लिए उद्योग किया जा रहा है। अतः भारत में शिक्षा पर विचार करते समय यह उपयोगी होगा कि हम अपनी प्राचीन वैदिक शिक्षा-प्रणाली का तो अवलोकन करें ही, उसकी विशिष्टताओं पर भी विचार करने का प्रयास करें।

पुराने समय में शिक्षा का आधार आध्यात्मिक था। समस्त ज्ञान विज्ञान, कला-कौशल, साहित्य आदि का धर्म से घनिष्ट संबंध था। धर्म आज-कल जैसी सांसारिक जीवन से अलग देवमन्दिरों में तीर्थों या मठों तक ही परिमित रहनेवाली चीज़ नहीं थी। धर्म सच्चे अर्थों में सामाजिक जीवन का आधार था। उस समय गुरुकुल थे। गुरुकुल का अर्थ है आचार्य, शिक्षक या अध्यापक का परिवार। उसके सदस्य गुरुकुल के छात्र होते थे, जो 'ब्रह्मचारी' कहे जाते थे, क्योंकि गुरु उन्हें 'ब्रह्म' (ज्ञान) की ओर ले जाने की साधना में पथ-प्रदर्शन करता था। इनमें बालक और बालिकाएँ निःशुल्क शिक्षा ग्रहण करते थे। गृरुकुल के संचालन में सहयोग और आर्थिक सहायता देना गृहस्थ का पवित्र कर्तव्य होता

था। फलस्वरूप गुरुकुल आर्थिक चिन्ता से मुक्त होकर अपने आचार्यों द्वारा ब्रह्मचारियों को सम्यक् ज्ञान देते थे।

वैदिक साहित्य में आचार्य की जो महत्ता है उसका एकमात्र कारण यह है कि आचार्य ब्रह्मचारी का धर्म-पिता है; वह उसे आचार की शिक्षा देता है, उसका आध्यात्मिक संस्कार करता है। माता-पिता तो उसके शरीर का पालन पोषण मात्र ही करते हैं; परन्तु आचार्य के हाथ में इससे भी गुरुतर कार्य—चरित्र का निर्माण—जिसके ऊपर उसका सारा जीवन निर्भर है। चरित्र-निर्माण में शारीरिक और आत्मिक पवित्रता की साधना होती है। इस प्रकार वैदिक शिक्षा शुद्धि का समन्वय थी। अनुशासन द्वारा शरीर की शुद्धि, शिक्षण द्वारा शक्तियों की शुद्धि, ज्ञान द्वारा बुद्धि या मन की शुद्धि और ध्यान तथा मनन द्वारा आत्मा की शुद्धि।

वैदिक शिक्षा-प्रणाली में अनुशासन पर स्वाध्याय से अधिक ध्यान दिया जाता था। सरल और तपस्वी जीवन पर आग्रह था। वैयक्तिक और सामूहिक आचार, स्वास्थ्य-संबंधी तथा सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन तत्परता से होता था।

प्राचीन-काल में सार्वजनिक-शिक्षा अधिकांश में मौखिक रूप में हुआ करती थी, आजकल की तरह पुस्तकों द्वारा नहीं। धार्मिक शिक्षण द्वारा उस सार्वजनिक शिक्षा को आध्यात्मिक रंग दिया गया और धर्म और कला में सामंजस्य स्थापित करके संस्कृति का निर्माण हुआ। ईसा की सातवीं शताब्दी में जब विद्यापीठों, मठों और मन्दिरों द्वारा इस सार्वजनिक शिक्षा का प्रसार हुआ तो उस संस्कृति का विस्तार हुआ। ग्रामों में भी शिक्षा का खूब प्रचार हुआ। ग्राम-पाठशालाएं स्थापित की गयीं। हरिकीर्तन और नाटकों द्वारा धर्म और संस्कृति का प्रसार हुआ।

स्त्रियों की शिक्षा

वैदिक काल में और उसके बाद के युग में स्त्रियों को भी पुरुषों के बराबर ही शिक्षा प्राप्त करने का समान अधिकार था।

वैदिक-युग में गुरुकुलों में धार्मिक शिक्षा पर सबसे अधिक ध्यान दिया जाता था; परन्तु अन्य उपयोगी विद्याओं की उपेक्षा नहीं की जाती थी। विज्ञान, मनोविज्ञान (योग), गणित, ज्योतिप, भौतिकशास्त्र, रसायन, चिकित्सा-शास्त्र, नृत्य, कला, संगीत आदि सभी विषयों को गुरुकुलों के पाठ्यक्रम में स्थान प्राप्त था।

बौद्ध-काल में तक्षशिला और नालन्दा के विश्वविद्यालय आर्य-संस्कृति के केन्द्र थे। भारत से ही नहीं विदेशों से लोग गणित, ज्योतिष, दर्शन और चिकित्सा-शास्त्र की शिक्षा प्राप्त करने आते थे। इन विश्वविद्यालयों के पाठ्य-क्रम में निम्नलिखित विषय सम्मिलित थे—

धर्म (वेद और जातक), दर्शन (अध्यात्मशास्त्र और तर्कशास्त्र), विज्ञान (चिकित्सा तथा तन्त्र विद्या), व्याकरण, कला, धनुर्विद्या, मृगया। राजपुरुषों और लोकनेताओं के लिए अर्थशास्त्र और राजनीति-शास्त्र की शिक्षा दी जाती थी। धर्म, विज्ञान, दर्शन की शिक्षा का भी समुचित प्रबन्ध था।

गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली की नीचे लिखी विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—

(१) कुटुम्ब की भावना (ब्रह्मचारी को 'कुल' का सदस्य माना गया है, और आचार्य का कर्त्तव्य उसके शारीरिक मानसिक और आत्मिक विकास के लिए पूरी व्यवस्था करना है।)

(२) समाज के प्रत्येक बालक-बालिका के लिए निःशुल्क शिक्षा, निःशुल्क भोजन, वस्त्रादि की व्यवस्था।

(३) सब ब्रह्मचारियों के साथ समान व्यवहार और इस प्रकार उनमें सच्चे बन्धुत्व का विकास।

(४) ब्रह्मचर्य का अनिवार्यतः पालन; शरीर को कष्ट-सहन का अभ्यस्त बनाना तथा तपस्या का जीवन।

(५) चरित्र-निर्माण।

'आचार्य' शब्द का अर्थ होता है आचार का आदर्श स्थापित करनेवाला शिक्षक।[1]

१. प्रा० सत्यव्रत : 'गुरुकुल शिक्षापद्धति।

आज जबकि भारत में शिक्षा के पुनर्संगठन पर विचार हो रहा है वर्तमान शिक्षा के दोषों के परिहार के लिए विचार करने के साथ-साथ उसमें अपने गुणों के समावेश करने का प्रयत्न करें जो हमारी वैदिक संस्कृति की रक्षा के लिए आवश्यक हैं तथा जिससे राष्ट्र का भी हित हो सकता है।

वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली

आज भारत में जो शिक्षा-प्रणाली प्रचलित है उसकी सभी शिक्षा-विज्ञों और लोकनेताओं ने घोर निंदा की है। इस प्रणाली में कई बड़े दोष हैं:—पहला यह है कि वह न तो शिक्षा और जीवन म कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करती है और न जीवन की आवश्यकताओं पर ही ध्यान देती है।

यद्यपि वर्त्तमान शिक्षा-पद्धति के दोषों को सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं, तथापि इससे कोई इन्कार नहीं करता कि इसने देश की बड़ी सेवा की है। इस प्रणाली ने भारत में ब्रिटिश शासन को शिक्षित शासक ही प्रदान नहीं किये हैं प्रत्युत भारत में राष्ट्रीय और राजनीतिक नवचेतना और जागरण में भी विशेष योग दिया है। नवीन-शिक्षा ने भारत में विद्वान्, वैज्ञानिक और महान् दार्शनिकों को पैदा किया है जिन्होंने न केवल भारत का ही मस्तक ऊंचा किया है प्रत्युत अन्तर्राष्ट्रीय-जगत में भी अपना विशेष स्थान प्राप्त किया है। परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि भारत में जो विद्वान्, वैज्ञानिक और महापुरुष हुए हैं और जो इस समय मौजूद हैं, उनके निर्माण में केवल पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली को ही श्रेय है। उनकी महानता में उनके विशिष्ट व्यक्तित्व, उच्च संस्कार और अपूर्व प्रतिभा ने भी पर्याप्त योग दिया है। फिर भी आज हम यह अनुभव करते हैं कि वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली में परिवर्त्तन की जरूरत है।

दूसरा यह कि इसका लक्ष्य राष्ट्रीयता से दूर है। वास्तव में इसका विकास भारत में अंग्रेजी शासकों की सुविधा और शासन-संचालन के

उद्देश्य से किया गया था और इस उद्देश्य की पूर्ति में इसने बहुत हदतक सफलता प्राप्त की है।

तीसरा यह है कि शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी बनाकर भारतीय भाषाओं के विकास और उन्नति पर ध्यान नहीं दिया गया। मातृभाषा में शिक्षा न होने से भी विद्यार्थियों का बहुमूल्य समय अंग्रेजी भाषा को सीखने में व्यतीत होता है।

चौथा यह कि यह शिक्षा सैद्धान्तिक ही है, व्यावहारिक नहीं। इसलिए जब विद्यार्थी स्कूल या कॉलेज को छोड़कर संसार में प्रवेश करते हैं, तो उन्हें व्यावहारिक जीवन में बड़ी असफलता का सामना करना पडता है।

पाँचवाँ और सबसे बड़ा दोष यह है कि पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली आर्यसंस्कृति के विरुद्ध है। वह चरित्र-निर्माण और सदाचार की सर्वथा उपेक्षा करती है। ज्ञान-वृद्धि के लिए वह पर्याप्त सुयोग प्रदान करती है; परन्तु छात्रों की मानसिक, शारीरिक एवं आत्मिक शक्तियों का सामंजस्यपूर्ण विकास नहीं करती। वह राष्ट्रीयता एवं एकता की भावना के प्रादुर्भाव के लिए भी कोई ध्यान नहीं देती और न छात्रों में नागरिकता की भावना का प्रादुर्भाव ही करती है।

भारत में विश्व-विद्यालय

भारत में सबसे पहले सन् १८५७ में कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में तीन विश्व-विद्यालय स्थापित किये गये थे। विश्व-विद्यालय दो प्रकार के हैं। एक प्रकार के वे हैं जो अपने अन्तर्गत कालेजों की परीक्षा का प्रबन्ध करते हैं। उनकी ओर से कॉलेजों में शिक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं होता। प्रत्येक कालेज जो ऐसे विश्व-विद्यालय से सम्बन्धित होता है, उसके द्वारा निर्धारित पाठ्य-क्रम के अनुसार शिक्षा का प्रबन्ध करने में स्वतन्त्र है। दूसरे प्रकार के विश्व-विद्यालय वे हैं जिनके अन्तर्गत कालेजों का प्रबन्ध स्वयं विश्वविद्यालय की कार्य-कारिणी कौंसिल और सीनेट के अधीन होता है। पहले प्रकार के विश्व-विद्यालयों में आगरा, बम्बई,

कलकत्ता आदि विश्वविद्यालय हैं। दूसरे प्रकार के विश्वविद्यालयों में वनारस हिन्दू विश्वविद्यालय और इलाहावाद विश्वविद्यालय हैं। भारतवर्ष के विश्वविद्यालय कव-कव स्थापित हुए यह नीचे लिखी सारिणी से स्पष्ट हो जायेगा।

विश्वविद्यालय		सन्	विश्वविद्यालय		सन्
१. कलकत्ता	वि०वि०	१८५७	१०. अलीगढ़	मुसलिम	१९२०
२. मद्रास	,,	१८५७	११. रंगून	,,	१९२०
३. वम्वई	,,	१८५७	१२. लखनऊ	,,	१९२०
४. पंजाव	,,	१८८२	१३. अनमलाई	,,	१९२०
५. इलाहावाद	,,	१८८७	१४. ढाका	,,	१९२१
६. वनारस, हिंदू	,,	१९१६	१५. दिल्ली	,,	१९२२
७. पटना	,,	१९१७	१६. नागपुर	,,	१९२३
८. मैसूर	,,	१९१६	१७. आन्ध्र	,,	१९२६
९. हैदरावादउसमानिया		१९१८	१८. आगरा	,,	१९२७

इन विश्वविद्यालयों में भाषा-साहित्य, इतिहास, राजनीति, दर्शन, मनोविज्ञान, ज्योतिष, रसायन, भूगर्भ, भौतिक-विज्ञान, व्यापार-वाणिज्य, अर्थ-शास्त्र, जीव-शास्त्र, वनस्पति-विज्ञान, चिकित्सा, इंजिनियरी, कृषि, कानून आदि की उच्चशिक्षा का प्रवन्ध है।

अन्य शिक्षा-संस्थाएँ

सन् १९३५ की भारत सरकार की शिक्षा-विभाग की रिपोर्ट के अनुसार समस्त भारत में २ लाख ५६ हजार २६३ स्कूल तथा कालेज हैं। इनमें कुल १ करोड़ ३५ लाख ६ हजार ८६५ छात्र शिक्षा पा रहे हैं। कुल जनसंख्या का ५% भाग शिक्षा पा रहा है। १९३५, के अंक ये हैं—

संस्थाएं	छात्र-संख्या	छात्रा-संख्या
कालेज	१,०९,३१५	२,४९३
हाई स्कूल	९,४४,९२२	९८,९७५
मिडिल स्कूल	११,७२,०६५	१,४६,०४२

प्राइमरी स्कूल	८६,३९,४०५	१४,५०,२६७
स्पेशल स्कूल	२,३९,१८१	१८,०९५

विविध शिक्षा-संस्थाओं पर सरकारी व्यय का अनुपात निम्न प्रकार है—

विश्वविद्यालय और कॉलेज	१४.७%
हाई स्कूल और मिडिल स्कूल	२४.१%
प्राइमरी स्कूल	३४.३%
कन्या-शिक्षा	१३.९%
प्रबन्ध और निरीक्षण	८.८%

दलित जातियों में शिक्षा

दलित जातियों में शिक्षा का अत्यन्त अभाव है। सन् १९३२ के पूना-पैक्ट के अनुसार अब प्रत्येक प्रान्त के सरकारी बजट में इनकी शिक्षा के लिए पृथक् रूप से रक़म निश्चित कर दी जाती है और वह केवल उन्हीं के स्कूलों, शिक्षा, छात्र-वृत्तियों, पुस्तकों तथा निरीक्षण आदि पर व्यय की जाती है। ब्रिटिश भारत में सन् १९३४–३५ में दलित वर्ग के छात्रों की कुल संख्या १२ लाख ६ हज़ार १९३ थी। इनमें छात्राओं की संख्या भी शामिल है। शिक्षा में मद्रास प्रान्त सबसे आगे है और संयुक्त-प्रान्त सबसे पिछड़ा हुआ।

जो स्कूल विशेष रूप से इन जातियों के लिए स्थापित हैं, वे सन् १९३५ में ९,३९३ थे।

वर्धा-शिक्षा-पद्धति

जब सात प्रान्तों में कांग्रेस का शासन स्थापित हुआ तो महात्मा गांधी ने 'हरिजन' द्वारा राष्ट्र के सर्वतोमुख सुधार के लिए ग्रामोद्योगों में उन्नति खादी-प्रचार, मादक-द्रव्य-निषेध आदि के सम्बन्ध में अपनी योजनाएँ प्रस्तुत कीं जिनपर कांग्रेसी सरकारों ने अमल किया। साथ ही उन्होंने शिक्षा में सुधार करने के सम्बन्ध में अगस्त, १९३७ में 'हरिजन' में कई विचारोत्तेजक लेख लिखे, जिनसे जनता और नेताओं का ध्यान शिक्षा के पुनःसंगठन की ओर आकर्षित हुआ। फलतः वर्धा में २२–२३ अक्तूबर

१९३७ को राष्ट्रीय-शिक्षा-विशारदों का एक सम्मेलन आमन्त्रित किया गया। इस सम्मेलन में महात्मा गांधी नें अपने उपर्युक्त लेखों के आधार पर भाषण दिया और शिक्षा के सुधार पर विस्तारपूर्वक अपनें विचार व्यक्त किये। इनपर विचार-विनिमय के बाद निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकार किया गया—

(१) राष्ट्रव्यापी निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा ७ वर्ष तक हो ऐसी व्यवस्था की जाये; शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो; इस अवधि में महात्मा गांधी के मन्तव्यानुसार शिक्षा रचनात्मक उद्योग द्वारा दी जाये। सम्मेलन को यह आशा है कि इस शिक्षा-पद्धति द्वारा धीरे-धीरे अध्यापकों का वेतन भी प्राप्त किया जा सकेगा।

इस शिक्षा-सम्मेलन ने जामिया मिलिया, दिल्ली के प्रिंसिपल डा० ज़ाकिरहुसैन की अध्यक्षता में वर्धा-शिक्षा-कमेटी की नियुक्ति भी की जिसे प्राथमिक शिक्षा के लिए उपर्युक्त प्रस्ताव के अनुसार ७ वर्षों के लिए पाठ्य-क्रम तैयार करने का कार्य सौंपा गया।

बुनियादी तालीम

उक्त कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में सात साल के लिए बुनियादी तालीम (Basic Education) की व्यवस्था की है।

बुनियादी तालीम की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) स्कूल में प्रत्येक बालक को अपनी रुचि के अनुसार एक आधारभूत उद्योग चुनना चाहिए जिसकी व्यवस्था स्कूल के द्वारा की गयी हो। इस उद्योग के आधार पर बालक को शिक्षा दी जाये। इसके साथ ही साथ उसे दो सहायक उद्योगों का भी चुनाव करना चाहिए, जैसे कताई और बाग़बानी। १२ वर्ष की अवस्था तक इन उद्योगों की शिक्षा केवल शिक्षा के मूल्य की दृष्टि से दी जाये, औद्योगिक दृष्टि से नहीं। जो बालक भविष्य में उद्योग में निपुणता प्राप्त करना चाहें उन्हें अन्तिम दो सालों में औद्योगिक ढंग पर शिक्षा देने की व्यवस्था की जायेगी। लड़कियों को घरेलू धंधों की शिक्षा दी जायेगी और अन्तिम दो वर्षों में बच्चों के पालन तथा देख-रेख की शिक्षा दी जा सकती है।

(२) 'समाज-सेवा' (ग्राम-स्वास्थ्य, प्रचार, दुष्काल में सेवा, रोग तथा बाढ़ से पीड़ितों की सेवा, स्थानीय मेलों की व्यवस्था, सम्मेलनों में स्वयं-सेवक का कार्य, किन्डरगार्टन दर्जों की व्यवस्था में सहयोग, स्त्री-समाज-संघ तथा सेवासंघ;) प्रकृति-निरीक्षण, भ्रमण, खेल, व्यायाम आदि।

(३) शिक्षा में कार्यशीलता के सिद्धान्त की स्वीकृति; इसका अर्थ यह है कि बालकों की स्वाभाविक तथा रचनात्मक प्रवृत्ति को प्रोत्साहन और बालकों की बौद्धिक, सामाजिक तथा शारीरिक शक्तियों के विकास के लिए पूर्ण सुयोग दिया जाये।

(४) राज्य को प्रत्येक बालक के लिए ७ वर्ष की आयु से १४ वर्ष की आयु तक निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए।

(५) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होगी तथा 'हिन्दुस्तानी' का सामान्य ज्ञान अनिवार्य होगा। पिछले दो वर्षों में अंग्रेजी केवल उनको पढ़ायी जायेगी जो आगे हाई स्कूल या कॉलेज की शिक्षा प्राप्त करना चाहते हों।

(६) पाठ्य-क्रम में आधुनिक शिक्षा-सम्बन्धी आदर्शों के प्रकाश में परिवर्तन किया जाये।

(७) नागरिकता की तैयारी के उद्देश्य से पाठ्य-क्रम बनाया जाये; केवल इस लिहाज से नहीं कि प्राथमिक शिक्षा उच्च शिक्षा का आधार है।

(८) पाठ्यक्रम में सामान्य नागरिक-शास्त्र और सामान्य विज्ञान को स्थान दिया जाये।

(९) भारतीय इतिहास को भारतीय दृष्टिकोण से पढ़ाया जाये, राष्ट्रीय आन्दोलन तथा सामयिक घटनाओं का भी ज्ञान आवश्यक है।

(१०) चरित्र-निर्माण को शिक्षा का आवश्यक अंग माना जाये। सदाचार की शिक्षा सामाजिक एवं मनोविज्ञान की दृष्टि से दी जाये, विशुद्ध धार्मिक दृष्टि से नहीं।

(११) मनोवैज्ञानिक प्रणाली द्वारा स्कूल के वातावरण को शुद्ध तथा

अनुकूल बनाया जाये। अध्यापक और छात्रों में सहकारिता का भाव हो।

(१२) वार्षिक परीक्षाएँ उठा दी जायें और स्कूलों में रिकार्ड द्वारा ही श्रेणी चढ़ायी जाये।

(१३) बारह वर्ष की आयु में छात्र की मनोवैज्ञानिक परीक्षा की जाये और उसकी रुचि तथा प्रवृत्ति की जाँच की जाये तथा उसके संरक्षक को सूचनाएँ दी जायें।

(१४) स्कूल के वातावरण, कार्य-प्रणाली तथा शिक्षा में राष्ट्रीय तथा अहिंसात्मक दृष्टिकोण सामने होना चाहिए।

इसमें सन्देह नहीं कि यह शिक्षा की एक क्रान्तिकारी योजना है। इससे राष्ट्र का हित होगा, क्योंकि यह राष्ट्र-हित की दृष्टि से ही तैयार की गयी है। महात्माजी शिक्षा को स्वाश्रयी (Self supporting) बनाना चाहते हैं। उनका यह संकल्प प्रारम्भिक दशा में पूरा होगा अथवा नहीं, यह अभी से निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। जब इस योजना के अनुसार समस्त भारत में प्राथमिक शिक्षा का प्रबन्ध हो जायेगा, तब इसमें जो दोष परीक्षण-काल में मालूम होंगे, उनके निवारण के लिए भविष्य में प्रयत्न किया जा सकेगा। परन्तु इसमें तनिक भी शक नहीं कि वर्धा-शिक्षा-योजना ही एक ऐसी योजना है, जो आज १५० वर्षों के ब्रिटिश शासन में सबसे पहली बार राष्ट्रीय हित की दृष्टि से रखी गयी है और जिसपर संयुक्तप्रांत, मध्यप्रांत, बम्बई आदि कई प्रांतों में अमल भी होने लगा है।

भाषा और लिपि

हिन्दी-राष्ट्रभाषा

भारत की सबसे प्राचीन भाषा संस्कृत है परन्तु आज वह किसी भी प्रान्त की बोल-चाल की भाषा नहीं है। हाँ, यह निर्विवाद है कि भारत की अधिकांश प्रान्तिक भाषाएँ हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती उर्दू, सिन्धी, पंजाबी, राजस्थानी और उड़िया संस्कृत से उत्पन्न और विकसित हुई हैं और शेष द्राविड़ों—तामिल, तेलगू, मलयालम, कन्नड़ पर भी संस्कृत का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। और इन सब प्रान्तीय

भाषाओं में हिन्दी ही सबसे अधिक बोली और पढ़ी-लिखी जाती है।

सन् १९३१ में भारत की जनसंख्या ३५,२९,८६,८७६ थी। इनमें देशी रियासतों की संख्या भी शामिल है जो ८ करोड़ से ऊपर है।

हिन्दीभाषी प्रान्त

भारत के संयुक्तप्रान्त, बिहार-उड़ीसा, पंजाब, मध्यप्रान्त-बरार, दिल्ली, अजमेर-मेरवाड़ा, और कुछ हिन्दीभाषी रियासतें हैं, जिनकी कुल जनसंख्या सन् १९३१ ई० के अनुसार १७ करोड़ ६३ लाख ७० हज़ार, ४५२ है।

अहिन्दी-भाषी प्रान्त

बंगाल, मद्रास, बम्बई-सिन्ध, कुर्ग, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, बलूचिस्तान, आसाम, ब्रह्मा तथा कुछ अहिन्दीभाषी रियासतें हैं जिनकी जनसंख्या १७ करोड़ ४८ लाख ७२ हज़ार ९९२ है।

इस प्रकार हिन्दी-भाषाभाषियों और इतर भाषा-भाषियों की जनसंख्या प्रायः बराबर है। इसलिए हिन्दी भाषा ही राष्ट्र की भाषा कहलानेयोग्य है। परन्तु, मुसलमानों की ओर से यह दावा पेश किया जा रहा है कि उर्दू ही राष्ट्र-भाषा हो सकती है। इस प्रकार भाषा के इस राष्ट्रीय प्रश्न पर साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से विचार करने की पद्धति शुरू हो गयी है। आजकल सामान्यभाषा और राष्ट्र-भाषा—इन दोनों शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में किया जाने लगा है। इस प्रकार इससे भ्रान्तिपूर्ण विचारों का प्रचार होने लगा है। सामान्य-भाषा क्या है? यह वह भाषा है जो प्रत्येक प्रान्त में बोल-चाल में काम आती है और जिसे थोड़ा बहुत सभी समझ सकते हैं और बोल सकते हैं। सामान्य भाषा पर स्थानीय भाषा का भी प्रभाव पड़ता है। जैसे, कलकत्ता के बाज़ारों में बोली जानेवाली भाषा, उस भाषा से मिलती है जो बम्बई के बाजारों में बोली जाती है। कलकत्ता की बोल-चाल की भाषा में बंगला के अधिक शब्द होते हैं। इसी प्रकार बम्बई की बोलचाल की भाषा में गुजराती के शब्द अधिक होते हैं। इस संबंध

में श्री रामनाथ 'सुमन' ने लिखा है—

"यह भाषा अन्तर्प्रांतीय यातायात, रेल, व्यापार और बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों के खड़े हो जाने से बनी है। इसे किसी संस्था ने नहीं बनाया, न इसके बनाने में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, हिन्दी-प्रचार-सभा या कांग्रेस का हाथ है। यह भाषा उत्तर भारत (मुख्यतः संयुक्तप्रान्त, मध्यभारत तथा बिहार) के उन गरीब प्रवासियों की राष्ट्र को देन है, जो गरीबी के कारण अपना घरबार छोड़कर नौकरी की तलाश में दूर-दूर के सूबों में गये और वहाँ मेहनत-मजदूरी करके पेट पालने लगे। इनमें से किसी ने बोझा ढोने का काम किया, कुछ स्टेशनों पर कुली बने, कुछ आफिसों में चपरासी बने, कुछ को मिलों, रेलों के कारखानों और दुकानों में काम मिला। कुछ ने दरबानी की, कुछ पुलिस और ट्राम की नौकरी में भरती हुए, कुछ इक्का-ताँगा हाँकने लगे। बहुतों ने ग्वाले, नाई, रसोई का काम सँभाला, और बहुतों ने छोटे-छोटे धन्धे अपनाये। ये शिक्षित न थे और जहाँ गये वहाँ अपनी बोली और रीति-रिवाज साथ ले गये। जिस हिन्दी के बारे में यह कहा जाता है कि वह अधिकांश भारतीयों द्वारा समझी जाती है, वह यही सामान्य बोली है। इसका न कोई निश्चित व्याकरण है और न आजतक कोई पुस्तक इस भाषा में लिखी गयी।"

अतः यह स्पष्ट है कि भारत में प्रचलित 'सामान्य भाषा' राष्ट्रभाषा नहीं है। जो ऐसा मानते हैं, वे भारी भ्रम में हैं।

देश में राष्ट्रीय जागृति के साथ-साथ राष्ट्रीय नेताओं ने राष्ट्रभाषा-निर्माण के प्रश्न को प्रस्तुत किया। उन्होंने यह अनुभव किया कि भारत में राष्ट्रीय नवचेतना और राष्ट्रीयता की भावना पैदा करने के लिए यह जरूरी है कि भारत के सभी प्रान्तों में एकता स्थापित की जाये। एकता उसी समय स्थापित हो सकती है जब कि विचार-विनिमय के लिए एक अन्तर्प्रान्तीय भाषा हो। अंग्रेजी भाषा ऐसी भाषा है जिसे सभी प्रांतों में पढ़ा और बोला जाता है, पर वह स्कूलों और कालिजों के विद्यार्थियों तथा अंग्रेजी पढ़े समुदायों तक ही सीमित है—जनता की भाषा नहीं

है। इसलिए राष्ट्र का सन्देश जनता तक पहुँचाने के लिए ऐसी भाषा की जरूरत है जिसे सभी प्रान्त के लोग समझ सकें।

आज से २० वर्ष पहले महात्मा गांधी ने यह विचार प्रकट किया कि हिन्दी ही राष्ट्रभाषा हो सकती है। उन्होंने कहा है—

"मैं उस भाषा को हिन्दी कहता हूँ जिसे उत्तर के हिन्दू-मुसलमान लिखते-पढ़ते हैं—चाहे उसे देवनागरी में लिखें या उर्दू लिपि में। इस परिभाषा पर कुछ आपत्ति भी की जा सकती है। यह कहा जा सकता है कि हिन्दी और उर्दू दो भिन्न-भिन्न भाषाएँ हैं। यह युक्ति-संगत तर्क नहीं है। भारत के उत्तरी भाग में हिन्दू-मुसलमान एक ही भाषा बोलते हैं। साक्षर वर्गों नें भेदभाव पैदा कर दिया है। विद्वान् हिन्दुओं ने हिन्दी को संस्कृतमयी बना दिया है। इसलिए मुसलमान उसे समझ नहीं सकते। लखनऊ के मुसलमानों ने उसमें फ़ारसी का अधिक समावेश करके उसे हिन्दुओं के लिए कठिन बना दिया है। ये एक ही भाषा की दो आवश्यकताएँ हैं। जनता की बोली में इनका कोई स्थान नहीं है। उत्तर की भाषा को चाहे आप हिन्दी कहें या उर्दू, एक ही बात है। उर्दू लिपि में लिखने से वह उर्दू है और नागरीलिपि में लिखनें से वह हिन्दी है।"[१]

महात्मा गांधी आजतक इसी विचार के पोषक रहे हैं और वह इस भाषाको राष्ट्रभाषा बनाने के लिए प्रयत्नशील रहे हैं। अहिन्दीभाषी प्रान्तों में महात्मा गांधी की प्रेरणा से ही हिन्दी-भाषा का प्रचार शुरू हुआ। आज से १० वर्ष पूर्व दक्षिणभारत में हिन्दी-प्रचार-सभा की स्थापना की गयी, जो तबसे अबतक हिन्दी-प्रचार का कार्य बड़े अच्छे ढंग से कर रही है। जब महात्मा गांधी और उनके सहयोगी राष्ट्रीय नेताओं ने हिन्दी प्रचार में योग देना आरम्भ कर दिया और यह नियम भी बना दिया कि कांग्रेस में जो भाषण दिये जायें वे हिन्दी भाषा में हों, तो मुस्लिम नेताओं की ओर से आक्षेप होने लगे। मुसलमानों ने यह

---

१ भडोंच में गुजरात-शिक्षा-परिषद् में ता० २० अक्तूबर सन् १९१७ को अध्यक्ष पद से दिये गये अभिभाषण से

कहना शुरू कर दिया कि अब गांधीजी हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाकर उर्दू और मुसलिम संस्कृति का नाश कर देंगे। अतः गांधीजी ने इस नाम में परिवर्तन करके इसे 'हिन्दुस्तानी' का नाम दिया। शायद ऐसा सोचा गया कि इस नाम से मुसलमानों को कोई आपत्ति न होगी। राष्ट्रीय मुसलमानों ने इस नाम को पसंद किया और इसकी आड़ में उन्हें उर्दू के प्रचार के लिए काफी गुंजाइश मिल गयी। परन्तु मुस्लिम-लीग के कर्ता-धर्ता श्री मुहम्मदअली जिन्ना का विरोध और भी तीव्र होता गया।

जब भारत के ८ प्रान्तों में कांग्रेस की सरकारें बनीं तब इन सरकारों द्वारा 'हिन्दुस्तानी' भाषा के प्रसार के लिए प्रयत्न किया गया। मद्रास, बम्बई और बिहार में 'हिन्दुस्तानी' के प्रचार तथा प्रसार के लिए सरकारों की ओर से प्राथमिक कक्षाओं में हिन्दुस्तानी भाषा का ज्ञान अनिवार्य कर दिया गया। मुस्लिम-लीग की ओर से इसका घोर विरोध किया गया।

हिन्दुस्तानी

'हिन्दुस्तानी' भाषा से अभिप्राय उस भाषा से है जिसे महात्मा गांधी उत्तरी भारत के हिन्दू और मुसलमानों की भाषा मानते हैं। तब केवल हिन्दी ही क्यों न कहा जाये जैसा कि आज से २३ वर्ष पहले गांधीजी ने कहा था।

उन्होंने यह अनुभव किया है कि 'हिन्दुस्तानी' नाम से हिन्दी-उर्दू का झगड़ा शान्त हो जायेगा। वह यह चाहते हैं कि हिन्दुस्तानी भाषा में संस्कृत, अरबी या फारसी के अधिक शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाये। उसमें हिन्दी और उर्दू के शब्दों को स्थान मिले तथा अन्य भाषाओं के चलते शब्दों का भी प्रयोग किया जाये। भाषा अत्यन्त सरल और बोलचाल की हो जिसे मामूली लोग भी समझ सकें। 'हिन्दुस्तानी' भाषा नागरी और फारसी को दोनों लिपियों में लिखा जा सकता है।

कांग्रेसी शासन-काल में बिहार, मद्रास, बम्बई में हिन्दुस्तानी भाषा में सरकार की ओर से प्राथमिक पाठशालाओं तथा प्रौढ़-पाठशालाओं में

965

छात्रों व प्रौढ़ों के लिए हिन्दुस्तानी भाषा की शिक्षा अनिवार्य कर दी गयी। हिन्दुस्तानी भाषा में बिहार में सरकार के कांग्रेसी मंत्री डा० सैयद महमूद ने प्रौढ़-शिक्षा के लिए हिन्दी-उर्दू में हिन्दुस्तानी भाषा की पुस्तकें तैयार करायीं। मद्रास में श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य ने हिन्दुस्तानी भाषा को अनिवार्य कर दिया। इसी प्रकार बम्बई में भी श्री बाल गंगाधर खेर ने हिन्दुस्तानी भाषा को समस्त स्कूलों में अनिवार्य कर दिया। कहीं-कहीं हिंदुस्तानी के नाम पर हिन्दी में संस्कृत भाषा के प्रचलित शब्दों को न अपनाकर उनकी जगह उर्दू-फारसी के बे-मौजूं शब्द जबर्दस्ती रखे गये, जिससे हिन्दीभाषी जनता में, खास तौर से बिहार और संयुक्तप्रान्त में, घोर असन्तोष उठ खड़ा हो गया।

यहाँ यह स्पष्ट रूप से समझ लेना उचित है कि प्रत्येक भाषा का उसके बोलनेवालों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यही नहीं, वह एक प्रकार से उनकी संस्कृति की निर्देशिका भी है। भाषा विचारों को व्यक्त करने का माध्यम है और विचारों का मूलाधार भी है। हम जिस भाषा का प्रयोग करते हैं, उसी भाषा में विचार भी करते हैं। इसलिए भाषा और विचारों का अटूट सम्बन्ध है। हिन्दी भाषा की जननी संस्कृत है और दूसरी कई प्रांतीय भाषाओं की जननी भी संस्कृत ही है। संस्कृत भाषा में हिन्दूधर्म और संस्कृति सुरक्षित है, क्योंकि वेद, उपनिषद्, धर्म-शास्त्र, गीता, महाभारत, रामचरितमानस तथा प्राचीन साहित्य, नाटक और कथानक आदि सब संस्कृत में ही उपलब्ध हैं। इन्हीं ग्रंथों में आर्य-संस्कृति निहित है। इसलिए जो समाज जिस भाषा द्वारा इन ग्रन्थों का अवलोकन करेगा, उसपर आर्य-संस्कृति का प्रभाव पड़ना जरूरी है।

सांस्कृतिक दृष्टि से हिन्दी और उर्दू भाषाओं में मौलिक और महत्त्वपूर्ण अन्तर है। उर्दू अरबी संस्कृति को व्यक्त करती है और हिन्दी आर्य संस्कृति को। ये वास्तव में दो भाषाएँ हैं। इन दोनों को मिला-कर एक 'हिन्दुस्तानी' भाषा पैदा करने का प्रयत्न इन दोनों भाषाओं के के लिए हानिप्रद है।

यहाँ एक बात और स्पष्ट कर देना उचित होगा। वह यह कि राष्ट्र-

भाषा केवल इस प्रकार कृत्रिम रूप से बनायी हुई सरल और बोल-चाल की भाषा नहीं हो सकती। राष्ट्रभाषा वही हो सकती है जिसमें राष्ट्र के धार्मिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन की भूख को तृप्त करनेवाली सुरुचिपूर्ण सामग्री प्रदान करने की क्षमता हो।

सुप्रसिद्ध बौद्ध लेखक श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन का यह मत सर्वथा ग्राह्य और उपयुक्त है कि—

"अब हिन्दी कुछ वर्षों पहले की 'भाखा' नहीं रह गयी है। हम उसे अपनी ऊँची से ऊँची शिक्षा का माध्यम बनाने चले हैं। हम जहाँ यह चाहते हैं कि वह काश्मीर से कन्याकुमारी तक समझी जाये, वहाँ यह भी चाहते हैं कि उसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म, जटिल से जटिल, अर्वाचीन से अर्वाचीन भावों को प्रकट करने का सामर्थ्य आ जाये। हम चाहते हैं कि उसमें न केवल समुद्र-सा फैलाव हो, बल्कि उसकी गहराई भी हो। अब प्रश्न यह है कि आज के संसार में जितने और जैसे गंभीर विषयों का अध्ययन हो रहा है, जब हमें हिन्दी में उन सभी विषयों पर ग्रंथ देखने की लालसा है, तो क्या वे ग्रन्थ उसी भाषा में लिखे जा सकते हैं जिसे, गुस्ताखी माफ़ हो तो, हम बाजारू भाषा कहें, तो कोई हर्ज नहीं! हिन्दुस्तान में एक राष्ट्रभाषा है जिसे पेशावर से लेकर मद्रास तक रेलवे स्टेशनों पर हम उस समय बोलते हैं जब हमें कुलियों से निबटना होता है। अब क्या उस तरह की भाषा में किसी शास्त्रीय विषय की चर्चा की जा सकती है? आपसे यदि कोई कहे कि आप प्रसिद्ध गणितज्ञ आइन्स्टाइन के 'सापेक्ष-वाद' पर एक पुस्तक लिखें जिसमें न संस्कृत के शब्द हों और न अरबी फ़ारसी के, तो क्या आप लिख सकेंगे? आइन्स्टाइन के सापेक्षवाद को जाने दीजिए—कहते हैं उसे अध्यापन-संसार में केवल दो-तीन आदमियों ने ही ठीक तरह समझा है—अपने ही दर्शन-शास्त्र पर आप कुछ भी लिख सकते हैं? यदि नहीं, तो जब हमें अपने इतिहास की कुछ गहरी व्याख्या करनी होगी, जब हमें संसार के भौतिक भूवृत्त की कुछ बातें समझनी-समझानी होंगी, जब ऊँचे दर्जे के विद्यार्थियों के लिए शास्त्रीय ढंग की पुस्तकें लिखनी-लिखानी होंगी, तब किसी ऐसी राष्ट्रभाषा से, जिसमें न

संस्कृत के शब्द हों और न फ़ारसी के, हमारा काम नहीं चल सकता। हमें न केवल पारिभाषिक शब्दों के लिए, बल्कि ऐसे शब्दों के लिए भी जो हमारे गहरे चिंतन के यथार्थ प्रतिबिम्ब हो सकें, संस्कृत अथवा अरबी की शरण लेनी होगी।"

अखिल भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के शिमला-अधिवेशन में सभापति-पद से हिन्दी के विद्वान और अनुभवी पत्रकार श्री बाबूराव विष्णु पराडकर ने भी राष्ट्रीय भाषा के सम्बन्ध में अपने अभिभाषण में कहा था—

"मौलाना अबुल कलाम आज़ाद जिसे सर्वप्रान्तीय व राष्ट्रीय भाषा बनने की अधिकारिणी समझते हैं वही यदि यह 'हिन्दुस्तानी' है तो मैं निःसंदिग्ध चित्त से साहित्य-सम्मेलन को सलाह दूंगा कि वह निर्भीकता के साथ स्पष्ट शब्दों में इसका विरोध करे।...हिन्दुस्तानी के नाम पर यह जो अनर्थ हो रहा है, उससे केवल हिन्दी की ही नहीं बल्कि भारतीय संस्कृति की रक्षा करने के लिए मैं कहता हूं कि हमारी राष्ट्रभाषा का नाम हिन्दी होना चाहिए और उसकी प्रवृत्ति भी हिन्दी यानी हिन्द की होनी चाहिए।"

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और राष्ट्रभाषा

उपरोक्त विवाद पर निर्णयात्मक विवेचन करने के लिए इस झगड़े के मूल को देखना होगा। महात्मा गांधी के सभापतित्व में इंदौर में होनेवाले हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के चौबीसवें अधिवेशन में राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में यह निर्णय हुआ था—

"इस सम्मेलन को मालूम हुआ है कि राष्ट्रभाषा के स्वरूप के संबंध में हिन्दुस्तान के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में कुछ ग़लतफ़हमी फैली हुई है और लोग उसके लिए अलग-अलग राय रखते हैं। इसलिए यह सम्मेलन घोषित करता है कि राष्ट्रभाषा की दृष्टि से हिन्दी का वह स्वरूप मान्य समझा जाये जो हिन्दू-मुसलमान आदि सब धर्मों के ग्रामीण और नागरिक व्यवहार करते हैं, जिसमें रूढ़ सर्व-सुलभ अरबी, फारसी, अंग्रेजी या संस्कृत शब्दों या मुहाविरों का बहिष्कार न हो और जो नागरी या उर्दू

लिपि में लिखी जाती हो।'

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के शिमला-अधिवेशन में सम्मेलन की नियमावली में संशोधन किये गये और १९ सितम्बर सन् १९३८ को संशोधित नियमावली के अनुसार उद्देश्य धारा २ (क) और (ख) में इस प्रकार निर्धारित किया गया—

"(क) हिन्दी-साहित्य के सब अंगों की पुष्टि और उन्नति का प्रयत्न करना;

(ख) देशव्यापी व्यवहारों और कार्यों को सुलभ करने के लिए राष्ट्रलिपि देवनागरी और राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार बढ़ानेका प्रयत्न करना;

(ग) हिन्दी भाषा को अधिक सुगम, मनोरम, व्यापक और समृद्ध बनाने के लिए समय-समय पर उसके अभावों को पूरा करना और उसकी शैली और त्रुटियों के संशोधन का प्रयत्न करना।"

यद्यपि सम्मेलन के उद्देश्यों में 'हिन्दी राष्ट्रभाषा' का उल्लेख है—उसमें 'हिन्दुस्तानी' का उल्लेख नहीं है, तथापि इंदौर के उपर्युक्त निश्चय में 'हिन्दुस्तानी' शब्द न होते हुए भी 'हिन्दुस्तानी' का स्वरूप वही विद्यमान है जिसे आज महात्मा गांधी 'हिन्दुस्तानी' कहते हैं।

इन्दौर-सम्मेलन के बाद 'हिन्दुस्तानी' भाषा का प्रचार बढ़ता रहा। जुलाई सन् १९३७ में जब कांग्रेस मन्त्रि-मण्डलों ने शासन-भार सँभाला तब हिंदुस्तानी प्रान्तीय सरकारों द्वारा भी स्वीकार कर ली गयी। हिन्दी साहित्यिकों के सामने 'हिन्दुस्तानी' का व्यवहार्य स्वरूप 'रीडरों' में आया तो हिन्दी-साहित्य-सेवियों को उसे देखकर घोर निराशा हुई और उसका फल यह हुआ कि पत्र-पत्रिकाओं द्वारा उसका घोर विरोध किया जाने लगा। सितम्बर १९३८ के शिमला-अधिवेशन में 'आज' के यशस्वी विद्वान् संपादक तथा सम्मेलन के अध्यक्ष श्री बाबूराव विष्णु पराडकर ने अपने भाषण में विचारपूर्वक हिन्दुस्तानी भाषा की आलोचना की और उसका विरोध करने के लिए सम्मेलन को सलाह भी दी। सम्मेलन के इस अधिवेशन में हिन्दी भाषा को सुगम बनाने के सम्बन्ध में जो निश्चय किया गया वह इस प्रकार है—

"इस सम्मेलन के विचार में हिन्दी के आधुनिक साहित्य-निर्माण के

लिए ऐसी भाषा उपयुक्त है जिसका परम्परागत सम्बन्ध संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं से है जिसकी शक्ति कबीर, तुलसी, सूर मलिकमुहम्मद जायसी, रहीम, रसखान और हरिश्चन्द्र की कृतियों से आयी है, जिसका मूलाधार देशी और तद्भव शब्दों का भण्डार है, और जिसके पारिभाषिक शब्द प्राकृत अथवा संस्कृत के क्रम पर ढाले गये हैं किन्तु जिसमें रूढ़, सुलभ और प्रचलित विदेशी शब्दों का भी स्थान है।"

पहले दिये गये इन्दौर-सम्मेलन और शिमला-सम्मेलन के निश्चयों में मौलिक अन्तर है। इन्दौर के निश्चय के अनुसार 'हिन्दी का वह स्वरूप मान्य है जिसे हिन्दू-मुसलमान आदि सब धर्मों के ग्रामीण और नागरिक व्यवहार करते हैं।'

और शिमला के निश्चय के अनुसार 'हिन्दी के आधुनिक साहित्य-निर्माण के लिए ऐसी भाषा उपयुक्त है जिसका परम्परागत सम्बन्ध संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं से है, जिसकी शक्ति हिन्दी के प्राचीन कवियों तथा साहित्यकारों की रचनाओं से आयी है।

ये दोनों निश्चय परस्पर-विरोधी हैं। पर धीरे-धीरे सम्मेलन में हिन्दुस्तानी-विरोधी तत्त्व का बहुमत होता गया। अपने पिछले पूना-अधिवेशन में उसने इस बात को कुछ-कुछ स्पष्ट कर दिया है। पूना का प्रस्ताव यह है—

"सम्मेलन की नियमावली के नियम (ख) में आये हुए 'राष्ट्रभाषा' शब्द के स्पष्टीकरण के लिए सम्मेलन के इन्दौरवाले अधिवेशन का जो निश्चय दिया गया है, उसका निम्नलिखित रूप हो—

'इस सम्मेलन को मालूम हुआ है कि राष्ट्रभाषा के स्वरूप के सम्बन्ध में हिन्दुस्तान के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में कुछ गलतफ़हमी फैली हुई है और लोग उसके लिए अलग-अलग राय रखते हैं। इसलिए यह सम्मेलन घोषित करता है कि राष्ट्रभाषा की दृष्टि से हिन्दी का वह स्वरूप मान्य समझा जाये जो हिन्दू, मुसलमान आदि सब धर्मों के ग्रामीण और नागरिक व्यवहार करते हैं, जिसमें रूढ़, सर्वसुलभ अरबी, फारसी, अंग्रेजी या संस्कृत शब्दों या मुहाविरों का बहिष्कार नहीं होता और

जो साधारण रीति से राष्ट्रलिपि नागरी में तथा कहीं-कहीं फारसी लिपि में भी लिखा जाता है।'

राष्ट्रभाषा के नाम और स्वरूप का विवाद अंततः इतना तीव्र और स्पष्ट हो गया कि अबोहर सम्मेलन के सभापति का चुनाव ही इसी प्रश्न को लेकर हुआ और उसमें हिन्दुस्तानी पक्ष की हार हुई।

भारतीय साहित्य-परिषद् और 'हिन्दी हिन्दुस्तानी'

देश की सब भाषाओं के साहित्यिकों में विचार-विनिमय के सम्बन्ध में संगठन करने के विचार से सन् १९३५ में इन्दौर के अधिवेशन में निम्नलिखित मन्तव्य प्रकाशित हुआ—

"देश की प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यिकों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने तथा हिन्दी भाषा की वृद्धि में उनका सहयोग प्राप्त करने के अभिप्राय से यह सम्मेलन निम्नलिखित सज्जनों की एक समिति बनाता है और उसको अधिकार देता है कि वह अपने साथ अन्य सज्जनों को आवश्यकतानुसार सम्मिलित कर ले।"

इस निश्चय के अनुसार जो भारतीय साहित्य परिषद् बनी, उसके संयोजक सुप्रसिद्ध गुजराती साहित्यकार श्री कन्हैयालाल मुन्शी थे। नागपुर में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अधिवेशन के अवसर पर परिषद् का पहला अधिवेशन हुआ। भारतीय साहित्य-परिषद् के कार्य के लिए किस भाषा का प्रयोग किया जाये और उसका नाम क्या हो—यह प्रश्न उठा। इसनें ऐसी भाषा के लिए महात्मा गांधी की राय से 'हिन्दी हिन्दुस्तानी' नाम स्वीकृत किया। पर खेद है कि भारतीय साहित्य-परिषद् का काम अधिक दिनों नहीं चल सका।

राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति और हिन्दुस्तानी

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के नियम ३८ के अनुसार अहिन्दी-भाषी प्रान्तों में राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार के लिए २१ सदस्यों की एक प्रचार-समिति है जो राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति कहलाती है। इसका कार्य असम, बंगाल, उत्कल, सिन्ध, पश्चिमोत्तर-प्रदेश, गुजरात, बम्बई, महाराष्ट्र

प्रान्तों में तथा भारत के बाहर हिन्दी-प्रचार की व्यवस्था करना है। इसका केन्द्र वर्धा में है। इस समिति के मन्त्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल हैं और आचार्य काका कालेलकर उप-सभापति हैं। यह समिति महात्मा गांधी के आदेशानुसार कार्य करती है।

यद्यपि नियमावली में राष्ट्रभाषा का नाम 'हिन्दी' है तथापि राष्ट्र-भाषा-प्रचार-समिति की ओर से राष्ट्रभाषा का नाम हिन्दी की जगह हिन्दुस्तानी रखनें का प्रचार किया जा रहा है। इस समिति की ओर से 'सवकी वोली' नामक एक मासिक पत्रिका भी काका कालेलकर के सम्पादकत्व में २ वर्ष तक निकली। इसके द्वारा भी हिन्दुस्तानी नाम चलाने का प्रयत्न किया गया।

काका कालेलकर का मत है कि—

"जव राष्ट्रीय महासभा नें राष्ट्रभाषा को 'हिन्दुस्तानी' कह दिया, तव वही नाम लेकर और अपनी ही व्याख्या की राष्ट्रभाषा सम्मेलन चलावे तो उसमें क्या हर्ज है? जव हम कहते हैं कि उर्दू भी हिन्दी का एक रूप है, तव हिन्दी के उस रूप को, जो हिंदू-मुसलमानों में, शहरों व गाँवों में प्रचलित है, हिन्दुस्तानी कहने में क्या डर है? हिन्दुस्तानी न तो साहित्यिक हिन्दी है न उर्दू-ए-मुअल्ला हैं। जव हमने शिमला में साहित्यिक हिन्दी की अलग व्याख्या कर दी, तव हिन्दी के उस रूप को, जिसे राष्ट्रभाषा के तौर पर हमने इंदौर में तय किया और जिसे हम भारतभर में चलाना चाहते हैं, हिन्दुस्तानी कहने में क्या हर्ज है? कांग्रेस ने नाम रख दिया। उससे लाभ उठाकर उसी के झण्डे के नीचे हम आगे वढ़ें या नाम से घवड़ाकर हम राष्ट्रीय क्षेत्रों से ही अपने को वहिष्कृत करलें?"

काका कालेलकर की की यह नीति स्पष्टतः हिन्दी साहित्य सम्मेलन की नीति के विरुद्ध है।[1]

---

१ काका कालेलकर ने अक्टूबर १९४० में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति से मतभेद के कारण त्यागपत्र देदिया है और वाद में अभी ३ मास हुए 'सवकी वोली' का प्रकाशन भी वन्द कर दिया है।

जैसा कि लिखा जा चुका है दोनों दलों का झगड़ा मूल में राष्ट्र-भाषा के नाम और स्वरूप पर है। काका कालेलकर तथा उनके समर्थकों का जोर राष्ट्रभाषा को

(१) 'साहित्यिक हिन्दी' या 'उर्दू-ए-मुअल्ला' बनाने पर नहीं है और

(२) उसे वे कांग्रेस द्वारा किया स्वीकृत 'हिन्दुस्तानी' नाम से ही पुकारना राष्ट्र के लिए हितकर मानते हैं।

दूसरी ओर उत्तरभारत के हिन्दीभक्त उसे

(१) 'संस्कृत, प्राकृत के क्रम पर' ढालना चाहते हैं और

(२) उसे वे 'हिन्दी' नाम से ही पुकारना चाहते हैं।

इस बार जो हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अबोहर-अधिवेशन के चुनाव में संघर्ष रहा, वह इसी मतभेद का लक्षण था। अबोहर के अधिवेशन में जो मत बहुमत में है, वह अवश्य अपने निर्णय को कड़े से कड़े शब्दों में प्रकट करेगा, ऐसी सम्भावना है।

परन्तु राष्ट्रभाषा का प्रश्न अकेले हिन्दीवालों का ही नहीं है उसे अखिल भारतीय दृष्टि से देखना चाहिए। हमारी दृष्टि में भाषा की पवित्रता जैसी कोई चीज है ही नहीं। आधुनिक हिन्दी में कई विदेशी भाषाओं (पुर्तगाली, फ्रेंच, अंग्रेजी) के शब्द इस बुरी तरह से मिल गये हैं कि उन्हें निकालना मुश्किल है। इसी प्रकार देशभाषाओं के शब्द भी मिलेंगे। हाँ, यह मिलावट बलात् नहीं होनी चाहिए। भाषा 'बलात्कार' को सहन नहीं कर सकती। वह अन्य भाषा के शब्दों से मधुर समन्वय ही कर सकती है जिसे कोई नहीं रोक सकता।

राष्ट्र-लिपि की समस्या

महात्मा गांधी और राष्ट्रीय महासभा देवनागरी और उर्दू दोनों लिपियों को राष्ट्र-लिपि स्वीकार करने के पक्ष में हैं। देश का सबसे विशाल जन-समुदाय देवनागरी लिपि को पसन्द करता है। सन् १९३१ की जन-संख्या के अनुसार प्रति १० हजार मनुष्यों में ४,०५६ मनुष्य देवनागरी-लिपि में लिखी जानेवाली भाषाएँ व्यवहार में लाते हैं।

लगभग १७ करोड़ व्यक्ति हिन्दी भाषा-भाषी हैं। उनके अतिरिक्त बंगला, गुजराती, मराठी और गुरुमुखी लिपियाँ भी देवनागरी लिपि से बहुत अधिक मिलती-जुलती हैं। जन-गणना-रिपोर्ट से यह पता चलता है कि प्रति १०,००० मनुष्यों में २,६६२ मनुष्य ऐसे हैं जो नागरी-लिपि के विविध रूपों का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार प्रति १०,००० मनुष्यों में ६,७१८ मनुष्य ऐसे हैं जो किसी न किसी रूप में देवनागरी-लिपि का व्यवहार करते हैं। मद्रास में तामिल-भाषा में संस्कृत का बाहुल्य है। अतः उन्हें भी एक रूप में देवनागरी लिपि का प्रयोग करना पड़ता है।

सन् १९३८ में हरिपुरा कांग्रेस में श्री सुभाषचन्द्र वसु ने राष्ट्रपति पद से अपने भाषण में राष्ट्र-लिपि के रूप में रोमन-लिपि का समर्थन किया था। और उनके समर्थक भी इस देश में बहुत हैं। परन्तु रोमन-लिपि राष्ट्र-लिपि बन नहीं सकती। जब भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी है तब उसकी लिपि रोमन कैसे हो सकती है? फिर भारत में अंग्रेजी जानने-वाले मुश्किल से १००० में १ हैं। इसके सिवा वह अवैज्ञानिक भी है। उर्दू-लिपि तो महा जटिल, क्लिष्ट, अस्पष्ट, दुरूह और ध्वनिशास्त्र की दृष्टि से अपूर्ण है। फिर उसकी कोई सांस्कृतिक या साहित्यिक पृष्ठभूमि भी नहीं है। उर्दू जाननेवालों की संख्या बहुत ही कम है। वह एक-दो प्रान्तों में ही अधिक है और छापने, लिखने, पढ़ने और पढ़ाने में कठिन है।

केवल नागरी लिपि ही ऐसी है जो सबके व्यवहार के योग्य है। वह पूर्णतः वैज्ञानिक और सर्वांगपूर्ण है। हाँ, इसकी विविध वर्ण-संयोग-प्रणाली और मात्रा-पद्धति तथा विविधरूप वर्णों की बहुलता इसे प्रेस, टाइपराइटिंग आदि के लिए, पूर्ण सुगम होनें से रोकती है, जिन्हें दूर करने के लिए हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, राष्ट्रभाषा प्रचार-समिति, अन्य नागरी-लिपि-सुधारक आदि उसमें सुधार करने के प्रयत्न कर रहे ह। यदि वर्णों का उद्देश्य ध्वनि का शुद्ध उच्चारण हो, तो संसार की कोई वर्णमाला नागरी का मुक़ाबला नहीं कर सकती। इस वर्णमाला की प्रत्येक ध्वनि के लिए अलग वर्ण है और प्रत्येक वर्ण की अलग ध्वनि है।

जो लिखा जाता है वही पढ़ा जाता है और जो पढ़ा जाता है, वही लिखा जाता है ।

साहित्य

संसार में सबसे प्राचीन आर्य जाति है और इसी कारण सबसे प्राचीन आर्य-संस्कृति तथा साहित्य है ।

पाश्चात्य विद्वानों ने मुक्तकंठ से यह स्वीकार किया है कि आर्य-संस्कृति तथा साहित्य संसार में सबसे प्राचीन हैं । सृष्टि के आदि में परमात्मा ने चार ऋषियों को जो अपना ज्ञान दिया, वह वेद के नाम से प्रसिद्ध है । वेद ईश्वरीय ज्ञान है । उसकी रचना किसी मानव ने नहीं की । इसीलिए वह अनादि है और उसका नाश भी नहीं होता । वैदिक युग में ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद तथा सामवेद—इन चार वेदों का ही आदर था और जन-समाज इनके अनुसार ही अपने जीवन को बनाने का प्रयत्न करता था । ये चार वेद ही वैदिक काल का साहित्य, धर्म-पुस्तक और कला-कृति थे । सामवेद का ऋषिगण गायन करते थे । उसे संगीत का जन्मदाता कहा जाता है ।

कुछ काल के बाद इन वेदों की ऋषियों-मुनियों ने व्याख्याएँ करना शुरू किया । अतः उपनिषदों तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना हुई । इसके बाद दर्शन-शास्त्रों की रचना की गयी । इस युग का जो साहित्य आज उपलब्ध है वह आध्यात्मिक-धार्मिक ही है । उस समय भारतीय कला का विकास कैसा हुआ था इसका आज कोई प्रामाणिक इतिहास उपलब्ध नहीं है ।

ब्राह्मण-ग्रन्थों के निर्माण के समय जनता की रुचि, कला-कृति तथा सरस साहित्य की ओर होने लगी । जनता काव्य और कविता में आनन्द लेने लगी । उस समय जन-समाज की मातृभाषा संस्कृत थी । अतः इस काल के ग्रन्थों का निर्माण संस्कृत में किया गया । सबसे प्राचीन काव्य-ग्रन्थ जिसका वर्णन इतिहास में आज उपलब्ध है, महर्षि वाल्मीकि की 'रामायण' है ।

'रामायण' की रचना के बहुत वर्षों के पश्चात् महर्षि व्यास ने जय काव्य की रचना की। इसमें महाभारत का काव्यमय वर्णन है। पीछे से इसी ग्रन्थ का नाम महाभारत प्रसिद्ध होगया।

भरत-मुनि ने नाट्य-शास्त्र की रचना की। इस ग्रन्थ में भारतीय नाट्य-कला के सिद्धान्त बताये गये हैं। नाटक के लिए उपयोगी तथा आवश्यक सभी बातों पर इसमें प्रकाश डाला गया है। सबसे पहला नाटक भास कवि ने इसी ग्रन्थ के सिद्धान्तों के अनुसार लिखा।

ईसा की पाँचवीं शताब्दी में महाकवि कालिदास का जन्म हुआ। कालिदास संस्कृत के महाकवि थे और वाल्मीकि के बाद वही सबसे महान् कवि माने गये हैं। आज संसार में कालिदास की कला-कृतियों का जो आदर और सन्मान है, वह इसीलिए है कि उन्होंने ऐसे अमर साहित्य की सृष्टि की जो युगों तक जनता के हृदय को प्रभावित करता रहेगा।

महाकवि कालिदास के अतिरिक्त और भी कई प्रसिद्ध काव्यकार हुए जिनकी अमर कृतियों के कारण आज संस्कृत-साहित्य संसार की भाषाओं के सम्मुख खड़ा हो सकता है और संस्कृत भाषा में ऐसे रत्न भरे पड़े हैं जिनके कारण वह विश्व-साहित्य में उच्च स्थान प्राप्त कर सकती है।

हिन्दी-साहित्य

बौद्ध-काल तक भारत में साहित्य-रचना की भाषा और संभवतः जनता की मातृभाषा संस्कृत रही। परन्तु बौद्ध-काल में पाली भाषा का अधिक प्रचार हो गया। इसी कारण इस युग की बौद्ध-साहित्यिक तथा धार्मिक कृतियाँ पाली भाषा में मिलती हैं। पाली भाषा के बाद भारत में प्राकृत भाषा का अधिक प्रचार बढ़ा। परन्तु जबसे भारत में विदेशी आक्रमणकारियों ने प्रवेश आरम्भ किया तबसे यहाँ की भाषाविषयक एकता भंग हो गयी और प्रान्तीय भाषाओं का जन्म होने लगा। ११वीं या उसके शताब्दी में आस-पास ही हिन्दी, उर्दू, बंगला, गुजराती, तामिल, तेलगू, मलयालम और मराठी आदि भाषाओं का विकास हुआ।

हिन्दी-साहित्य का इतिहास सन् ११९१ से आरम्भ होता है जब कवि चन्दवरदाई ने 'पृथ्वीराज रासो' नामक काव्य की रचना की। इस प्रकार हिन्दी-साहित्य आज ९०० वर्षों से उत्तरी भारत की जनता में अपना गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त करता रहा है। आज हिन्दी का साहित्य अन्य समस्त भारतीय भाषाओं के साहित्य में सर्वश्रेष्ठ है। एक युग था जब बंगला-साहित्य भारतीय साहित्य में सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। परन्तु शरच्चन्द्र तथा रवीन्द्रनाथ के युग के समाप्त हो जाने पर उसने कोई प्रगति नहीं की।

हिन्दी-साहित्य सदा प्रगतिशील रहा है और आज भी वह प्रगति के पथ पर है। गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी 'रामचरितमानस' जैसी अमर कृति से हिन्दी को सदैव के लिए उच्च आसन पर बिठा दिया। 'रामचरितमानस' वास्तव में ऐसी उच्चकोटि की कला-पूर्ण रचना है जिसमें सम्पूर्ण मानव-जीवन की बड़ी सरस व्याख्या की गयी है। उसमें राम के प्रति गोस्वामीजी ने भक्ति की जैसी मनोहर अभिव्यक्ति की है वैसी किसी भी साहित्य में मिलना दुर्लभ है; साथ ही उन्होंने जनता के हृदय को भी बड़ी मार्मिकता के साथ स्पर्श किया है। वह जनता का अपना साहित्य है। आज भारतवर्ष में 'रामचरितमानस' का बड़ा आदर है और उसकी चौपाइयाँ एक अपढ़ किसान के मुख से भी सुनायी पड़ती हैं। हिन्दी-साहित्य का यह सबसे लोकप्रिय काव्य है। अन्य भाषाओं में भी तुलसीदास की इस अमर कृति का अनुवाद हो गया है।

आधुनिक काल में श्री मैथिलीशरण गुप्त हिन्दी के सबसे बड़े कवि हैं। उनकी रचनाएँ जनता में सबसे अधिक लोकप्रिय हैं। श्री सुमित्रानन्दन पन्त, श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', श्री रामकुमार वर्मा, श्री महादेवी वर्मा आदि हिन्दी काव्य-जगत की आधुनिक भावना-धारा के प्रतिनिधि कवि हैं। इनकी कविताएँ विश्व-साहित्य में स्थान पाने योग्य हैं।

उपन्यास-क्षेत्र में प्रेमचन्द ने जैसा नाम पाया है वैसा हिंदी के किसी दूसरे लेखक ने नहीं पाया। प्रेमचन्द हिन्दी-संसार की एक मूल्यवान् निधि हैं। उन्होंने अपने उपन्यासों तथा कहानियों के द्वारा हिन्दी-साहित्य को

जो रत्न प्रदान किये हैं, उनसे वह तो गौरवान्वित हुआ ही है, इससे विश्व-साहित्य को भी एक मूल्यवान् दान मिला है।"

हिन्दी-साहित्य में श्री जयशंकर 'प्रसाद' ने नवीन नाटकों की रचना करके यह सिद्ध कर दिया है कि हिन्दी नाटक आधुनिक नाट्य-कला में किसी भी भाषा के साहित्य से पीछे नहीं हैं। उन्होंने अपनी नाट्य-कला के द्वारा भारतीय आर्य-संस्कृति तथा कला का जो पुनरुज्जीवन किया है, वह उनकी साहित्य और समाज को एक स्थायी देन है।

बंगला-साहित्य के श्री बंकिमचन्द्र, श्री शरत्चन्द्र और श्री रवीन्द्रनाथ अमर रत्न हैं। यदि बंगला-साहित्य में कुछ भी न रहे तो भी रवीन्द्रनाथ उसे अमर बनाने के लिए काफी हैं। डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर आज इस संसार में नहीं हैं और उनका युग भी बीत चुका, परन्तु उन्होंने जिन कला-कृतियों का निर्माण किया है वे विश्व-साहित्य की अमर रचनाएँ हैं। संसार भर में उनका मान है। वे बंगला के ही महाकवि, नाटककार और उपन्यासकार नहीं थे, प्रत्युत इस युग के सबसे महान् कवि थे। वह मानवता के महान् उपासक और आर्य-संस्कृति के आचार्य थे।

गुजराती-साहित्य, मराठी-साहित्य तथा तामिल-तेलगू और उर्दू-साहित्य ने भी बड़ी उन्नति की है। पर स्थानाभाव-वश यहाँ इनके सम्बन्ध में विवेचन अभिप्रेत नहीं है।

कला

भारतीय कला के आदर्श

ललित कलाओं में साहित्य, संगीत, नृत्य, चित्र-कला, मूर्ति-कला, और वास्तुकला का स्थान है। इनमें से साहित्य के विषय में हम ऊपर विवेचन कर चुके हैं। संगीत, नृत्य आदि अन्य कलाओं के सम्बन्ध में विचार करने से पहले यह उचित होगा कि हम भारतीय कला की विशिष्टताओं, आदर्शों तथा लक्ष्य के विषय में विचार करलें; कारण कि ये आदर्श और लक्ष्य केवल साहित्य तक ही परिमित नहीं प्रत्युत दूसरी ललित कलाओं में भी उनकी स्पष्ट झलक हमें मिलती है।

आज भारतवर्ष में, साहित्यिक जगत में एक युग से, आदर्शवाद तथा यथार्थवाद को लेकर एक बड़ा वाद-विवाद खड़ा हो गया है। कला में यथार्थ का चित्रण होना चाहिए—संसार को हम जैसा देखते हैं,उसका ज्यों का त्यों चित्रण ही कला है, ऐसा यथार्थवादी का मत है। दूसरी ओर आदर्शवादी का मत यह है कि संसार में बुराई-भलाई सभी को हम देखते हैं, परन्तु यह सभी यथार्थ नहीं—सत्य नहीं। इसलिए हमें जो वास्तव में सत्य है—आदर्श है, उसीका चित्रण करना चाहिए। एक मत के अनुसार कला में इन दोनों का समन्वय ही उचित मार्ग है।

यहाँ इन दोनों वादों की समीक्षा अभिप्रेत नहीं है। हमें तो यह देखना है कि ये दोनों वाद भारतीय-कला के आदर्शों के कहाँ तक अनुकूल हैं। यह हम ऊपर ही कह चुके हैं कि भारत में कला का उद्देश्य अन्य देशों की कला-साहित्य की अपेक्षा भिन्न है। भारतीय और विशेषतः आर्य-जीवन का लक्ष्य है धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार फलों की प्राप्ति। इन्हीं को धार्मिक भाषा में पुरुषार्थ कहा गया है। मानव-जीवन का लक्ष्य है इन चारों की सिद्धि। बस इसी चरम लक्ष्य को दृष्टि में रखकर समस्त भारतीय साहित्य तथा कला का निर्माण हुआ है। इस प्रकार कला, भारतीय की दृष्टि में, पाश्चात्य देशों की तरह, मनोरंजन का साधन नहीं है, प्रत्युत वह जीवन को मुक्ति-बंधन से मोक्ष की ओर ले जाने का एक मार्ग है—साधन है। जिस प्रकार योग-साधना द्वारा मोक्ष प्राप्ति का प्रयत्न किया जाता है, उसी प्रकार साहित्य-साधन और कला की उपासना द्वारा भी ब्रह्मानन्द की प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया जाता है।

भारतीय आर्य साहित्य में बंधन से मुक्ति की ओर जाने के लिए जो भावना ओतप्रोत है, उसका हमारे धार्मिक सिद्धांतों से गहरा संबंध है। संसार भर में आर्यों (हिन्दुओं) के सिवा शायद और कोई जाति पुनर्जन्म तथा कर्म-फल के सिद्धान्तों में विश्वास नहीं करती। पाश्चात्य देशों में तो इसी जन्म में मनुष्य को भोग-विलास का जीवन बिताकर अपनी जीवन-यात्रा समाप्त करनी है। उनकी जनता का परलोक-जीवन

तथा पुनर्जन्म में कोई विश्वास नहीं। इसलिए जो कुछ इस जीवन में कर लिया जाये वही सार्थक है, परलोक से हमारे आर्यों का कोई सम्बन्ध नहीं। परन्तु भारतवर्ष में यह सिद्धान्त प्राचीन काल से प्रचलित है कि मनुष्य तीन प्रकार के कर्म के बन्धन में है। संचित कर्म--जिन कर्मों को वह कर चुका है; प्रारब्ध-कर्म—जिन कर्मों को वह भोग रहा है; क्रियमाण—जिन कर्मों को वह अब कर रहा है तथा जिनका फल भविष्य में भोगना पड़ेगा।

मनुष्य मृत्युपर्यन्त कर्म करता रहता है; कुछ कर्मों का फल वह अपने इस जीवन में भोग लेता है और शेष कर्मों के भोगने के लिए उसे फिर जन्म लेना पड़ता है। यदि मनुष्य ईश्वर-प्राप्ति के लिए तपस्या व साधना करे और उसमें उसे सफलता मिल जाये तो वह कुछ नियत-काल के लिए जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार हम भारतीय साहित्य तथा कला में इस विश्वास की स्पष्ट झलक पाते हैं। यदि आप किसी भारतीय नाटक को देखें तो आपको यह मालूम हो जायेगा कि वह सुखान्त ही है। यदि कोई दुष्ट जन किसी साधु पुरुष के शुभ कार्यों में बाधा डालता है, अथवा वह उस पुरुष की हत्या कर देता है, तो भारतीय नाटककार अपने नाटक में उस साधु पुरुष के साथ पूर्ण सहानुभूति रखेगा और उस दुष्ट पात्र को अन्त में दण्ड दिलायेगा। यदि उसे बिना दण्ड दिये छोड़ दिया जायेगा तो इससे भारतीय विश्वास को बड़ी ठेस लगेगी और वास्तव में होता भी ऐसा ही है।

इस प्रकार भारतीय कला का आदर्श है मुक्ति की साधना। इसके अनुसार जो-जो सिद्धान्त ठीक हैं, उनका भारतीय कला में निर्वाह वांछनीय है। यथार्थवादी जिसे सत्य समझते हैं, वह वास्तव में सत्य नहीं है; यदि वह अपने आन्तरिक चक्षुओं से सत्य की खोज करे और सत्य का दर्शन करे तो उसे प्रकट होगा कि जिस अश्लील तथा कामुक चित्र के चित्रण को वह यथार्थ मानता है, वह तो सत्य से दूर है।

पुनर्जन्म तथा कर्म-फल के सिद्धान्तों की ग़लत व्याख्या से एक बहुत-

ही अवांछनीय प्रभाव जनता के हृदय पर पड़ा है—वह यह कि आज समाज में यदि किसी ब्राह्मण की उच्च स्थिति है, तो वह उसके अपने कर्मों के कारण है और यदि आज किसी दीन-दलित जन की दुर्दशा है तो वह उसके कर्मों का फल है। इसलिए समाज की जैसी स्थिति विद्यमान है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता। यदि आज नारी-जाति की हीन दशा है, तो वह उनके कर्मों का फल है, यदि आज मजदूर पूंजीपतियों के अत्याचारों के शिकार हैं तो अपने प्रारब्ध के कारण; और यदि आज किसान-वर्ग पीड़ित है तो अपने कर्मों के फल से। इस प्रकार की विचारधारा ने भारतीय समाज का बड़ा अनिष्ट किया है और जनता में भाग्यवाद तथा नैराश्य को जन्म देकर उसे अपंग और शक्तिहीन बना दिया है। प्रत्येक सुधार-आन्दोलन में इस विश्वास ने बड़ी ठेस पहुँचायी है।

यह विश्वास सर्वथा ग़लत है। मनुष्य के कर्मों का फल मिलता है; परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता नहीं है। मनुष्य वर्तमान् में जो कार्य करता है, वही आगे उसके प्रारब्ध-कर्म बन जाते हैं। इसलिए समाज में प्रत्येक व्यक्ति को समान रूप से सुयोग मिलना चाहिए जिससे वह अपना प्रारब्ध-निर्माण भली भाँति कर सके।

आधुनिक भारतीय साहित्य पर समाजवादी विचारधारा, गांधीवादी आदर्शवाद तथा डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रहस्यवादी विचारधारा का गहरा प्रभाव पड़ा है। इस युग के साहित्य की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:

(१) राष्ट्रीय जीवन की भाँति साहित्य में भी स्वातन्त्र्य-प्रियता का दर्शन हमें मिलता है। कविता को छन्द-शास्त्र के बन्धन मुक्ति के प्रयत्न में भी यह स्वाधीनता-प्रेम ही है।

(२) साहित्य आज किसी एक वर्ग की आकांक्षा की पूर्ति का साधन नहीं रहा है। वह अब जनता का साहित्य बन गया है। उसमें नैतिकता व लोक-कल्याण की भावना की प्रतिष्ठा फिर से नये ढंग से हो रही है।

(३) आज का साहित्य जीवन के अधिक निकट हो गया है और उसमें

जीवन की विविध समस्याओं पर आधुनिक ढंग से प्रकाश डाला गया है।

(४) आज के साहित्य में मानवता के आदर्श को महत्त्वपूर्ण स्थान पुनः प्राप्त हो गया है। समाज तथा व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों को सामंजस्यपूर्ण बनाने के लिए उसमें प्रेरणा है।

(५) अन्तिम और महत्त्वपूर्ण विशेषता है अन्तर्राष्ट्रीय भावधारा का सुन्दर समन्वय।

भारतीय कला के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों तथा भारत के पाश्चात्य संस्कृति के समर्थक विद्वानों की यह धारणा है कि वह यथार्थ का चित्रण नहीं करती और न उसमें स्वाभाविकता ही है। परन्तु वास्तव में यह धारणा सर्वथा निराधार है। भारतीय कला में कहीं भी कृत्रिमता दृष्टिगोचर नहीं होती और किसी के चित्रण में स्वाभाविकता तो उसकी निजी विशेषता है। भारतीय कलाकार प्रकृति के वाह्य रूप से ही आकर्षित होकर अपनी कृति की रचना नहीं करता, वह उसके अन्तर में प्रविष्ट होकर अपनी अन्तर्दृष्टि से उसकी सचाई की खोज करता है और इस खोज के बाद जो उसे यथार्थ का दर्शन होता है, उसका वह चित्रण करता है। ऋषि शुक्राचार्य ने, जो मुद्रा के आचार्य माने जाते हैं, अपनी 'शुक्रनीतिसार' पुस्तक में लिखा है—

'किसी मूर्ति के स्वरूप की पूर्ण और स्पष्ट झलक मानसिक लोचनों के समक्ष उपस्थित करने के लिए, मूर्तिकार को चिंतन करना चाहिए और इस चिंतन पर ही उसकी सफलता निर्भर है। और दूसरा कोई ऐसा साधन नहीं —यहाँ तक कि दृश्य-वस्तु का निरीक्षण भी जो इस उद्देश्य को पूरा कर सके।" इसके आगे वह लिखते हैं:—**'कलाकार को मूर्त की प्राप्ति चिन्तन और साधना द्वारा ही सुलभ है। यह आध्यात्मिक दृष्टि ही उसके लिए सर्वश्रेष्ठ और सबसे सच्चा मानदण्ड है। उसे इसी पर निर्भर करना चाहिए, दृश्य वस्तुओं के बाह्य इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्षीकरण पर नहीं।'**

इस प्रकार भारतीय कला में दृश्य वस्तुओं का वह चित्रण नहीं है जो लोचनों का विषय है, प्रत्युत उसे तो कलाकार की अन्तर्दृष्टि ही

अनुभव कर सकती है और उसे वैसा ही चित्रित करती है। इसलिए कवि पहले योगी और दार्शनिक है; क्योंकि उसकी कला का जन्म ध्यान, योग और साधना के द्वारा ही सम्भव है।

संगीत-कला

प्राचीन काल में संगीत-कला का भारत में बड़ा प्रचार था। ऋषि-गण यज्ञ तथा अन्य उत्सवों पर साम-गान से जनता का मनोरंजन करते थे। सामवेद को संगीत का आदि-स्रोत माना जाता है। ईसा की तीसरी या चौथी शताब्दी में भरत मुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र की रचना की। यह नाट्य-शास्त्र ही भारतीय संगीत पर सबसे पुराना ग्रंथ है जो आज प्राप्य है। नाट्य-शास्त्र में मुख्यतः नाटकों के सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला गया है; परन्तु इसमें संगीत-कला के विषय में भी विवेचन किया गया है। इसके बाद १३वीं शताब्दी में काश्मीर के शारंगदेव ने 'संगीत-रत्नाकर' नामक ग्रंथ लिखा। संगीत-कला पर यह बड़ी प्रामाणिक पुस्तक है और उस समय से अबतक संगीतज्ञों तथा संगीताचार्यों ने इससे प्रेरणा प्राप्त की है। चौदहवीं सदी में लोचन कवि ने राजतरंगिनी की रचना की। यह भी संगीत-कला की मीमांसा करती है। अकबर के शासन-काल में खानदेश में पुंडरीक विट्ठल का जन्म हुआ। उन्होंने सद्राग-चन्द्रोदय, रागमाला, रागमंजरी और नर्तन-निर्णय ग्रन्थ लिखे। सत्रहवीं शताब्दी में अहोबाला ने 'संगीत-पारिजात' की रचना की। इसी काल में गढ़ देश के राजा महाराजा हृदयनारायण देव ने भारतीय संगीत पर 'हृदय-प्रकाश' नामक एक बड़ी उत्तम पुस्तक लिखी। शाहजहाँ के शासन-काल में भाव भट्ट नें संगीत पर तीन पुस्तकें लिखीं—अनूपसंगीतरत्नाकर, अनूपकुपा और अनूप-विलास। इसके बाद हमें इस कला पर कोई रचना प्राप्त नहीं होती। आधुनिक काल में श्री वी० एन० भातखण्डे ने संस्कृत में दो ग्रन्थ संगीतशास्त्र पर लिखे हैं—लक्ष्य संगीतम् और अभिनव रागमंजरी। ये दोनों भारतीय संगीत पर अन्तिम ग्रन्थ हैं। इसके बाद कोई भी ग्रन्थ नहीं लिखा गया।

प्रयत्न हो रहा है, वह प्रशंसनीय है। इस कार्य में भारत विश्वविद्यालयों तथा कालेजों के प्रोफेसर तथा विद्यार्थीगण बड़ी रुचि के साथ भाग ले रहे हैं। विश्वविद्यालयों, कालेजों तथा हाई स्कूलों में संगीत-कला के शिक्षण के लिए भी प्रबंध किया जा रहा है। जहाँ-तहाँ प्रतिवर्ष संगीत-सम्मेलन होते हैं। इन अवसरों पर संगीत-प्रतियोगिताओं का आयोजन किया जाता है जिनमें छात्र-छात्राएँ समान रूप से भाग लेते हैं। विश्वविद्यालयों तथा हाई स्कूलों में संगीत-शिक्षा के लिए भी व्यवस्था है तथा इस विषय में परीक्षा का भी प्रबंध है। इस कला के पुनरुद्धार के लिए शिक्षित पुरुषों तथा स्त्रियों का सहयोग आवश्यक है। आज के सभ्य समाज में संगीत को घृणा की वस्तु नहीं समझा जाता। शिक्षित तथा सम्माननीय परिवारों की कुमारियाँ तथा महिलाएँ भी इस कला को अपना रही हैं।

नृत्य-कला

नृत्य-कला का संगीत-कला से घनिष्ठ सम्बन्ध है। संगीत के समान नृत्य भी भारत में प्राचीन काल से प्रचलित है। एक समय था जबकि नृत्य-कला भारत में उत्कर्ष की चरमसीमा पर पहुँच चुकी थी।

प्राचीन भारत में नटराज शंकर और उनकी पत्नी पार्वती, महाभारत के वीर योद्धा अर्जुन आदि नृत्य-कला में आचार्य माने जाते थे। अर्जुन ने अपने अज्ञात-वास के समय राजा विराट की कन्या उत्तरा को नृत्य-कला की शिक्षा दी थी।

परन्तु कालान्तर में नृत्य-कला भारत से लुप्त होगयी और जन-समाज तथा सभ्य-समाज में इसे घृणा की वस्तु समझा जाने लगा। वेश्याओं ने संगीत तथा नृत्य-कला को अपनाया और इसके द्वारा वे नागरिकों के लिए आकर्षक बनने में साधक हुई। जब ये कलाएँ इनके द्वारा संरक्षित होने के कारण कलुषित और दूषित हो गयीं, तब सभ्य-समाज में संगीत और नृत्य के प्रति और भी अधिक घृणा पैदा हो गयी। परन्तु ऐसी दशा में भी स्त्रियों ने ग्रामों और नगरों में संगीत और

नृत्य की परम्परा को क़ायम रखने में एक सीमा तक योग दिया।

देश में राष्ट्रीय पुनरुज्जीवन और राजनीतिक नवचेतना से स्फूर्ति पाकर कला-प्रेमियों ने संगीत तथा नृत्य-कला के पुनरुज्जीवन के लिए फिर से प्रयत्न किया। १०-१५ वर्षों में ही इस क्षेत्र में कलाकारों ने बड़े मनोयोग से कार्य किया है। जिसका फल आज प्रत्यक्ष दीख पड़ता है। आज नृत्यकला का संगीत से भी कहीं अधिक आदर है। बड़े-बड़े सुसंस्कृत तथा सभ्य परिवारों की कुमारिकाएँ, बालिकाएँ और स्त्रियाँ आज नृत्य-कला को सीख रही हैं।

भारतीय नृत्य के तीन भेद हैं:—(१) नाट्य (२) नृत्य और (३) नृत्त।

नाट्यमें नर्तक या नर्तकी रंगमंच पर नाटक के अन्य पात्रों के साथ नृत्य करता या करती है। नृत्य में राग, ताल और भाव तीनों की आवश्यकता होती है, परन्तु उसमें भाव का ही प्राधान्य होता है। और इसमें नर्तक या नर्तकी ऐतिहासिक या पौराणिक काल के किसी वीर नायक या नायिका के जीवन की किसी सामान्य घटना को अभिव्यक्त करता या करती है। नृत्य में ताल की प्रधानता होती है। स्वर और ताल के साथ नाचना पड़ता है। नृत्त दो प्रकार का होता है—(१) ताण्डव (२) लास्य। शिवजी के नृत्त को ताण्डव तथा पार्वती के नृत्त को लास्य कहा जाता है। इसी कारण पुरुष ताण्डव करते हैं और स्त्रियाँ लास्य करती हैं।

नृत्य में भाव, रस, राग, ताल और अभिनय होता है। नर्तक में जो भाव होते हैं वह उन्हें किसी न किसी रस द्वारा स्वर और ताल के साथ अपनें अभिनय द्वारा व्यक्त करता है।

भावों का अभिनय चार प्रकार से किया जाता है—(१) आंगिक (२) सात्विक (३) वाचिक और (४) वाह्य।

१. आंगिक अभिनय में नर्तक मुद्रा-प्रदर्शन अर्थात् अंगों और विशेष रूप से हाथों के संकेतों द्वारा भाव प्रदर्शन करता है।

२. सात्विक अभिनय में नर्तक आँसू, कंपन, स्वरभेद, भय, मूर्च्छा, मुस्कान, आदि शारीरिक अवस्थाओं के द्वारा भाव प्रदर्शन करता है।

३. वाचिक अभिनव में शब्द या ध्वनि द्वारा भाव-प्रदर्शन किया जाता है।

४. वाह्य अभिनय में वस्त्रालंकार तथा अन्य अस्त्र-शस्त्रों द्वारा प्रदर्शन किया जाता है।

भारतवर्ष में आजकल दो प्रकार के नृत्य सबसे अधिक प्रचलित हैं—कथक और कथाकली। कथक लास्य नृत्त है और कथाकली ताण्डव।

कथक नृत्य

इस नृत्य में नृत्य लय और ताल में बँधा होता है। इस नृत्य में अधिकांश में शृंगार रस से परिपूर्ण मनोभावों की अभिव्यक्ति की जाती है। नृत्य में पग, हस्त, गर्दन, भवें, और श्वास एक दूसरे से मिलकर तान में चलते हैं। उत्तरी भारत में इस नृत्य का अधिक प्रचार है।

कथाकली-नृत्य

इस नृत्य का दक्षिण भारत और विशेष रूप से केरल प्रान्त में बड़ा प्रचार है। परन्तु यह अब समस्त भारत में लोकप्रिय हो गया है। इस नृत्य में मुद्रा के प्रदर्शन द्वारा नृत्य किया जाता है। इसमें हाथ, हथेली और उँगलियों के भिन्न संकेतों द्वारा भावों का प्रदर्शन किया जाता है। एकाकी कर-मुद्राएँ और संयुक्त-कर-मुद्राएँ कुल ६० हैं जिनका नृत्य में प्रयोग किया जाता है। इन दोनों प्रकार की कर मुद्राओं द्वारा ५०० से अधिक शब्द व्यक्त किये जा सकते हैं। परन्तु मुख्यतः ५ एकाकी मुद्राओं और कुछेक संयुक्त-मुद्राओं का प्रयोग सामान्यतया किया जाता है।

कुछ नृत्य-कला के आचार्यों के अनुसार कथाकली में लास्य तथा ताण्डव दोनों प्रकार के भेद होते हैं। अर्थात् ताण्डव में वीर तथा भयानक और रौद्र रस की अभिव्यक्ति की जाती है और लास्य में शृंगार, भक्ति तथा करुण रस की।

आजकल भारतीय नाट्य-कला के आचार्य, संसार-प्रसिद्ध नृत्य-कला-विशारद श्री उदयशंकर भारत में नृत्य-कला के पुनरुज्जीवन के लिए उद्योग

कर रहे हैं। उन्होंने यूरोप और अमरीका में वर्षों तक अपनी कला का प्रदर्शन करके अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की है। अलमोड़ा की एक उपत्यका में, प्रकृति की मनोरम गोद में उन्होंने भारत-संस्कृति-केन्द्र (India Culture Centre) की स्थापना करके नृत्य के पुनरुज्जीवन के लिए प्रयत्न आरम्भ कर दिया है।

स्वयं श्री उदयशंकर के शब्दों में "इस केन्द्र में सम्मिलित होनेवाले कलाकार गतिमय संसार को देखने, उसकी रंग-विरंगी रूपरेखा को परखने और सजीव मूर्ति-रूप में उसे व्यक्त करने तथा उसकी नाना प्रकार की कोमल और भावपूर्ण भंगियों को साकार रूप से दृष्टिगोचर करने और कराने की शिक्षा दी जायगी। इसके पाठ्य-क्रम तथा अभ्यास की नींव शास्त्रोक्त रीति से होते हुए भी शरीर की सहज सुन्दर भाव-भंगी के आधारभूत होंगे। छात्रों में सक्रिय कल्पना-शक्ति की वृद्धि के लिए उन्हें कुछ खास तरह के ऐसे अभ्यास बताये जायेंगे, जिनसे वे चित्त को एकाग्र और भावुकता को बढ़ाने में समर्थ होते हुए अपनी भूलें और कमियाँ स्वयं समझ सकें।

यह तो है संस्कृति-केन्द्र का लक्ष्य। अब कला के विषय में कलाकार उदयशंकर के विचार भी मननीय हैं—

"यद्यपि कलात्मक दिग्दर्शन वास्तविक जीवन से भिन्न होता है, परन्तु वह आधारित रहता है जीवन पर ही। भारत में हम कला को विविध दृष्टिकोण से देखते हैं। इनमें एक है मुद्राओं की सहायता से कला का दिग्दर्शन कराना। इसमें वास्तविक से, जो रंगमंच पर किया जाता है, अधिक अर्थसूचक होता है और यही रस की अनुभूति है। यह जल के ऊपर के बुलबुलों की भाति नहीं बल्कि समुद्र के स्थायी अन्तःस्रोत की भाँति होता है। दर्शक और कलाकार का वास्तविक समागम तभी सम्भव है जब कि कलाकार रस के इस स्थायी स्रोत का सुर छेड़ सके और उसे समवेत रसिक-मण्डली तक पहुँचाने में समर्थ हो सके। सिर्फ टेकनीक याद करने से काम न चलेगा। कलाकार का समूचा जीवन कलामय बनाना होगा जिससे वह सजीव मूर्तिकला को

व्यक्त कर सके और तभी वह आध्यात्मिक विकास तथा भावना में प्रवेश कर सकेगा।"[१]

श्री उदयशंकर, वास्तव में, आर्य संस्कृति और कला के एक महान् उन्नायक हैं। उन्होंनें भारत की मृतप्राय नृत्यकला को पुनरुज्जीवित करके उसमें मौलिकता तथा नवीनता की स्थापना की है। नृत्य भारत में अश्लीलता तथा कामुकता का बोधक बन गया था, पर उन्होंने उसे अपनी साधना तथा सिद्धि द्वारा एक दैवी कला के रूप में फिर से उपस्थित किया है।

भारत में नृत्य-कला का प्रचार दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है। कुमारी कनकलता, कुमारी अमलानन्दी, श्री साधना बोस, रुक्मिणीदेवी, श्री रागिनीदेवी (अमरीकन महिला) और श्रीमती मीनाक्षी रामाराव नें इस कला में बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की है। और भारत के लिए विशेष गौरव की बात यह है कि भारत से बाहर इन कलाकारों के प्रदर्शनों से प्रभावित होकर अमरीका व यूरोप में भारतीय नृत्य अधिक लोकप्रिय बनते जा रहे हैं। आज से प्रायः ३०-३५ वर्ष पूर्व अमरीका में मिस रूथ सेंट डेनिस, ने जो अमरीका में हिन्दू नृत्यकला की आचार्या मानी जाती हैं, अपने भारतीय नृत्यों से लोगों की श्रद्धा और प्रशंसा प्राप्त की। वर्तमान समय में ला-मेरी नाम की अमरीकन महिला अमरीका में भारतीय नृत्य कला का प्रदर्शन कर रही हैं।

चित्रकला

चित्र-कला भी भारत में प्राचीन काल से ही प्रतिष्ठित है। यों तो चित्र-कला के संबंध में अनेक प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है, परन्तु विष्णु धर्मोत्तर पुराण के 'चित्रसूत्र' अध्याय में उसका विस्तृत और सरस वर्णन है। डा० स्टेला क्रामरिश ने अंग्रेजी भाषा में इस अध्याय का अनुवाद किया है। डा० आनन्द कुमार स्वामी ने भी इसका अनुवाद

१. 'कर्मयोगी' (मासिक), प्रयाग; सितम्बर १९३

किया है। श्री नान्हालाल चमनलाल मेहता आई. सी. एस. के मतानुसार 'शिल्प, नृत्य और चित्र-कला का महत्त्व समझने के लिए 'चित्रसूत्र' इतने महत्त्व का ग्रन्थ है कि उसका हिन्दी में किसी योग्य व्यक्ति द्वारा प्रामाणिक अनुवाद तुरन्त कराना चाहिए।' [१]

उपर्युक्त ग्रन्थ के आरम्भ में मार्कण्डेय मुनि ने लिखा है--"विना तु नृत्यशास्त्रेण चित्रसूत्रं सुदुर्विदम्।" नृत्य शास्त्र के अभ्यास के बिना 'चित्र सूत्र' समझना कठिन है।

सन् ११२९ में चालुक्य वंश के नरेश सोमेश्वरके भूपति ने 'मान-सोल्लास' नामक ग्रन्थ में चित्रकला का विवेचन किया और १६ वीं शताब्दी में श्री कुमार ने 'शिल्परत्न' नामक ग्रन्थ लिखा जिसमें चित्रकला का उल्लेख है।

वात्स्यायन के 'कामसूत्र' ग्रन्थ में चित्र के ६ अंग बताये गये है जो ये हैं:

१. रूपभेद (आकृतिभेद) २. प्रमाण ३. भाव ४. लावण्य-योजना ५. सादृश्य और ६. वर्णिक भंग (रंगों का विधान)।

भारतीय चित्रकला के अन्तर्गत ४ प्रकार के चित्रों का उल्लेख मिलता है:

१. भित्ति-चित्र—ये चित्र भवनों, मन्दिरों और यज्ञशालाओं की दीवारों पर बनाये जाते हैं। अजंता की गुफ़ा में इसी प्रकार के चित्र हैं।

२. चित्रपट—ये चित्र कपड़े या कागज पर बनाये जाते हैं।

३. चित्र-फलक—ये चित्र पत्थर या लकड़ी पर बनाये जाते हैं।

४. धूलि-चित्र—ये चित्र रंगों से पृथ्वी पर बनाये जाते हैं। आज-कल संयुक्तप्रान्त तथा अन्य प्रान्तों में विवाह आदि शुभ अवसरों पर स्त्रियाँ रंगों से पृथ्वी पर चित्र बनाती हैं। उसे 'चौक पूरना' या 'सांझी' कहते हैं।

चित्रकला द्वारा चित्रकार अपने मनोभावों को इस रीति से अभि-

---

१ नान्हालाल चमनलाल मेहता: 'भारतीय चित्रकला'

व्यक्त करता है कि चित्र को देखनेवाले के हृदय में भी वैसी भावना का उदय हो जाता है और इस प्रकार चित्रकार तथा दर्शक के बीच आध्यात्मिक संबंध स्थापित हो जाता है।

ऐतिहासिक महापुरुषों के जीवन की घटनाओं, विशेष ऐतिहासिक घटनाओं तथा प्राकृतिक दृश्यों के संरक्षण के लिए चित्रकला सर्वोत्कृष्ट साधन है। प्राचीन काल में धार्मिक कृत्यों और विवाहादि के अवसरों पर भी इसका प्रयोग किया जाता था। उसकी उपयोगिता असंदिग्ध है।

भारतवर्ष में चित्र-कला को विकसित करने तथा उसके संरक्षण का पूरा श्रेय हिन्दू चित्रकारों को है। आज जिसे हम लोग मुगल-चित्र-कला कहते हैं, उसके निर्माण में भी हिन्दू चित्रकारों का ही हाथ है। हाँ, यह शब्द उस चित्रावली के लिए प्रयुक्त किया जाता है, जो मुगल-काल में तैयार की गयी थी।

भारत में मुसलमान चित्र-कला के विरुद्ध रहे हैं। इसके कारण का उल्लेख करते हुए श्री मेहता ने अपने ग्रन्थ में लिखा है--

"कुरान के पाँचवें अध्याय में लिखा है कि शराब, द्यूत, प्रतिमा-विधान, भविष्यकथन, ये सब शैतान के काम हैं। इन चीजों से मुसलमानों को बचना चाहिए। यद्यपि इसमें चित्रकला के लिए कोई निषेध नहीं, परन्तु हदीस के अनुसार कयामत के दिन चित्रकार को घोर नरक में स्थान मिलेगा; क्योंकि उसने मनुष्य-कृत वस्तुओं में प्राण-संचार करने का दुःस्साहस किया है...सर टामस आरनाल्ड के मतानुसार यह तिरस्कार इसलिए संभव हो सकता है कि शुरू में इस्लाम धर्म के अनुयायी यहूदी थे जिनके मन में पुरानी प्रतिमाओं व चित्रों के प्रति बहुत ही दुर्भाव व तिरस्कार पैदा हुआ।"[१]

इस धार्मिक अंधपरम्परा के होते हुए भी हम देखते हैं कि मुगल बादशाहों ने चित्र-कला को प्रोत्साहन दिया। आजकल भी सिनेमा-कला, जिसमें चित्र-कला को प्रमुख स्थान प्राप्त है, के विकास में मुस्लिम अभि-

---

१. नान्हालाल चमनलाल : 'भारतीय चित्र-कला'; पृ० ३७

नेताओं तथा अभिनेत्रियों का पूरा हाथ है। ऐसे भी बहुत से चित्र मिलेंगे जिन्हें मुस्लिम चित्रकारों ने बनाया है।

अजन्ता की गुफाओं की चित्र-कला

निजाम राज्य हैदराबाद में औरंगाबाद से ५० मील दूर पर अजंता प्रसिद्ध स्थान है। वहाँ चट्टान में खोदकर ३२ गुफाएँ बनायी गयी हैं। जिनमें २९ विहार और ३ चैत्य हैं। अजन्ता की इन गुफाओं में आज से प्रायः दो हजार वर्ष पूर्व चित्र बनाये गये थे। अजन्ता की तरह एलोरा में भी चित्र-कला की शोभा दर्शनीय है। परन्तु इन दोनों में अन्तर यह है कि अजन्ता की कला विशुद्ध बौद्धकला है और एलोरा की कला में बौद्ध, जैन और हिन्दू-कलाओं का मिश्रण है। इन चित्रों से तत्कालीन जनता के रीति-रिवाजों, संस्कृति और धार्मिक-जीवन का पूरा पता लग जाता है। इन विहारों में महात्मा बुद्ध के जीवन की विविध घटनाओं को कलाकारों ने बड़े मार्मिक तथा प्रभावशाली ढंग से चित्रित किया है। वास्तव में ये भारतीय कला के आश्चर्य-जनक प्रतीक हैं, जो आज भी उसकी सर्वश्रेष्ठता को पुकार-पुकारकर बताते हैं।

श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने चित्र-कला में जो युगान्तर उपस्थित किया है तथा स्व० श्री शारदाचरण उकील ने जिस परम्परा को चलाया है उससे इस कला में बड़ी उन्नति हुई है। आजकल नन्दलाल वसु, असितकुमार हालदार आदि अच्छे चित्रकार हैं।

वास्तु-कला

प्राचीन भारत में जहाँ आर्य-जाति ने अन्य कलाओं में उन्नति की वहाँ वास्तु (भवन-निर्माण) कला में भी आश्चर्यजनक उन्नति की थी। प्राचीन संस्कृत साहित्य तथा विशेषतः रामायण और महाभारत के अध्य-यन से यह स्पष्टरूप से विदित हो जाता है कि आर्यलोग अपने निवास-स्थान बनाने, यज्ञ-शाला, धर्मशाला तथा अन्य सार्वजनिक भवन आदि बनाने में वास्तु-कला के सिद्धान्तों से काम लेते थे। धातु के भी मकान

बनाये जाते थे। इन्द्रप्रस्थ में महाभारत-कालीन भवनों के जो भग्नावशेष आज मौजूद हैं, उनसे भी यह प्रमाणित हो जाता है कि पहले कलाकार मकान बनाने में ऐसी सामग्री का प्रयोग करते थे जो आज की अपेक्षा अधिक मजबूत होती थी।

मौर्य्य-काल में वास्तु-कला समृद्धि पर थी। पाटलिपुत्र में सुन्दर भवन थे। लकड़ी का काम भी बड़ा कलापूर्ण था। भारहुत, सांची, और अमरावती के स्तूप बौद्ध वास्तु-कला के सुन्दर नमूने हैं। कनिष्क तथा हुविष्क ने भी कई दर्शनीय इमारतें बनवायी थीं। गुप्त-काल में बनारस तथा मथुरा के कई मन्दिरों का निर्माण किया गया था। हर्ष के शासन-काल में नालंद में बड़े भव्य मकान बनाये गये। बनारस, मथुरा और कन्नौज में हिन्दू तथा बौद्ध मन्दिर बन गये थे।

एलोरा का कैलास-मन्दिर वास्तु-कला का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। मुस्लिम-शासन-काल में भी वास्तु-कला की बड़ी उन्नति हुई। मुगल-काल में बादशाहों के लिए बड़े-बड़े राज-प्रासाद तथा गढ़ और मसजिदें बनायी गयीं। इस समय हिन्दू-वास्तुकला को संरक्षण न मिलने के कारण वह लुप्त-सी हो गयी। सन् १२३१ में कुतुबमीनार बनायी गयी जिसकी ऊँचाई २४० फीट है।

अकबर ने फतहपुर-सीकरी में शेख सलीम चिश्ती की दरगाह, और आगरा तथा इलाहाबाद में क़िले बनवाये। मुगल-काल की वास्तु-कला का सबसे आश्चर्यजनक कृति है सम्राट् शाहजहाँ का अपनी बेगम की क़ब्र पर बनवाया हुआ ताजमहल, जो संसार की सुन्दर इमारतों में गिना जाता है।

मूर्ति-कला

भारत में मूर्ति-कला की भी बड़ी उन्नति हुई है। प्राचीन काल में हिन्दू देवी-देवतों तथा अपने इष्टदेवों की अत्यन्त सुन्दर मूर्तियाँ बनाते थे। ये पत्थर, धातु, लकड़ी या हाथी दाँत की होती थीं। बौद्ध तथा जैन-काल में भी मूर्ति-कला का पर्याप्त विकास हो चुका था।

नागरिक जीवन और कला

नागरिक जीवन को सर्वश्रेष्ठ और समाजोपयोगी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसे संस्कृति के ढाँचे में ढाला जाये। संस्कृति का अर्थ है—परिष्कार और संस्कार। मानव-जीवन को सुसंस्कृत बनाने के लिए कला ही सर्वोत्तम साधन है। प्रत्येक युग में जब मानव-समाज ने अभ्युदय प्राप्त किया तब ऐसा वह कला के विकास द्वारा ही कर सका। वास्तव में मानव-एकता और विश्व-बन्धुत्व की स्थापना करने में कला का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है। जब-जब समाज ने विशुद्ध कला की साधना की तब-तब उसने शान्ति, समृद्धि और मानव-एकता को प्राप्त किया और जब-जब समाज कला के नाम पर विलासिता और कामुकता में लीन होगया, तब-तब उसे पतनोन्मुख होना पड़ा है। इतिहास इसका ज्वलन्त प्रमाण है। इसकी सिद्धि के लिए भारतीय इतिहास से दो प्रमाण दे देना उचित होगा।

मौर्य-काल में समाज कितना प्रगतिशील था और जनता में कितनी सुख-समृद्धि थी! उस काल में मानव-समाज में विशुद्ध कला की पूजा की जाती थी। परन्तु मुग़ल काल में जब कला को राजाओं तथा नवाबों के राज-प्रासादों में परिमित कर—जनता के बीच से उसे पृथक् कर—उनके मनोरंजन तथा विलासिता का साधन बना दिया गया तब हिन्दू-कला के पतन के साथ भारतीय जीवन और चरित्र का भी पतन हो गया। यही कारण है कि हम मौर्य्य-कालीन चित्रकला में भक्ति-भावना की झलक पाते हैं—उसमें जीवन के बंधन से मुक्ति पाने की साधना का स्पष्ट आभास मिलता है। परन्तु मुग़ल काल की कला में हम कामुकता, निम्न-कोटि के शृंगार और विलासिता की छाया पाते हैं। कारण स्पष्ट है कि मौर्य्य-काल में कला जन-समाज में एकता स्थापित करने के लिए थी, परन्तु मुग़ल-शासन में वह अपने इस उच्च ध्येय से भ्रष्ट कर दी गयी और एक वर्ग-विशेष के मनोरंजन की साधन बन गयी।

कला का लक्ष्य मानवता को मुक्ति की ओर ले जाना है। वह मानव-जीवन को श्रेष्ठ बनाने का काम करती है। वह समाज में एकता

की प्रतिष्ठा के लिए एक सर्वोत्कृष्ट साधन है।

वर्तमान काल में हम जो विश्व-संस्कृति तथा समाज-एकता के विनाश का भयानक दृश्य देख रहे हैं उसका कारण है सच्ची कला की उपासना की उपेक्षा। वैज्ञानिकों ने बड़े चिंतन तथा परिश्रम के बाद जिन नवीन-नवीन आविष्कारों तथा वैज्ञानिक चमत्कारों का आविर्भाव मानव-कल्याण के लिए किया था, उनका प्रयोग आज मानवता के विनाश के लिए हो रहा है !

कला और विज्ञान इन दोनों का मानव-जीवन के उत्कर्ष में महान् स्थान है। जिस प्रकार मनुष्य-शरीर में मस्तिष्क और हृदय का स्थान है, उसी प्रकार मानव-जीवन में विज्ञान और कला का स्थान भी है। विज्ञान मानव-मस्तिष्क की उपज है और कला का संबंध हृदय से है। विज्ञान विचार-प्रधान है—वह सत्य की जाँच करता है और कला भावना-जगत में उस सत्य की प्रतिष्ठा करती है। एक का विकास तथा उत्कर्ष दूसरे पर निर्भर है। एक की अशुद्धि का प्रभाव दूसरे पर अनिवार्य है। यदि हृदय किसी तरह विकारपूर्ण हो जाये तो उसका प्रभाव मस्तिष्क पर पड़े बिना न रहेगा और फलतः सम्पूर्ण शरीर उस विकारपूर्ण हृदय से प्रभावित हो जायेगा। इसी प्रकार यदि मानव-जीवन में कला अपने उद्देश्य या लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाये तो विज्ञान भी उससे प्रभावित हुए बिना न रहेगा।

आज संसार में जो भीषण ताण्डव हो रहा है और जिसके फलस्वरूप मानवता का संहार हो रहा है, उसका मूल कारण यही है कि पाश्चात्य देशों ने कला को भ्रष्ट कर उसे अपने विलास का साधनमात्र बना लिया है। इसी कारण आज वहाँ कला और विज्ञान दोनों में कोई संबंध नहीं रहा है। कला-शून्य जीवन में विज्ञान आज कल्याण के स्थान पर सर्वनाश की वर्षा कर रहा है।

अतः सारांश यह है कि नागरिक-जीवन में कला—विशुद्ध कला को फिर से उसी उच्चासन पर बिठाया जाये जिससे वह मानव-समाज में एकता की स्थापना कर सके।

संस्कृति

संस्कृति क्या है ?

'संस्कृति' शब्द संस्कृत से बना है। संस्कृत का अर्थ है शुद्ध किया हुआ, परिमार्जित, परिष्कृत, सँवारा हुआ। संस्कृत विशेषण है और संस्कृति संज्ञा है। अतः संस्कृति का अर्थ हुआ शुद्धि, परिमार्जन तथा परिष्कार। मानव-समाज के सामाजिक जीवन को परिष्कृत, शुद्ध और पवित्र बनानेवाली जो एक प्रवृत्ति है, उसी का नाम संस्कृति है। प्रसिद्ध अंग्रेज विचारक सर मॉरिस ग्वायर ने अपने एक भाषण में संस्कृति के संबंध में जो विचार प्रकट किये हैं उनसे इसका अर्थ और भी स्पष्ट हो जायेगा।

"मैं यह कहना चाहूँगा कि सच्ची संस्कृति का मुख्य निर्देशक सहानुभूति है, दिखावा अथवा उसका दावा नहीं। पांडित्य का भांडार, कला का ज्ञान तथा मनुष्यों व पुस्तकों से परिचय 'संस्कृति' बनाते हैं, ऐसा मैं नहीं समझता, पर संस्कृति जिससे बनती है वह वह वृत्ति है जो इन सबके मिल जाने से उत्पन्न होती है। सच्ची संस्कृतिवाले मनुष्य में मूल्य आँकने और ठीक-ठीक नापतौल की योग्यता मिलती है। और ऐसे मनुष्य के हृदय में कभी ऐसा विचार आ ही नहीं सकता कि वह वह नहीं है जो दूसरे मनुष्य हैं, या जो मानवता सबमें व्याप्त है उसे भूल जाये।"

संस्कृति के सम्बन्ध में योग्य विद्वान् ने जो अपना मन्तव्य प्रकाशित किया है, उससे शायद ही किसी सच्चे सुसंस्कृत व्यक्ति का मतभेद हो। वास्तव में संस्कृति का प्रयोजन मानव-समाज की एकता ही है। एक संस्कृत पुरुष के लिए सब मानव समान हैं। वह न जाति के भेद-भाव को मानता है और न धर्म के भेद को। संस्कृति मानव-एकता का अनुभव कराती है। वह मनुष्य को यह सिखाती है कि सब मानव बराबर हैं; कोई मानव किसी दूसरे से भिन्न नहीं।

आर्य-संस्कृति के आदर्श

मानव-शरीर के तीन मुख्य भाग हैं—सिर, हृदय और धड़। मस्तिष्क के भी तीन महत्त्वपूर्ण कार्य हैं—अनुभूति, भाव और इच्छा।

इसी प्रकार संस्कृति के भी, जिसका मानव-जीवन के विकास और मानसिक उत्कर्ष से सम्बन्ध है, तीन अंग हैं। उसका दर्शन और विज्ञान, उसका धर्म और कला और उसका कर्मकाण्ड। इस तरह संस्कृति में ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों का समन्वय है।

आर्य-संस्कृति के दार्शनिक पहलू पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका सबसे प्रधान लक्ष्य लोकसंग्रह—मानव-मात्र का कल्याण है। उसकी दृष्टि में केवल मानव ही नहीं सभी प्राणी समान हैं। वह जाति, रंग तथा मत के भेदभाव को नहीं मानती।

आर्य-संस्कृति का आदर्श यह है कि मानव विश्व में धर्म, अर्थ और काम की साधना द्वारा अभ्युदय को प्राप्त करता हुआ निःश्रेयस की सिद्धि के लिए पुरुषार्थ करे। यह तो निर्विवाद है कि आर्य-संस्कृति आध्यात्मिक है; उसमें आत्मोत्कर्ष को सबसे बड़ा स्थान प्राप्त है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह भौतिक उन्नति का विरोध करती है।

आर्य-संस्कृति के अनुसार मानव का यह धर्म है कि वह धर्मद्वारा अर्थ की प्राप्ति करे—वह अपनी जीविका धर्म-युक्त कार्यों से ही कमाये। उसे इसके लिए अधर्म का आश्रय न लेना चाहिए। यह है आर्य-संस्कृति का दर्शन-शास्त्र।

आर्य-संस्कृति का भक्ति-पक्ष सरस्वती, लक्ष्मी और दुर्गा का सामंजस्यपूर्ण समन्वय है। सरस्वती का अर्थ है विद्या, ज्ञान-विज्ञान; लक्ष्मी का अर्थ है, धन-सम्पत्ति और दुर्गा का अर्थ है शक्ति। मानव को अपने जीवन में इन तीनों की आवश्यकता है। वह पहले सरस्वती की पूजा करे अर्थात् ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करे, उससे वह लक्ष्मी की पूजा करनें में समर्थ होगा। वह ज्ञान-विज्ञान द्वारा उद्योग-धन्धों में उन्नति करके धन पैदा कर सकेगा और इस तरह अन्त में उसे शक्ति प्राप्त होगी। यह शक्ति केवल पाशविक ही नहीं होगी, क्योंकि उसके मूल में ज्ञान-विज्ञान की प्रेरणा होगी। वह शक्ति केवल 'आर्थिक' नहीं होगी क्योंकि उसमें आध्यात्मिकता का अंश भी होगा।

आर्य-संस्कृति का तीसरा पक्ष है—कर्मकांड। ज्ञान और भक्ति के बाद

कर्म आता है। आर्य-संस्कृति का सारा कर्मकांड पतंजलि के योगदर्शन के एक सूत्र में निहित है। यह सूत्र है—यम-नियम का। अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच 'यम' हैं और शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरभक्ति ये पाँच 'नियम' हैं। जो संसार में सुखी जीवन विताना चाहता है और उसके बाद पारलौकिक शान्ति की इच्छा करता है, उसे इन दस नियमों के अनुसार आचरण करना चाहिए।

संक्षेप में यही आर्य-संस्कृति का मौलिक स्वरूप है। आज के हिन्दू-समाज में, यद्यपि हम इन आदर्शों की पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं पाते, तथापि यह तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि आज भी हिन्दू-जीवन न आदर्शों के अनुसार आचरण करना अपना धर्म मानता है।

आर्य-संस्कृति की प्रवृत्तियाँ

आर्य-संस्कृति का अनुशीलन करने पर आर्य-जीवन की कई विशेषताएँ व्यक्त होती हैं।

आर्य-संस्कृति की प्रथम और महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति यह है कि वह पारलौकिक आनन्द, शान्ति या मुक्ति को जीवन का अन्तिम लक्ष्य मानकर मानव को भोगवाद से पद-पद पर सतर्क रखने की चेष्टा करती है। यह शरीर तथा जड़ जगत नाशवान् है; इसलिए प्रत्येक मनुष्य को आत्मा को— जो अजर है, अमर है, अजन्मा है तथा अनादि है—इस भोगवाद से पतित हो जाने से बचाना चाहिए। इसीलिए हिन्दू-जीवन में तपस्या, व्रत, दान, दक्षिणा आदि का विशेष महत्त्व है।

आर्य-संस्कृति में व्यक्ति का उच्च स्थान है, परन्तु वह समाज से ऊँचा नहीं है। वर्ण-व्यवस्था से वदिक समाजवादी प्रवृत्ति का पूरा निर्देश मिलता है। समाज के हित के लिए मनुष्य को अपने हित का वलिदान करने की शिक्षा आर्य-संस्कृति का प्रमुख अंग है।

आर्य-संस्कृति अपनी समाजवादी प्रवृत्ति के कारण ही त्याग पर अधिक जोर देती है। वह भोगवाद को आत्मिक तथा आध्यात्मिक अभ्युदय में वाधक मानती है।

आर्य-संस्कृति में धर्म ओतप्रोत है। वह समाजनीति, अर्थनीति, और राजनीति सभी में विद्यमान है। वह वास्तव में जीवन की एक मूल प्रेरक शक्ति है।

आर्य-संस्कृति में हम सामंजस्य की भावना पाते हैं। हम चाहे भाषा को लें, चाहे साहित्य को, चाहे कला को, चाहे सामाजिक जीवन को— सभी क्षेत्रों में सहयोग की भावना मिलेगी। संघर्ष और वर्गवाद के लिए आर्य-संस्कृति में कोई स्थान नहीं है।

अरबी और मुस्लिम संस्कृति

भारत में अरबी संस्कृति का प्रवेश मुसलमानों के आगमन से हुआ। अरबी संस्कृति धार्मिक, सैनिकवादी और राजनीतिक है। वह एकेश्वरवादी और मूर्ति-पूजा-विरोधी है। अरबी सभ्यता में प्रचार की भावना ओत-प्रोत है। अरबी संस्कृति की सबसे प्रमुख विशेषता है धार्मिक प्रवृत्ति। हिन्दू संस्कृति के समान ही मुस्लिम संस्कृति में धर्म और ईश्वर की भावना ओतप्रोत है। मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर धर्म का प्रभाव है। इस्लाम के क़ानूनों का आधार भी क़ुरान ही है जो मनुष्य-कृत नहीं है। मुसलमानों की जीवनचर्या भी इस प्रकार निर्धारित की गयी है कि वे ईश्वर और धर्म को विस्मृत नहीं कर सकते। दिन में पाँच बार नमाज़ पढ़ना तथा शुक्रवार को मसजिद में सम्मिलित रूप से नमाज़ पढ़ना उनकी धार्मिकता का एक प्रमाण है।

मुस्लिम संस्कृति में वीर-पूजा को ऊँचा स्थान प्राप्त है। वीर-पूजा का अर्थ इस हद तक लगाया गया है कि जो काफ़िरों के साथ धर्म-युद्ध में अपना बलिदान करदे तो वह सीधा स्वर्ग को जाता है।

मुस्लिम संस्कृति में दानशीलता भी एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। मुसलमान दान-दक्षिणा देना तथा इस्लाम की उन्नति के लिए मसजिद बनवाना तथा धर्म-प्रचार के लिए दान देना अपना कर्तव्य समझते हैं।

मुस्लिम संस्कृति में स्त्री की पवित्रता तथा उसके सतीत्व की रक्षा के लिए भी विशेष व्यवस्था है। मुसलमान अपनी स्त्रियों को कड़े

परदे में रखते हैं और मुस्लिम क़ानून में भी ऐसी व्यवस्था की गयी है कि मुस्लिम स्त्री विधर्मी के साथ विवाह नहीं कर सकती। मुस्लिम पुरुष तो ईसाई, पारसी या यहूदी के साथ शादी कर सकता है।

मुस्लिम संस्कृति में मानवीय एकता तथा समानता पर अधिक जोर दिया गया है। सब मनुष्य परमात्मा की दृष्टि में समान हैं। मनुष्य को मनुष्य के साथ समान व्यवहार करना चाहिए।

मुस्लिम संस्कृति में परिवर्तन

हमने अरबी संस्कृति की जो विशेषताएँ ऊपर बतलायी हैं, वे आदिम अवस्था की विशेषताएँ हैं। जब मुसलमान अपने अरब देश को छोड़ कर विदेशों में इस्लाम के विस्तार के लिए गये तब उनकी संस्कृति पर तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा और उसमें परिवर्तन होने लगे।

मुस्लिम संस्कृति में जो परिवर्तन हो गया, उसका वर्णन श्री हरिभाऊ उपाध्याय ने इस प्रकार किया है—

"मुसलमान को यह सिखाया जाता है कि 'हमारा ही मजहब दुनिया में सबसे अच्छा है; यही एक ईश्वर तक पहुँचने का सबसे बेहतर रास्ता है। जो खुदा को नहीं मानता वह काफ़िर है, काफ़िर खुदा का मुन्किर—ईश्वर-विमुख—है; इसलिए वह मार डालने के लायक है। जो एक भी काफ़िर को दीनें इस्लाम में लाता है, वह खुदा की मेहर हासिल करता है—जिस तरह हो सके इस्लाम को बढ़ाओ।' इसी उपदेश में मुस्लिम संस्कृति और मुसलमानों के स्वभाव में पायी जानेवाली अमर्याद हिंसा-वृत्ति, असहिष्णुता···का बीज है। मुसलमानों का यह उग्र हिंसक स्वभाव चाहे तत्कालीन अरब की परिस्थिति के कारण बना हो, चाहे पैगम्बर साहब के कुछ उपदेशों का दुरुपयोग करने के कारण बना हो—आज के सभ्य जगत् में वह आक्षेपयोग्य एवं अक्षम्य है।"[1]

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि आधुनिक मुस्लिम संस्कृति में

---

१. श्री हरिभाऊ उपाध्याय : 'स्वामीजी का बलिदान और हमारा कर्त्तव्य', पृ० ८४

असहिष्णुता की अधिकता है। यह धर्मों की मौलिक एकता में विश्वास नहीं करती। इसीलिए वह दूसरे धर्मों के प्रति सहिष्णु नहीं है। यही कारण है कि भारत में धर्म की आड़ में साम्प्रदायिक संघर्ष दैनिक जीवन का अंग बन गये हैं।

सच तो यह है कि भारत के मुसलमानों का दृष्टिकोण इस्लामी रंग में इतना अधिक रँगा हुआ है कि वह आज न स्वधर्मानुयायी अन्य देशों की स्थिति को समझने या अवलोकन करनें का कष्ट करता है और न संसार की परिस्थिति तथा परिवर्तन को समझने का प्रयास ही।

आज मिश्र तथा टर्की जैसे स्वाधीन मुस्लिम राष्ट्रों में मुस्लिम संस्कृति में कितना कायापलट हो गया है ! परन्तु भारत के मुसलमान नेता इसपर विचार करने का कष्ट नहीं करते। आज तुर्की में प्रजातंत्र शासन-प्रणाली है। और वहाँ शासन का आधार शरियत नहीं है जिसका मुख्य स्रोत कुरान है। टर्की के मौलिक विधान में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख है कि—

"सरकार बिना किसी शर्त या बाधा के राष्ट्र की है। राज्य की शासन-प्रणाली इस आधार पर स्थित है कि जनता कार्य-कुशलता के साथ शासन करती है।[1]

सोवियट रूस के १२ से अधिक राज्यों में जिनमें मुसलमानों की संख्या अधिक है, मुस्लिम-क़ानून में जो कायापलट हो गया है वह अच्छी तरह देखा जा सकता है। यहाँ तक कि सोवियट संघ और टर्की के वक्फ की सम्पत्ति को राज्य-प्रबन्ध तथा सामाजिक सुधार के कार्यों में व्यय किया जाता है। आज इन दोनों में शिक्षा क़ुरान के अनुसार नहीं दी जाती और न केवल मक़तब ही शिक्षा के केन्द्र हैं। आज उनमें पाश्चात्य ढंग से शिक्षा की व्यवस्था है। तुर्की में तो सहशिक्षा—लड़के-लड़कियों को साथ-साथ एक ही स्कूल में पढ़ने की भी सुविधा है। तुर्की में परदा-प्रथा का सर्वथा त्याग कर दिया गया है। नमाज भी पाँच बार नहीं पढ़ी जाती। टर्की संसार के मुस्लिम राष्ट्रों में पहला है जिसने बहुविवाह

१. 'टर्किश लॉ ऑव फंडामेंण्टल ऑर्गनिज़ेशन' : नं० ८५ (१)

की प्रथा को उठा दिया है। आज वहाँ मुस्लिम केवल एक ही पत्नी से शादी कर सकता है। अब वह एक साथ चार पत्नियाँ नहीं रख सकता।[1]

आर्य-संस्कृति पर मुस्लिम संस्कृति का प्रभाव

जब एक जाति दूसरी जाति के सम्पर्क में आती है तो स्वाभाविक रूप से उन दोनों में संस्कृतियों का आदान-प्रदान होता है। भारत में कई सदियों तक मुसलमानों का शासन रहा। उस समय भारत का राजधर्म इस्लाम होने के कारण उसका हिन्दू-संस्कृति पर भी बहुत प्रभाव पड़ा।

हिन्दुओं में जो कट्टरपंथी थे उन्होंने इस्लाम के प्रभाव से अपनी रक्षा करने के लिए सामाजिक बन्धनों को और भी कड़ा बनाने का उद्योग किया और जातपाँत के नियमों का बड़ी कठोरता के साथ पालन किया जाने लगा।

वे मुसलमानों को म्लेच्छ कहते थे और उनके सम्पर्क तथा संसर्ग से बचने के लिए बड़े सतर्क रहते थे। अपनी पवित्रता की रक्षा के लिए ही सामाजिक बहिष्कार की प्रथा शुरू हुई है।

इस्लाम के सम्पर्क में आने का प्रभाव यह हुआ कि हिन्दू समाज में जातपाँत की कुप्रथा ने अधिक भयंकर रूप धारण कर लिया और अस्पृश्यता का भी पालन बड़ी सतर्कता से किया जाने लगा। मुसलमानों से छूतछात की जाने लगी और जो लोग मुसलमानों के सम्पर्क में रहनें लगे उनसे भी कट्टरपंथी छूतछात करने लगे। इस प्रकार वे हिन्दू-समाज के लिए 'अस्पृश्य' बन गये।

हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था पर भी मुस्लिम संस्कृति का प्रभाव पड़ा। हिन्दू-समाज में ऐसे अनेक सुधारक और धार्मिक नेता तथा महात्मा पैदा हुए हैं जिनके उपदेशों में इस्लाम के उपदेशों की झलक स्पष्ट ही दीख पड़ती है। रामानन्द, कबीर, नानक, चैतन्य, वल्लभाचार्य आदि ऐसे कितने ही सन्त पैदा हुए जिन्होंनें जाति-प्रथा के विरुद्ध प्रबल प्रचार किया और हिन्दू-समाज में समता के आदर्श की प्रतिष्ठा के लिए उपदेश दिये।

---

१. हेनरी ई० एलेन : 'इस्लाम एण्ड सम मॉडर्न प्रॉब्लेम्स इन टर्की' ('हिन्दुस्तान रिव्यू', जुलाई १९३४)

भारत में मुस्लिम संस्कृति के प्रभाव से हिन्दुओं में परदा-प्रथा का विकास हुआ। मुसलमानों से अपनी मा-बहनों की रक्षा करने के लिए उन्हें परदे में रखा जाने लगा। इस तरह परदा हिन्दू-समाज का एक रिवाज बन गया।

मुसलमानों के आगमन से पहले हिन्दुओं की पोशाक वैसी थी जैसी हम राजपूत-काल के चित्रों में देखते हैं: वे सिर पर पगड़ी बाँधते थे और देह पर एक बड़ा लम्बा चोगा-सा पहनते थे जो घुटनों से भी नीचे तक होता था। धोती तो बहुत ही पुरानी पोशाक है।

मुसलमानों का अनुकरण करके हिन्दू भी कुर्ता, पायजामा, अचकन शेरवानी आदि पहनने लगे। स्त्रियों के आभूषणों में भी नये-नये नकशों का अनुकरण किया गया।

मुसलमान बादशाह तथा नवाब अपनी विलासिता के लिए बदनाम थे। मुग़ल-दरबार व्यभिचार और पाप-लीला का केन्द्र बन गया था ऐसी दशा में हिन्दू महिलाओं का सतीत्व संकट में था। नवयुवतियों और कुमारियों का अपहरण और उनके साथ बलात्कार सामान्य घटना थी। इसी कारण हिन्दुओं में बाल-विवाह तथा अनमेल विवाह का रिवाज चल पड़ा।

हिन्दुओं के नैतिक जीवन पर भी मुस्लिम संस्कृति का बड़ा प्रभाव पड़ा। समाज में मदिरा-पान और विलासिता अधिक बढ़ गयी। अज्ञान तथा धर्म के वास्तविक स्वरूप को भूल जाने के कारण सैकड़ों प्रकार के अन्ध-विश्वासों ने यहाँ अपनी जड़ जमा ली। अबतक तो हिन्दू देवी-देवतों की ही पूजा होती थी। परन्तु अब अज्ञानी हिन्दू स्त्री-पुरुष मुसलमान फक़ीरों, मुल्लाओं और मौलवियों से तावीज, गण्डे और दवा लाने लग गये। यह अन्ध-विश्वास यहाँ तक बढ़ा कि मुसलमानों के पीर, मदार, सैयद और क़ब्रों के पत्थरों तक की पूजा होने लगी।

मुसलमानों के शासन-काल में अरबी और फ़ारसी को राजभाषा का पद मिला। भारत के उत्तरी प्रान्तों में मुसलमानों का शासन अधिक काल तक रहा। आगरा, देहली तथा लखनऊ मुग़लकाल में राजधानी रह चुके हैं। फलत: भारत के उत्तर में संस्कृत भाषा का प्रचार

कम हो गया और उसके दक्षिणी प्रान्तों में उसका प्रचार वढ़ गया। हिन्दू जनता में हिन्दी भाषा का प्रचार वढ़ने लगा। इस काल में जो साधु-सन्त पैदा हुए, उन्होंनें अपनी पुस्तकें हिन्दी भाषा में लिखीं। फारसी और अरवी भाषा का प्रयोग करनेंवाले मुसलमान जव हिन्दुओं के सम्पर्क में आते थे तो उन्हें अपनी भाषा में संस्कृत, हिन्दी तथा वोलचाल के सरल शब्दों का प्रयोग करना पड़ता था जिससे वह हिन्दुओं के लिए वोधगम्य हो सके। यही भाषा धीरे-धीरे विकसित होकर 'उर्दू' हो गयी।

भारतीय वास्तु-कला, संगीत, काव्य, साहित्य तथा भाषा पर भी मुसलमानों की संस्कृति का प्रभाव पड़ा, परन्तु इन क्षेत्रों में मुस्लिम संस्कृति का जो प्रभाव पड़ा वह ऐसा नहीं था कि जिससे आर्य्य-संस्कृति के आदर्शों पर कोई आघात पहुँचा हो।

मुस्लिम संस्कृति पर आर्य संस्कृति का प्रभाव

केवल आर्य संस्कृति पर ही मुस्लिम संस्कृति का प्रभाव नहीं पड़ा वल्कि मुस्लिम-संस्कृति भी आर्य-संस्कृति से प्रभावित हुई। भारतीय वेदान्त और एकेश्वरवाद का अनेक मुस्लिम सन्तों तथा दार्शनिकों पर गहरा प्रभाव पड़ा और इस प्रकार प्रभावित होकर उन्होंने मुसलमानों में कई ऐसे मतों की स्थापना की जो शान्ति और मानवता एवं सहिष्णुता में विश्वास करते हैं।

मुग़ल सम्राट अकवर के नवरत्नों में शेख अवुलफ़ज़ल प्रसिद्ध धार्मिक विद्वान् और इतिहासकार हुआ है। उसने एक फारसी इतिहास-ग्रंथ 'आईने अकवरी' लिखा है। शेख अवुलफजल यद्यपि सूफ़ीमत का अनुयायी था, परन्तु उसपर वेदान्त और गीता का वड़ा प्रभाव पड़ा था। उसने लिखा है—

"मुझपर यह वात रौशन हो गयी है कि आमतौर पर लोगों का यह कहना कि हिन्दू लोग उस अद्वितीय परमेश्वर के साथ औरों को भी शरीक करते हैं, सत्य के अनुकूल नहीं। यद्यपि किसी-किसी वात की व्याख्या और उसकी युक्तियों के सम्वन्ध में मतभेद हो सकता है, तथापि

हिन्दुओं की ईश्वरभक्ति और उनका एकेश्वरवाद दोनों मेरे हृदय में निर्विवाद जम गये हैं। तब मेरे लिए यह आवश्यक हो गया है कि मैं इन लोगों की अध्यात्मविद्या, उनके दर्शनशास्त्र, आत्म-संयम की उत्तरोत्तर अवस्थाएँ और उनसे अनेक रस्मोरिवाज पर खुला प्रकाश डालूं ताकि उनके विरुद्ध द्वेष के भाव कम हों और सांसारिक लोगों की तलवारें खून बहाने से रुकें, भीतरी और बाहरी झगडे शान्त हो जायें और विरोध और शत्रुता के कंटकों की जगह परस्पर मित्रता का हरा-भरा उद्यान दिखायी देने लगे ताकि सच्चे शास्त्रार्थ और धर्म-चर्चा के लिए जलसे हो सकें और ज्ञान-विज्ञान की खोज के लिए सभाएँ की जा सकें।"[१]

शेख अबुलफ़ज़ल सच्चा अद्वैतवादी था और सर्वधर्मसमन्वय अथवा सब धर्मों की मौलिक एकता में उसका पूर्ण विश्वास था। वह अहिंसा का उपासक था। 'आईने अकबरी' में उसने लिखा है—

"तरह-तरह के भोजन मनुष्य के लिए मौजूद हैं, केवल अज्ञान और क्रूरता के कारण मनुष्य पशुओं को कष्ट देने पर तुले हुए हैं और उनको मारकर खा जाने से अपने हाथों को नहीं रोकते। मालूम होता है अहिंसा के सौन्दर्य को किसी की भी आँख नहीं देख पाती। सबने अपने को पशु के लिए कब्रिस्तान बना रखा है!"[२]

कहने का आशय यह है कि हिन्दू-संस्कृति का मुसलमानों के रहन-सहन, विचार-प्रणाली, भाषा, साहित्य, कला आदि सभी पर प्रभाव पड़ा है।

भारतीय संस्कृति पर पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव

जब एक जाति दूसरी जाति को पराजित करके उसकी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का अपहरण करती है तो वह अपनी विजय को दृढ़ और स्थायी बनाने के लिए पराजित जाति की संस्कृति, धर्म, साहित्य,

---

१. पं० सुन्दरलाल : 'अबुलफजल और सम्प्रदायवाद' : 'सरस्वती', जनवरी १९३५.

२. उपर्युक्त

भाषा और मनोवृत्ति पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने की चेष्टा करती है। नैतिक विजय के अभाव में राष्ट्रीय विजय का स्थायी होना असम्भव है। विदेशी शासन से बढ़कर जातीय चरित्र को भ्रष्ट करनेवाली और कोई भी वस्तु संसार में नहीं है। गुलामी जातीय चरित्र के पतन का कार्य और कारण दोनों ही है। नैतिक पतन के कारण जातियाँ गुलाम बनती हैं और गुलामी के कारण उनका नैतिक पतन होता है।

अंग्रेज़ी ईस्ट इण्डिया कंपनी ने जब भारतवर्ष की स्वतन्त्रता छीनी तो उसे भी अपनी राष्ट्रीय विजय को स्थायी बनाने के लिए भारतवर्ष पर नैतिक विजय प्राप्त करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। अंग्रेजों को यह अनुभव हुआ कि जबतक हम भारत के सामाजिक जीवन का सर्वनाश न कर देंगे तबतक भारत सदैव के लिए हमारी गुलामी में न आ सकेगा। इसलिए भारत की नैतिक विजय प्राप्त करनें के लिए अंग्रेजी शासकों ने भारतीय सामाजिक जीवन और नैतिक जीवन पर अपना नियंत्रण रखना शुरू किया।

कम्पनी ने भारतीय बच्चों की शिक्षा के लिए कई स्कूल और कालेज खोले जिनमें भारतीय भाषा और साहित्य के साथ अंग्रेज़ी भाषा और साहित्य की शिक्षा दी जाने लगी। इन नवीन शिक्षा-संस्थाओं में ब्राह्मण 'आचार्य' का स्थान अंग्रेज 'प्रिंसिपल' ने लिया। भारत की प्राचीन वैदिक शिक्षा-पद्धति का उच्छेद किया गया और उसके स्थान में पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली की स्थापना की गयी जिसका उद्देश्य भारतीयों में ऐसी मनोवृत्ति पैदा करना था जिससे वे अपने को अंग्रेजों से धर्म, इतिहास, दर्शन, ज्ञान-विज्ञान, सभ्यता तथा संस्कृति में हीन समझते रहें और उनमें राष्ट्रीय एकता की भावना पैदा न हो सके। कंपनी के शासकों को ऐसे छोटे कर्मचारियों की भी आवश्यकता थी जो अंग्रेज़ी भाषा का ज्ञान रखते हों। इन दो उद्देश्यों से भारत में अंग्रेज़ी साहित्य, भाषा और विचारधारा का प्रचार किया गया।

इसके अतिरिक्त जब भारत में 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' का शासन प्रबन्ध था, उसे भारत में अंग्रेजी राज्य को स्थायी बनानें तथा शासन-

प्रवन्ध की सुविधा के लिए ऐसे भारतीयों की आवश्यकता पड़ी जो छोटी-छोटी सरकारी नौकरियों पर नियुक्त किये जा सकें। यह युक्ति सोची गयी कि कम वेतन पर भारतीयों को छोटी-छोटी नौकरियाँ दी जायें। इससे उनमें रिश्वतखोरी वढ़ेगी तथा उनका चारित्रिक पतन भी होगा। वे इसके लिए अपने देशवासियों को ही दोष देंगे।[१]

जो अंग्रेज भारतवासियों को नौकरियाँ देने का समर्थन करते थे उनके दो पक्ष थे। एक पक्ष का कहना था कि भारतवासियों को केवल प्राचीन भारतीय साहित्य, भारतीय विज्ञान और संस्कृत, फारसी, अरवी तथा देशी भाषाएँ पढ़ानी चाहिएँ; उन्हें पश्चिमी विचारों की हवा भी न लगने देनी चाहिए, क्योंकि भारतवासियों को जब यूरोप के इतिहास का ज्ञान होता है और वे पश्चिम के राष्ट्रीय विचारों के सम्पर्क में आते हैं, तो मुट्ठीभर विदेशियों के द्वारा उन्हें अपने देश का शासित होना अखरने लगता है और वे स्वभावतः अपनी मातृभूमि के मस्तक से गुलामी के कलंक को मिटा देने की वात सोचने लगते हैं।

दूसरे पक्ष का यह विचार था कि भारतवासियों के चरित्र को जवतक यूरोपियन साँचे में न ढाला जायेगा, तवतक हमारे चरित्र के प्रति उनके मन में श्रद्धा और सम्मान का भाव नहीं उत्पन्न हो सकता, जो हमारे शासन के स्थायित्व के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अन्यथा वे हमको काफ़िर, म्लेच्छ और विदेशी समझते रहेंगे, और जब अवसर पायेंगे तब हमें अपने देश से वाहर भगाने की चेष्टा करेंगे। इसके विपरीत यदि उन्हें अंग्रेजी भाषा, अंग्रेजी साहित्य, अंग्रेजी विज्ञान और अंग्रेजी सभ्यता

१. "If we are to have corruption, it is better that it should be among the natives than among ourselves, because the natives will throw the blame of the evil upon their countrymen; they will still retain high opinion of our superior integrity; and our character, which is one of the strongest supports of our power, will be maintained."
—Sir Thomas Munro, Governor of Madras

की शिक्षा दी जाये, तो वे वड़ी प्रसन्नतापूर्वक हमारे पूर्वजों के गुणों का अध्ययन करेंगे, उनके चरित्र से शिक्षा ग्रहण करेंगे और उनके अनुसार अपने को वनाने की चेष्टा करेंगे। ऐसी अवस्था में वे अपना विरोध करने के वदले, हमारी आज्ञा का पालन करने में अपना गौरव समझेंगे तथा हमारी संस्कृति का अनुकरण करके हमारे राज को अपना अहोभाग्य मानेंगे। इस नीति का स्पष्टीकरण लॉर्ड मैकॉले के सन् १८३५ के मिनिट से हो जाता है जिसमें लिखा है—

"हमें भारत में ऐसे मनुष्यों की एक श्रेणी पैदा कर देने का शक्तिभर प्रयत्न करना चाहिएं जो हमारे और उन करोड़ों भारतवासियों के वीच, जिनपर हम शासन करते हैं, दुभापिये का काम करें। इन लोगों को ऐसा होना चाहिए कि ये केवल रंग और रक्त की दृष्टि से भारतीय हों, किन्तु रुचि, विचार, भाषा और वुद्धि की दृष्टि से अंग्रेज।"

इससे सिद्ध होता ह कि भारत पर पाश्चात्य संस्कृति, भाषा, साहित्य, सभ्यता, रीति-रिवाज, रहन-सहन की प्रणाली आदि लादने के लिए किस प्रकार संगठित रूप से भयंकर आयोजन किया गया। और हम देख रहे हैं कि हिन्दुस्तानियों में आज हाथ मिलाना, विदेशी भाषा में ही वोलने को गौरव की वात समझना, टी-पार्टी, एट-होम, डिनर, डान्स आदि आमोद-प्रमोद मनाना, डवलरोटी, विस्कुट चाय, केक, विदेशी शराव आदि पीना, स्त्री-पुरुषों की वेशभूषा में अंग्रेज जाति का अनुकरण करना, सिविल मैरिज और डाइवोर्स (तलाक़) का आश्रय लेना आदि अच्छी-वुरी प्रथाएं आ गयी हैं और भारतीय संस्कृति को मिटाती जा रही हैं।

इस प्रकार भारत की संस्कृति, सभ्यता, भाषा, साहित्य, विचारधारा, आदर्शों पर ही यूरोपीय सभ्यता का प्रभाव नहीं पड़ा प्रत्युत यहाँ के आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक आदर्शों पर भी इंग्लैण्ड की सभ्यता ने अपनी छाप डाली है

: १५ :

आर्थिक जीवन

आर्थिक स्थिति

भारत आर्थिक दृष्टि से सबसे पिछड़ा देश है। यद्यपि भारत के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वह सबसे धनी देश है, तथापि यहाँ की जनता इतनी गरीब है कि करोड़ों को भर-पेट अन्न तक नहीं मिलता। सन् १९३१ में भारत की कुल जनसंख्या ३५ करोड़ थी। सन् १९२१ से ३१ तक जनसंख्या में १०% की वृद्धि होकर १९४१ में जनसंख्या लगभग ३९ करोड़ हो गयी है। भारतवासियों की जनसंख्या का ९०% भाग ग्रामों में है और उनका मुख्य व्यवसाय कृषि तथा कृषि से जुड़े हुए उद्योग हैं। भारत में इस अकेले धंधे कृषि की दशा भी अच्छी नहीं है। किसानों को उससे कोई लाभ होना तो दूर, भरपेट खाने तक को नहीं मिलता और सर एम. विश्वेश्वरैया के अनुसार औसत भारतवासी की मासिक आमदनी ६ रुपये है। निर्धन वर्ग की आय तो और भी कम है। सन् १९२९ के व्यापारिक संकट के कारण कृषि से आय और भी कम हो गयी है।

भारत में जीवन का मान-दण्ड इतना अधिक गिरा हुआ है कि उसकी किसी भी देश से तुलना नहीं की जा सकती। एक अंग्रेज लेखक के अनुसार इंग्लैंड में स्वास्थ्य-विभाग के मंत्री ने अंग्रेज बेकारों के भोजन की तालिका बनायी है जो भारत की जनता के लिए 'कौतुक' मानी जायेगी। ग्रामों में प्रति व्यक्ति की औसत आमदनी दो-तीन रुपये मासिक है। उनपर ऋण का भार इतना अधिक है कि प्रति कुटुम्ब पर २५० रुपये पड़ता है। ग्रामों की सबसे बड़ी संख्या कच्चे घास-फूस के झोपड़ों में रहती है, जो न शीत से उनकी रक्षा कर सकते हैं और न गर्मी से। न वे हवादार हैं और न उनमें प्रकाश का ही प्रवेश हो सकता है। निवास के लिए वे सर्वथा अस्वास्थ्यप्रद हैं। रात-दिन खेतों पर मेहनत

करने पर भी वे सदैव अन्न के लिए चिंतित रहते हैं। उनके शरीर पर मोटे कपड़े तक नहीं होते।

फिर, इस भयंकर गरीवी में अज्ञान का अखण्ड राज है। ९०% जनता निरक्षर है, ९.४% मनुष्यों को अक्षर-ज्ञानमात्र है और शेष व्यक्ति शिक्षित हैं।

भारत का क्षेत्रफल १८ करोड़ वर्गमील है। इसमें ४०करोड़ व्यक्ति रहते हैं जो समस्त संसार की जनसंख्या का १/५ भाग है। क्षेत्रफल के हिसाव से भारत में एक वर्गमील में औसतन् १९५ व्यक्ति रहते हैं। परन्तु कितने ही प्रान्तों में ऐसे स्थान भी हैं जहाँ इससे चार या पाँच गुनी अधिक आवादी एक वर्गमील में रहती है। यूरोप में एक वर्गमीलमें १२७ व्यक्ति और अमरीका में एक वर्गमील में ४१ व्यक्ति रहते हैं। इस दृष्टि से भारत में वड़ी घनी आवादी है। किन्तु जन्म-मृत्यु की दृष्टि से हमारा देश संसार के दूसरे देशों से हीन है। सन् १९३१ में भारत में मृत्यु-संख्या का औसत १००० में २४.५ था और जन्म-संख्या का ३३। उस समय ब्रिटेन की मृत्यु-संख्या १२.५, जर्मनी की ११ और अमरीका की ११.३ थी। भारतीय जीवन का औसत मान भी वहुत ही कम है। सन् १९३१ की मनुष्य-गणना के अनुसार भारतीय की औसत आयु २६.७ वर्ष है, जवकि इंगलैंडवासी की ५७.६, अमरीकावासी की ५६.४, जर्मन की ५९·०४, फ्रान्सीसी की ५० और जापानी की ४४·५ वर्ष है।

औद्योगिक स्थिति

भारत की कुल ३५ करोड़ की जन-संख्या में १५ करोड़ ३९ लाख अर्थात् २/५ व्यक्ति कार्य करने और जीविका कमाने लायक थे। इनमें से १५ करोड़ २० लाख उपयोगी उद्योग-धन्धों व व्यवसायों में लगे हुए थे शेष १८ लाख ४४ हजार अनुपयोगी धन्धों में। यह नीचे दी हुई तालिका से स्पष्ट हो जायेगा :

व्यवसाय	कार्य करने योग्य व्यक्तियों की संख्या
कृषि, मछली पकड़ना व शिकार—	१० करोड़, ३२ लाख, ९४ हजार ४३९

उद्योग-धन्धों और खानों में काम	—	१ करोड़, ५६ लाख, ९७ हजार, ९५३
व्यापार और यातायात	—	१ करोड़, २ लाख, ५५ हजार, ३
सरकारी नौकरियाँ और सेना	—	१८ लाख, ३६ हजार, ७५८
वकील, डाक्टर और कलाकार	—	२३ लाख, १० हजार, १४१
घरेलू नौकर	—	१ करोड़, ८ लाख, ९८ हजार, २७७
अन्य विविध पेशे	—	७७ लाख, ७८ हजार, ६४२
अनुपयोगी धन्धे	—	१८ लाख, ४४ हजार, ६४२

ब्रिटिश भारत में लगभग २८ करोड़ एकड़ भूमि पर खेती होती है। प्रत्येक व्यक्ति के हिस्से में १·०२ एकड़ भूमि आती है। इस भूमि पर हर वर्ष कृषि द्वारा २० अरब, ३२ करोड़ रुपये की पैदावार होती है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के हिस्से में ६४ रुपये की सामग्री आती है। यही संख्या अमरीका में १७५, कनाडा में २१३, जापान में ५७ और इंग्लैंड में ६२ रुपये है। कृषि की आमदनी की दृष्टि से भारत इंग्लैंड और जापान से कुछ अच्छा है, परन्तु उद्योगों में वह बहुत पिछड़ा हुआ है। अन्य औद्योगिक देशों में जनसंख्या का अधिक भाग उद्योग-धन्धों में लगा हुआ है और बहुत ही कम भाग खेती पर निर्भर है; परन्तु दूसरे देशों की अपेक्षा हमारे देश में उद्योग-धन्धों में बहुत कम लोग लगे हुए हैं। औद्योगिक पैदावार का औसत प्रति व्यक्ति अमरीका में ७२१, ब्रिटेन में ४१२, कनाडा में ४७० और जापान में १५८ रुपये है। भारत में यह औसत केवल १५ से २० रुपये है।

व्यापारिक स्थिति

भारत की व्यापारिक स्थिति भी अत्यन्त शोचनीय है। आर्थिक संकट के पूर्व, सन् १९२८-२९ के अनुसार, भारत का आयात-व्यापार २५३·३ करोड़ रुपये और निर्यात-व्यापार ३३०·१ करोड़ रुपये का था। इस प्रकार प्रति व्यक्ति पीछे से प्रति वर्ष १७ रुपये का व्यापार होता है। अन्य देशों में प्रति व्यक्ति पीछे व्यापार का अनुपात इस प्रकार है—इंग्लैंड में ५९७, अमरीका में २१४, कनाडा में ९२ और जापान

में ९० रुपये। यह दशा तो आज से ११ वर्ष पहले की है। तबसे अब तो व्यापार और भी क़म हो गया है। इस समय भारतीय व्यापार का औसत प्रति व्यक्ति ७.६ रुपये है।

राष्ट्रीय आय की दृष्टि से भी भारत दूसरे देशों में बहुत पिछड़ा हुआ है। भारत की प्रति वर्ष की औसत आय बतलाना बड़ा कठिन है; क्योंकि इसके हिसाब में कौन-कौन से विषय लेनें चाहिएँ, इस संबंध में विद्वानों में मतभेद रहा है। अलग-अलग वर्षों में उन्होंने जो अनुमान निकाले हैं उनका तुलनात्मक अध्ययन करते समय उन वर्षों में वस्तुओं के भावों को ध्यान में रखा गया होगा। इस संबंध में अभी तक जो-जो अनुमान किये गये, वे क्रमशः नीचे दिये जाते हैं :

अर्थशास्त्री	वर्ष	प्रति-व्यक्ति वार्षिक आय		
		रुपये	आना	पाई
दादाभाई नौरोजी	१८७०	२०	०	०
वेअरिंग वार्बूर	१८८२	२७	०	०
विलियम डिग्बी	१८९८	१८	९	०
विलियम डिग्बी	१९००	१७	४	०
लार्ड कर्जन	१९००	३०	४	०
अटिक्सन	१८७५	२५	०	०
	१८९५	३४	०	०
	१९११	५०	०	०
		८०	०	०
प्रो. वाडिया और श्रीजोशी	१९१३-१४	४४	५	६
श्री विश्वेश्वरैया	१९१९	४५	०	०
प्रो० शाह और श्रीखम्वाता	१९२१-२२	६७	०	०
प्रो० वी जे. काळे	१९२१	४०	०	०
श्री प्रफुल्लचन्द्र घोष	१९२५	४६	०	०
फिन्डले शिरास	१९२१	१०७	०	०
	१९२२	११६	०	०

फिन्डले शिरास	१९२६	१०८	०	०
,,	१९२९	१०९	०	०
,,	१९३०	८४	०	०
,,	१९३१	६३	०	०
,,	१९३२	५८	०	०

सर विश्वेश्वरैया का मत है कि भारत में प्रत्येक व्यक्ति की औसत वार्षिक आय ८२ रुपये माननी चाहिए।[१] अवश्य ही ये अंक जिस वर्ष फ़सल अच्छी हुई होगी उस वर्ष के हैं। वर्तमान मन्दी के युग में उसका ⅔ अर्थात् करीब ५५ रुपये औसत मानना चाहिए।[२]

इस आय की तुलना यदि दूसरे देशों के औसत व्यक्ति की आय से की जाये तो भारत की दरिद्रता का अनुमान सहज ही हो जायेगा।

देश	सन्	प्रति व्यक्ति वार्षिक आय		
		रुपये	आना	पाई
ब्रिटिश भारत	१९३७	५५	०	०
इंग्लैंड	१९३१	१०२६	०	०
आस्ट्रेलिया	१९२४	१३२३	०	०
संयुक्तराज्य अमरीका	१९३२	१२०१	८	०
फ्रान्स	१९२८	५५३	८	०
चैकोस्लोवाकिया	१९२५	४७२	८	०
डेनमार्क	१९२७	७४२	८	०

भारतवर्ष में सबसे विशाल संख्या गरीब जनता की है। धनी और लखपति तो बहुत ही थोड़े हैं। करों का सबसे अधिक बोझ गरीब जनता पर ही पड़ता है।

---

१ श्री विश्वेश्वरैया : 'प्लैण्ड इकॉनॉमी फॉर इण्डिया'

२ श्री प्रो. जठर और बेरी : 'इण्डियन इकनॉमिक्स (२), (१९३७)

भारतवर्ष में प्रति व्यक्ति पर औसत कर इस प्रकार है—

वर्ष	रुपये	आना	पाई	वर्ष	रुपये	आना	पाई
१९२२-२३	५	४	५	१९२७-२८	५	५	०
१९२५-२६	५	६	७	१९३२-३३	५	०	६

इस प्रकार ५५ रुपये वार्षिक औसत आय में से ५ रुपये अर्थात् आय का $\frac{1}{11}$ भाग करों में दे देना पड़ता है !

भारत की भयंकर गरीबी और दरिद्रता के संबंध में भूतपूर्व ब्रिटिश प्रधान मंत्री श्री रेमजे मैकडानल्ड ने लिखा है—

"......५ करोड़ तक कुटुम्ब (जिसका मतलब हुआ १५ से लेकर २५ करोड़ तक मनुष्य) साढ़े तीन आने की आय पर अपना गुजारा करते हैं।...हिन्दुस्तान की दरिद्रता केवल कल्पना नहीं बल्कि वस्तु-स्थिति है। सर्वथा-सम्पन्न-काल तक में कर्ज़रूपी चक्की का मोटा पाट किसान के गले में लटका रहता है।......ग्रामों में घूमने पर ऐसे कंकाल दिखायी पड़ते हैं जो दिन-रात के परिश्रम से चकनाचूर हो गये हैं और जो भूखे पेट मन्दिर में जाकर खिन्नवदन होकर परमेश्वर की उपासना करते हैं।"

श्री आर्यविन ने अपनी पुस्तक 'भारत का बाग' (Garden of India) में भारत के मज़दूरों की स्थिति के बारे में लिखा है—

"अनाज में से कंकर की तरह निकाले हुए अधनंगे-भूखे लोग गाँव-गाँव में सर्वत्र दिखायी पड़ते हैं। उनके पास मवेशी न होने के कारण जीविका का कोई साधन नहीं है। कुदाली से खोदी हुई जमीन के सिवा उनकी जीविका की और कोई वस्तु नहीं है। उन्हें दो सेर के भाव का बिल्कुल हलका अनाज अथवा डेढ़ या दो आने रोज की मजदूरी मिलती है और यह नगण्य मजदूरी भी पूरे वर्ष भर नहीं मिलती। क्षुधा-पीड़ित और बहुधा वस्त्र-हीन स्थिति में ये लोग सर्दी के दिनों में चोरों और पशुओं से अपनी रक्षा करके किस तरह जी सकते हैं, यह एक आश्चर्य ही है।"

भारत के आर्थिक साधन

भारत में आर्थिक साधन इतने विपुल हैं कि यदि उनका राष्ट्रीय हित के लिए ठीक अच्छी तरह उपयोग किया जाये तो वह वहुत ही थोड़े समय में पाश्चात्य देशों के वरावर समृद्ध देश वन सकता है। आश्चर्य है कि जिस भारतभूमि में जनता को सुखी और ऐश्वर्यशाली वनानें की पूरी क्षमता है, उसकी गोद में आज ४० करोड़ नर-नारी महादरिद्रता और वेकारी में अपना जीवन विता रहे हैं।

संसार में जितना जूट पैदा होता है उसका उत्पादक भारत ही है। संसार में सवसे अधिक चावल, चाय और शक्कर भारत में पैदा होती हैं। तम्वाकू, मेंगनीज़ और रुई पैदा करने में संसार में भारत का स्थान दूसरा है। तेल निकालनेवाली चीज़ें पैदा करनेवालों में भारत का स्थान तीसरा है। पेट्रोल पैदा करनेवाले देशों में १३ वाँ, लकड़ी पैदा करनेवाले देशों में १५ वाँ, कोयला पैदा करनेवाले देशों में ११ वाँ, फौलाद पैदा करनेवाले देशों में ११ वाँ, रवड़ पैदा करनेवाले देशों में ७ वाँ, सोना पैदा करनेवाले देशों में ११ वाँ और चाँदी पैदा करनेवाले देशों में उसका ९ वाँ स्थान है।

भारत में पोर्टलैंड सीमेंट वड़े ऊँचे दर्जे का वनता है, जिसकी वरावरी अंग्रेजी स्टैंडर्ड भी नहीं कर सकता। रसायनों में क्लोरिन, कास्टिक सोडा ऐश वनानें के लिए भी वड़े-वड़े कारखाने खुले हुए हैं। भारत में ताँवे की भी खानें हैं जिनमें से घरेलू वर्तन वनाने के लिए ताँवा निकलता है। विजली के वल्व वनाने के लिए भारत में पर्याप्त साधन हैं। विजली के तार भी भारत में वनाये जाते हैं। लाख भारत में वहुत पैदा होती है। नल तथा टचूविंग वनाने के लिए भी पर्याप्त साधन हैं। हाँ, शीशा भारत में पैदा नहीं होता। वह उसे ब्रह्मा से मँगाना पड़ता है। रंगों के वनाने के लिए उसे विदेशों से चीजें मँगानी पड़ती हैं।

यहाँ हम भारत की पैदावारों का संसार की पैदावारों से अनुपात दिखलाने का प्रयत्न करेंगे।

धातु या पैदावार	संसार का प्रतिशत	धातु या पैदावार	संसार का प्रतिशत
बौक्सीट	०.४	जूट	९८.७
कच्चा क्रोम	५.३	गेहूँ	६.६
कच्चा तांबा	०.५	चावल	४३.५
कच्चा लोहा	१.९	मक्का	१.६
कच्चा मेंगनीज	१७.९	जौ	५.४
कोयला	१.९	कॉफी (कहवा)	१.७
पैट्रोल	०.१	चाय	४२.०
मेगनीसाइट	०.९	शक्कर	१८.७
पोटाश	०.१	तम्बाकू	१९.६
सोना	१.०	रेप-बीज	७३.६
रबड़	१.०	बिनोला	१४.२
रुई	१२.३	मूंगफली	५०.९
ऊन	२.५	अलसी	१३.०
रेशम	०.१	सीसामम	५९.८

आर्थिक साधनों में भारत में श्रम-शक्ति भी महत्त्वपूर्ण है। अभी-तक भारत की मानव-शक्ति का भी इस दिशा में अच्छी तरह उपयोग नहीं हो सका।

भारत का आर्थिक संगठन

हमारे देश का आर्थिक संगठन अत्यन्त विषम है; वह आर्थिक समता या आर्थिक न्याय पर आधारित नहीं है। ग्रामों में समस्त भूमि के स्वामी जमींदार और किसान हैं जो किसानों से बड़ी-बड़ी रक़में लगान के रूप में वसूल करते हैं और उसका एक अंश सरकारी कोष में मालगुजारी के रूप में अदा करते हैं। ग्रामों में जमींदारों और ताल्लुकेदारों का किसानों के न केवल आर्थिक जीवन पर ही बल्कि सामाजिक और राजनीतिक जीवन पर भी पूरा नियन्त्रण है। किसानों को जमींदारों, साहूकारों और व्यापारियों की दया-दृष्टि के भरोसे रहना पड़ता है। जमींदार किसानों को

खेती के लिए भूमि देते हैं, साहूकार खेती के लिए कर्ज़ देते हैं और व्यापारी उनकी पैदावार को खरीदते हैं। प्रायः इन तीनों का गुट्ट-सा रहता है।

नगरों में बड़े-बड़े कारखाने हैं जिनके स्वामी बड़े-बड़े सेठ, पूंजीपति महाजन और बैंकर हैं। ये कारखाने कंपनियों के रूप में हैं। इनमें ग्रामों से शहरों में आये हुए बेकार मज़दूर काम करते हैं। उन्हें पूरी और पर्याप्त मज़दूरी तक नहीं मिलती। काम भी अधिक लिया जाता है। उनके स्वास्थ्य की देखभाल का कोई प्रबन्ध नहीं होता। रहन-सहन भी बड़ी अस्वास्थ्यप्रद होती है। पूंजीपति इनके परिश्रम से मालामाल होते हैं, परन्तु इनका उचित भाग तक इन्हें नहीं दिया जाता। फलतः औद्योगिक मज़दूरों में भीषण अशान्ति और असन्तोष रहता है। जगह-जगह मजदूरों के संगठन भी बन गये हैं जो अपने सुधार के लिए काम करते रहते हैं। समाजवादी और साम्यवादी नेता इनमें प्रचार तथा संगठन का कार्य करते रहते हैं।

आज-कल देश में आर्थिक समस्या के संबंध में दो प्रकार के विचार प्रचलित हैं। एक वर्ग का विचार है कि आर्थिक प्रणाली को स्वावलम्बी बनाया जाना चाहिए। देश में तैयार हो जानेवाली चीज़ों के लिए दूसरे देश पर निर्भर रहना ठीक नहीं है। वे ग्रामों में उद्योग-धन्धों तथा घरेलू व्यवसायों की उन्नति पर अधिक ज़ोर देते हैं। उनका कहना है कि खादी का प्रचार बढ़ाया जाये और सब लोग हाथ का कता-बुना कपड़ा ही पहनें। जमींदारी ज्यों की त्यों कायम रहे और वे अपनें को क़िसानों का ट्रस्टी मानें। इस विचारधारा के प्रवर्तक तथा प्रमुख समर्थक महात्मा गांधी तथा दूसरे गांधीवादी नेता हैं।

दूसरे वर्ग के लोग वे हैं जो देश के आर्थिक जीवन का निर्माण औद्योगीकरण और बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों के संगठन से करना चाहते हैं। वे जमींदारी-प्रथा और पूंजीवाद को आज के युग में अनावश्यक समझते हैं। पं० जवाहरलाल नेहरू, श्री सुभाषचन्द्र वसु, श्री मानवेन्द्रनाथ राय, आचार्य नरेन्द्रदेव आदि नेता देश में पाश्चात्य देशों-जैसा औद्योगीकरण चाहते हैं। वे ग्रह-उद्योग, खादी या ग्रामोद्योग को देश के लिए आर्थिक जीवन का स्थायी अंग नहीं मानते। उनकी राय

में ये ग्रामोद्योग केवल संक्रमण-काल के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।[१]

भारत की गरीबी के मूल कारण

भारत की भयंकर गरीबी के मूल कारणों में सबसे प्रधान राजनीतिक पराधीनता और उसके फलस्वरूप आर्थिक पराधीनता है। भारतीय जनता की आर्थिक नीति का पूर्ण नियंत्रण ब्रिटिश सरकार के हाथ में है। भारतीय जनता को उसमें हस्तक्षेप करने का कुछ भी अधिकार नहीं है। व्यापारिक संबंधों, व्यापारिक नीति, तट-कर, संरक्षण, व्यापारिक कंपनियों पर नियंत्रण, विनिमय की दर आदि सभी पर ब्रिटिश सरकार का पूरा नियंत्रण है।

दूसरा प्रमुख कारण है भारत में निरक्षरता और शिक्षा का अभाव। जनता के अशिक्षित होने के कारण उनमें ज्ञान-विज्ञान से लाभ उठानें की प्रवृत्ति का अभाव रहता है। फलतः वह उद्योग-व्यवसायों को वैज्ञानिक ढंग से उन्नत बनानें में विफल रहते हैं।

तीसरा प्रमुख कारण है भारत में कृषि की प्रधानता। कृषि-प्रधान होनें से भारत कच्चा माल तैयार करने पर तो खास ध्यान देता है, परंतु वह, इस कारण, औद्योगिक प्रगति में पिछड़ा हुआ है।

भारत के सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री सर एम. विश्वेश्वरैया का कथन है कि भारतवासियों को अपना जयघोष यह बनाना चाहिए—'उद्योगवादी बनो'। उन्होंनें काशी विश्वविद्यालय के दीक्षान्त-समारोह-भाषण (१९३७) में कहा था—

"पिछली शताब्दी से कनाडा में अन्न पैदा करनेवाले मजदूरों की संख्या बराबर घटती आ रही है और यह संख्या ७५% से घटकर आज १७% हो गयी है। स्वीडन में भी खेती का काम करनेवालों की संख्या में भारी कमी हो गयी है। वहांकी एक बहुत बडी संख्या उद्योग, व्यवसाय, शिल्प और व्यापार में लग गयी है। पचास वर्षों से हर देश में यही प्रवृत्ति देखने

१ जवाहरलाल नेहरू : 'मेरी कहानी' (१९४१) पृ० ८३४

में आरही है, जैसा कि रूस, जर्मनी और जापान में प्रत्यक्ष है। भारत को अक्सर कृषि-प्रधान देश कहा जाता है; परन्तु जनता को यह साफ़-साफ़ नहीं बतलाया जाता कि उसकी सुरक्षा कृषि की अपेक्षा उद्योग और नौकरी पर निर्भर है। उद्योगों को प्रोत्साहन देना प्रगतिशील देशों में मौलिक नीति स्वीकार की गयी है। परन्तु यहाँ उसकी अपेक्षा की जाती है।"

गरीबी का चौथा कारण यह है कि भारत में उत्पादन और उसका वितरण न्यायोचित ढंग से नहीं किया जाता। खेती की पैदावार की बिक्री की भी कोई अच्छी पद्धति नहीं है। इस कारण किसानों को कम मूल्य पर सस्ते दामों में अपना माल बेचना पड़ता है। भारत में कृषि की पद्धति भी जनता की गरीबी का एक प्रधानकारण है। भूमि का वितरण भी सामाजिक न्याय के सिद्धान्त के आधार पर नहीं है।

जबतक भारत पूर्णतः उद्योगवादी राष्ट्र नहीं बन जाता तबतक भारतीय व्यापार के संरक्षण की अत्यन्त आवश्यकता है और जबतक सरकार भारत के उद्योग-धन्धों का संरक्षण नहीं करेगी, तबतक औद्योगिक क्षेत्र में उन्नति होना संभव नहीं।

श्री देवीप्रसाद खेतान का मत है कि भारत-सरकार द्वारा शक्कर व्यवसाय को १५ वर्ष के लिए संरक्षण मिलने का असर यह हुआ है कि पाँच वर्ष में ही भारत शक्कर के व्यवसाय में स्वावलम्बी हो गया है। शक्कर-व्यवसाय की उन्नति से १५ करोड़ रुपये विदेशों में जाने से बच गये। इनमें से ८ करोड़ रुपये तो किसानों को मिल जाते हैं।[१] विगत १० वर्षों में भारत में सूती-वस्त्र-व्यवसाय, शक्कर, दियासलाई, कागज, अण्डे, गुड़ आदि व्यवसायों ने आश्चर्यजनक उन्नति की है, जो नीचे दी हुई तालिका से प्रकट होती है—

१ कानपुर के इम्पीरियल इन्स्टीटयूट आफ शुगर टेकनोलोजी के डायरेक्टर की रिपोर्ट के अनुसार भारत में सन् १९३९-४० में १२, ४१, ७०० टन शक्कर बनायी गयी। इससे पहले साल में ६, ५०, ८०० टन शक्कर बनायी गयी। भारत में इस समय १४५ शक्कर के मिल काम कर रहे हैं।

इन वर्षों में भारत को प्राय: १०० करोड़ की आय हुई है।

व्यवसाय	सन् १९२५-२६	सन् १९३५-३६
दियासलाई	१२ करोड़ ६० लाख दर्जन	२९ करोड़ ४० लाख दर्जन
कागज	२८ हजार टन	४८ हजार टन
सूती कपड़ा	१९५ करोड़ ४० लाख गज	३५७ करोड़ १० लाख गज
हाथबुना कपड़ा	११६ करोड़ गज	१६६ करोड़ गज
शक्कर	३ लाख २१ हजार टन	११ लाख ६६ हजार टन
गुड़	३५ लाख टन	६७ लाख ५० हजार टन
लोहा	३ लाख २० हजार टन	अप्राप्त

भारत की जनता की गरीबी के कारण आर्थिक के अतिरिक्त सामाजिक भी हैं। भारत में ऐसी सामाजिक कुप्रथाएँ प्रचलित हैं जिनके कारण भी जनता को अपने धन का बहुत बड़ा भाग व्यर्थ खर्च करना पड़ता है। इन सामाजिक प्रथाओं में सबसे हानिप्रद प्रथाएँ हैं—बाल-विवाह, विवाहों में धन का अपव्यय, मृत-भोज, श्राद्ध तथा तीर्थ-यात्रा में महन्तों, साधुओं और पुजारियों को दान-दक्षिणा, शराबखोरी, जुआ, वेश्यागमन इत्यादि।

ये सामाजिक बुराइयाँ न केवल आर्थिक दृष्टि से ही हानिप्रद हैं, बल्कि नैतिक और स्वास्थ्य की दृष्टि से भी घातक हैं। इनका कुप्रभाव केवल फ़िज़ूलखर्ची करनेवाले तक ही सीमित नहीं रहता सारे कुटुम्ब, ग्राम और समाज पर भी पड़ता है।

कृषि

भूमि-प्रणालियाँ

भारत में दो प्रकार की भूमि-प्रणालियाँ (Systems of Land Tenures) प्रचलित हैं। एक जमींदारी और दूसरी रैयतवारी। जमींदारी प्रणाली विशेषत: बंगाल, बिहार, संयुक्त-प्रान्त और उत्तरी मद्रास में प्रचलित है। इसके अनुसार जमींदार भूमि के स्वामी होते हैं और वे उसकी मालगुजारी सरकार को देने के लिए बाध्य हैं। जमींदार

अपनी भूमि किसानों को जोतने-बोने के लिए दे देते हैं और उसके एवज में उनसे लगान वसूल करते हैं। इस लगान का एक नियत भाग सरकार को मालगुजारी के रूप में दे दिया जाता है और शेष उनके हिस्से में आता है। इस प्रणाली के अन्तर्गत सरकार का जमींदार ही से सीधा सम्बन्ध होता है, किसानों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसलिए जमींदार के किसानों पर होनेवाले अत्याचार में वह हस्तक्षेप नहीं करती।

रैयतवारी भूमि-प्रणाली भारत के शेष भाग पंजाब, बम्बई, सिन्ध, मध्यप्रान्त, सीमाप्रान्त, दक्षिण-मद्रास आदि में प्रचलित है। इस प्रथा के अनुसार भूमि के स्वामी किसान ही होते हैं। प्रत्येक किसान को सीधे सरकार को मालगुजारी देनी पड़ती है। उनके और सरकार के मध्य में कोई तीसरा व्यक्ति नहीं होता जो भूमि का स्वामी कहलाये।

बन्दोबस्त

किसान अपनी जोत का जो लगान जमींदार या सरकार को देता है, उसपर समय-समय पर पुनः विचार किया जाता है। इसके लिए जो कार्यवाही की जाती है उसे बन्दोबस्त कहते हैं। भारत में दो तरह के बन्दोबस्त हैं, स्थायी और अस्थायी। स्थायी बन्दोबस्त में लगान हमेशा के लिए स्थिर कर दिया जाता है, जो किसान से नहीं बल्कि जमींदार से वसूल किया जाता है। सन् १७९५ में अवध और मद्रास में स्थायी लगान निश्चित कर दिया गया था। शेष सारे देश में अस्थायी बन्दोबस्त की प्रथा जारी है। सरकार के सर्वे-विभाग द्वारा की गयी सर्वे के आधार पर तीस-तीस वर्ष में प्रत्येक ज़िले की ज़मीन की पूरी जाँच होती है। प्रत्येक गाँव की पैमायश होती है, नकशे बनते हैं, हरएक किसान के खेत को उसमें पृथक्-पृथक् बताया जाता है। उनके अधिकार का एक रजिस्टर रखा जाता है जिसमें जमीनों का लेन-देन आदि लिखा जाता है। इस रजिस्टर को 'वाज़िबुल अर्ज' (Record of Rights) भी कहते हैं। यह सब जाँच करके उसके अनुसार लगान कायम करने का काम भारत सरकार की सिविल सर्विस के विशेष अफ़सरों

द्वारा होता है जिन्हें 'सेटिलमेण्ट अफसर' कहा जाता है।

लगान की दर

भारत में ज़मीन पर जो लगान लिया जाता है, उसकी एक निश्चित दर नहीं है। वह स्थायी वन्दोवस्तवाले प्रान्तों में एक प्रकार की है और अस्थायी वन्दोवस्तवाले सूबों में दूसरे प्रकार की। फिर जमींदार तथा रैयतवारी प्रान्तों में भी लगान की दरें भिन्न-भिन्न हैं। वे जमीन की किस्म और उसके अधिकार आदि के अनुसार निर्धारित की जाती हैं। बंगाल में १६ करोड़ रुपये जमींदार लगान में किसानों से वसूल करते हैं, परन्तु चूंकि वहां स्थायी वन्दोवस्त प्रचलित है, इसलिए सरकार उसमें से केवल ४ करोड़ रुपये मालगुजारी के रूप में ले लेती है। अस्थायी वन्दोवस्तवाले प्रदेशों में जमींदारों से अधिक-से-अधिक लगान का ५० फ़ी सदी सरकार वसूल करती है। किसी-किसी प्रान्त में वह इससे भी कम वसूल करती है।

जमींदारी प्रथा की उत्पत्ति और विकास

वेद-काल में भारत में जमींदारी-प्रथा नहीं थी। राजा और प्रजा का सीधा सम्वन्ध था। प्रजा राजा को लगान देती थी। उस सतयुग में समस्त भूमि चार प्रकार की थी—(१) वास्तु भूमि, (२) कृषि भूमि, (३) गोचर भूमि, (४) वन्य भूमि। वास्तु-भूमि का स्वामी किसान होता था।[१]

रामायण-काल में भी हमें जमींदारी प्रथा का कोई प्रमाण नहीं मिलता। स्मृति-काल तथा महाभारत-युग में भी जमींदारी प्रथा नहीं थी। वौद्ध-काल में भी जमींदारी प्रथा नहीं मिलती। सव कृषक जमीन के मालिक थे।[२] मौर्य-काल में ग्रामों में स्थानीय स्वशासन था। सव

---

१. प्रो० सन्तोषकुमार दास: 'प्राचीन भारत का साम्पत्तिक इतिहास'

२. रामदास गौड़: 'हमारे गांवों की कहानी'

ग्राम स्वतन्त्र थे। प्रत्येक ग्राम में एक ग्राम-पंचायत होती थी इस पंचायत का जो मुखिया होता उसे ग्रामपति कहते थे। परन्तु वह आज-कल के जमींदार का पूर्वज नहीं है। जमींदारी का कोई रिवाज नहीं था। सव किसान अपने खेतों के मालिक थे।[१] पठान और मुगल काल में भी जमींदारी-प्रथा नहीं थी।

मुगल-काल में भी सैद्धान्तिक रूप से राज्य ही समस्त भूमि का स्वामी था, परन्तु भूमि की पैदावार किसान और सरकार के वीच में वाँटने की व्यवस्था थी। लगान-वसूल करनेवाले लोग किसानों से लगान वसूल करके सरकारी कोष में जमा कर देते थे। इस प्रकार लगान वसूल करनेवाले व्यक्तियों का एक वर्ग वन गया जो सरकार की ओर से नियुक्त किये जाते थे और उन्हें सरकार से वेतन मिलता था। ये लगान वसूल करनेवाले सरकारी कर्मचारी होते थे। जव मुगल साम्राज्य का पतन होने लगा और शासन-व्यवस्था अस्तव्यस्त होनें लगी तो ये लगान वसूल करनेवाले स्वतन्त्र होते गये और उन्होंने सरकार की कमजोरी का लाभ उठाकर अपने पद को मौरूसी वना लिया। सरकार की सत्ता मालगुजारी की आमदनी पर निर्भर थी। लगान वसूल करनेवालों की स्वच्छंदता के कारण सरकार को वड़ी आपत्ति का सामना करना पड़ा। अन्त में सरकार ने यह निश्चय किया कि लगान वसूल करनेवाले 'रेवन्यू फ़ार्मर' कहलायेंगे। अर्थात् वे निर्वारित सालाना मालगुजारी सरकार को देंगे और उन्हें यह स्वतन्त्रता दे दी जायेगी कि वे रैयत से मनमाना लगान वसूल करें। सवसे पहले वंगाल प्रान्त में यह प्रणाली जारी की गयी। यह मुगल-साम्राज्य-काल में शुरू हुई और सारे भारत में व्याप्त हो गयी।[२]

आज के युग में यह वतलाने की आवश्यकता नहीं है कि भारत में जमींदारी-प्रथा किसानों के लिए वड़ी दुखदायिनी है और यह निश्चित

---

१. रामदास गौड़ : 'हमारे गाँवों की कहानी'
२. डॉ० जेड. ए. अहमद : 'द एग्रेरियन प्रॉब्लम इन इंडिया'

है कि जबतक इस प्रथा का परित्याग नहीं किया जायेगा, तबतक किसानों की न सामाजिक उन्नति हो सकती है और न उनका आर्थिक सुधार ही संभव है। देश में एक ऐसा प्रबल लोकमत तैयार हो गया है जो जमींदारी के दोषों को भली भाँति अनुभव करता है और उनके निवारण के लिए भी उद्योग कर रहा है।

बंगाल की सरकार ने नवम्बर १९३८ में सर फ्रांसिस फ्लड की अध्यक्षता में बंगाल लैंड रेवेन्यू कमीशन यह जाँच करने के लिए नियुक्त किया था कि बंगाल में प्रचलित भूमि-प्रणालियाँ कौन-कौन सी हैं, उनका जनता की सामाजिक और आर्थिक स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ा है, स्थायी बन्दोबस्त के क्या गुण व दोष हैं? और क्या यह उचित होगा कि सरकार जमींदारियाँ खरीद ले और सीधे किसानों से मालगुजारी वसूल करे?

मई १९४० में प्रकाशित इस कमीशन की रिपोर्ट में यह सिफ़ारिश की गयी है कि सरकार को ऐसा कानून बनाना चाहिए कि वह समस्त जमींदारों की भूमि मुआविजा देकर खरीद सके। अनुमान किया गया है कि जो मुआविजा जमींदारों को दिया जायेगा वह ७७ करोड़ ९० लाख रुपये होगा।

जब ईस्ट इण्डिया कंपनी ने बंगाल की दीवानी अपने हाथ में ली तब वहाँ रेवेन्यू फार्मर बहुत बड़ी संख्या में थे। उनमें और किसानों में कोई भेद ही नहीं मालूम पड़ता था। लार्ड कार्नवालिस ने यह अनुभव किया कि रेवेन्यू फार्मर सरकारी कोष में मालगुजारी जमा करनें-वाला एक विशेष वर्ग है। इसपर अपना प्रभुत्व रखना चाहिए। ये हमारे राजभक्त बने रहें, क्योंकि इनके द्वारा सरकार रैयत पर भी अपना पूरा नियंत्रण रख सकेगी। अत: अंग्रेजी राज्य में उन्हें भूमि पर पूरा स्वामित्व दे दिया गया। इस प्रकार जमींदारी-प्रथा कायम हो गयी।

संयुक्तप्रान्त में जमींदार और उनके अधिकार

संयुक्तप्रान्त में २० लाख से ऊपर जमींदार हैं। कमायूँ में ४ लाख

जमींदार स्वयं खेती करते हैं। १२ लाख जमींदार ऐसे हैं जो एक रुपये से कम मालगुजारी देते हैं। इसलिए वे तो नाममात्र के ही जमींदार हैं। १०० रुपये तक मालगुजारी देनेवाले जमींदारों की संख्या ४½ लाख है। १०० रुपये से अधिक मालगुजारी देनेवाले जमींदारों की संख्या १ लाख ६२ हजार और इनमें से १,१०० जमींदार ५००० रुपये या इससे अधिक लगान देते हैं। और केवल २०३ जमींदार २०,००० रुपये या इससे ज्यादा मालगुजारी देते हैं। इस प्रकार २० लाख जमींदारों में अधिकांश किसान ही हैं। केवल १ लाख ६२ हजार जमींदार ऐसे हैं जिनका गुजारा मुख्यतया जमींदारी की आमदनी से होता है। इसके साथ ही यह भी जान लेना जरूरी है कि जमींदारों पर प्रायः ९० करोड़ का कर्ज है।

अंग्रेजी राज के आरम्भ में किसानों का भूमि पर अधिकार भी सुरक्षित नहीं था। जमींदार भूमि के स्वामी बन गये परन्तु किसानों को भूमि पर स्थायी रूप से जोतने-बोने तक का अधिकार नहीं मिला। जमींदार जब चाहे तब काश्तकार को खेत से बेदखल कर सकता था। बाद में जब किसानों के लिए कृषि-कानून बनाये गये तब किसानों के अधिकारों की व्याख्या की गयी। इसी समय से जमींदारों ने अपने लिए खेती के निमित्त भूमि सुरक्षित रखना शुरू कर दिया। यही सुरक्षित भूमि 'सीर' कहलाने लगी। पहले सीर से अभिप्राय उस भूमि से था जिसे जमींदार स्वयं अपने लिए जोतता-बोता था; परन्तु समय-समय पर कृषि-कानूनों द्वारा सीर की परिभाषा में परिवर्तन होता रहा। अन्त में सीर का नाम उस भूमि को दिया गया जो जमींदारों के निजी प्रयोग के लिए सुरक्षित होती थी और जिसपर किसानों को मौरूसी अधिकार प्राप्त नहीं होता था। जब जमींदार की जमींदारी बिक जाती थी, तो उसके साथ उसकी सीर नहीं बिकती थी।

इस प्रकार सीर जमींदारों का एक महत्त्वपूर्ण अधिकार बन गया। अवध-लगान-कानून १९२१ तथा आगरा-कृषि-कानून, १९२६ के अनुसार उस सब भूमि पर जमींदारों को सीर का अधिकार प्राप्त है जिसे वे स्वयं या उनके नौकर व मजदूर जोतते-बोते थे और जो भूमि उपर्युक्त कानूनों

के बननें से १ वर्ष पहले खुदकाश्त दर्ज थी। अब उन्हें यह भी अधिकार प्राप्त हो गया है कि किसी भी १० साल की खुदकाश्त को वे सीर दर्ज करा सकते हैं, परन्तु अपनी जमींदारी की भूमि के १०% से अधिक भाग में उन्हें सीर का अधिकार प्राप्त न हो सकेगा। अर्थात् जो ०० एकड़ भूमि का जमींदार है वह १० एकड़ से अधिक में इस प्रकार अधिकार प्राप्त नहीं कर सकता। सन् १९३५-३६ में आगरा प्रान्त में ४९.३६ लाख एकड़ और अवध में ७.२४ लाख एकड़ जमीन सीर थी।

संयुक्तप्रान्त में किसान और उनके अधिकार

सन् १९३१ में खेती करनें और खेती से जीविका कमानेवालों की संख्या इस प्रकार थी—

कुल कृषक	१७, ७६, ५४, ३१
जमींदार (जो खेती नहीं करते)	२६, ०६, १०
जमींदार (जो खेती करते हैं)	१, ७९, ५५, ३६
काश्तकार (जो खेती करते हैं)	१२, ०१, १६, २१
काश्तकार (जो खेती नहीं करते)	१९, ३८, ७७
खेतिहर मजदूर	३, ४१, ९१, ८५
माली आदि	३, २१, ३९

सन् १९३५-३६ में संयुक्तप्रान्त में ३५, २७, ८०, ०० एकड़ भूमि पर कृषि होती थी और ९६ लाख एकड़ भूमि व्यर्थ पड़ी हुई थी। कृषियोग्य भूमि में ३३, ७६, ६२५ एकड़ भूमि पर जमींदारों की सीर है और २८, १५, १४५ एकड़ भूमि पर उन्हें खुद काश्त का अधिकार प्राप्त है। इस प्रकार ६१ लाख से ऊपर एकड़ भूमि पर जमींदारों की सीर व खुदकाश्त है। २, ५९, ६४१ एकड़ भूमि ऐसी है जो किसानों के पास है और जो लगान से बरी है।

संयुक्तप्रान्तीय कृषि-कानून १९३९ के अनुसार संयुक्तप्रान्त में ७ प्रकार के किसान मंजूर किये गये हैं जो निम्नलिखित हैं—

(१) हक़दारान कब्जा मुस्तकिल

(२) शरह मुअइअन काश्तकार
(३) अवध में विशेष अधिकारवाले काश्तकार
(४) साक़ितुल मिलकियत काश्तकार
(५) नये मौरूसी काश्तकार
(६) दखीलकार काश्तकार
(७) गैरदखीलकार काश्तकार

प्रथम तीन प्रकार के काश्तकार अवध और पूर्वी जिलों में हैं जिनमें स्थायी वन्दोवस्त प्रचलित है। हक़दारान कब्जा मुस्तकिल जमींदार और किसान के वीच उस समय से चले आये हैं जव स्थायी वन्दोवस्त हुआ था। इनका लगान स्थायी रहता है और इनका अधिकार मृत्यु के वाद इनके वारिसों को मिलता है। वे चाहें तो अपने अधिकार को वेच सकते हैं, रहन रख सकते हैं या हिस्से कर सकते हैं।

दूसरी श्रेणी के काश्तकारों के लगान की दर भी नियत है। इनका अधिकार भी मौरूसी है।

तीसरी श्रेणी के काश्तकार केवल अवध में हैं। ये वे काश्तकार हैं जिनका पट्टा विशेष इक़रारनामे या सन् १८८६ के अवध-लगान-कानून से पहले न्यायालय के निर्णय से हुआ है। मौरूसी काश्तकारों को जो अधिकार प्राप्त हैं, वे सव इन्हें भी प्राप्त हैं।

चौथी श्रेणी के साक़ितुल मिल्कियत काश्तकार वे हैं जो जमींदार, अदना मालिक या हक़दारान कब्जा मुस्तकिल के अपनी जमींदारी तथा भूमि के वेचनें, रहन करने या दान करने के वाद भी सीर व खुद-काश्त पर अपना अधिकार रखते हैं। परन्तु शर्त यह है कि वेचनें, दान करनें या रहन रखने से तीन साल पहले से वह उसे जोतता हो।

पाँचवीं श्रेणी मौरूसी काश्तकारों की है। ये तीन प्रकार के हैं—

(१) वह व्यक्ति जो सन् १९२६ के आगरा-लगान-क़ानून के अन्तर्गत क़ानूनी काश्तकार हो और उसके वारिस;

(२) वर्त्तमान क़ानून के अन्तर्गत जो काश्तकार मंजूर किया गया

हो; परन्तु वह सीर का काश्तकार न हो और न शिकमी काश्तकार (Subtenant) हो।

(३) प्रत्येक व्यक्ति जिसने इस कानून के अन्तर्गत मौरूसी अधिकार प्राप्त कर लिये हों।

छठी श्रेणी दखीलकार काश्तकारों की है। ये वे काश्तकार हैं जिन्हें पहले लगान-क़ानून के अन्तर्गत दखीलकार काश्तकार के अधिकार प्राप्त थे।

जो काश्तकार उपर्युक्त किसी श्रेणी में नहीं हैं वे ग़ैरदखीलकार काश्तकार हैं।

अन्तिम श्रेणी के काश्तकार को छोड़कर शेष काश्तकारों की सभी श्रेणियों को नीचे लिखे अधिकार प्राप्त हैं—

(१) हक़दारान कब्ज़ा मुस्तक़िल और शरह मुअइअन काश्तकार दोनों को अपनी ज़मीन पर पूरा अधिकार है। वे उसे बेच सकते हैं, रहन कर सकते हैं और उनके वारिस भी उसे उत्तराधिकार में प्राप्त कर सकते हैं।

(२) अवध के खास काश्तकार, साकितुल मिल्कियत काश्तकार, दखीलकार, मौरूसी तथा ग़ैर-दखीलकार काश्तकारों को ज़मीन बेचनें या रहन रखने का अधिकार नहीं है। वह केवल वारिसों को ही प्राप्त हो सकती है।

(३) प्रत्येक काश्तकार को जोत पर अपनी ज़मीन दूसरे काश्तकार को उठा देनें का अधिकार है। परन्तु यह अधिकार शिकमी काश्तकार तथा सीर के काश्तकार को नहीं है।

(४) काश्तकार को लिखित पट्टा प्राप्त करने का अधिकार है।

(५) हक़दारान कब्जा मुस्तकिल, शरह मुअइअन काश्तकार, अवध में दखीलकार काश्तकार, या खास अधिकारवाले काश्तकार अपनी ज़मीन पर कोई भी सुधार कर सकते हैं [१]। शेष काश्तकारों को भी

१. खेती के सम्बन्ध में काश्तकारों को निम्नलिखित सुधार करने का अधिकार है—

सब प्रकार के सुधार करने के अधिकार हैं। परन्तु वे निम्नलिखित सुधार जमींदार की लिखित आज्ञा के बिना नहीं कर सकते जबतक कि ऐसा रिवाज ग्राम में प्रचलित न हो जिससे उन्हें अधिकार प्राप्त हो जाये—

(अ) जोत के पास ही आराम या सुविधा के लिए मकान बनाना;

(ब) खेती के काम के लिए तालाब बनाना।

(६) ग़ैर-दख़ीलकार काश्तकार को जमींदार की आज्ञा के बिना जोत में कोई भी सुधार करने का अधिकार नहीं है।

(७) काश्तकारों को अपनी ज़मीन पर पेड़ लगानें का अधिकार है।

(८) काश्तकार को लगान अदा करनें पर जमींदार से उसके हस्ताक्षर सहित रसीद पाने का अधिकार है।

(९) कृषि-वर्ष के अन्त होने से ३ मास पहले तक काश्तकार को ज़मींदार से ब्याज का हिसाब प्राप्त करने का अधिकार है।

(१०) बकाया लगान के लिए जो काश्तकार अपनी कुल काश्त या उसके किसी हिस्से से बेदखल किया जायेगा उससे बकाया लगान, चाहे

---

१. अपनी जोत पर अपने या मवेशी के लिए मकान या गोदाम बनाना।

२. जोत की तरक्क़ी के लिए कोई भी काम करना, जिनमें निम्नलिखित काम शामिल हैं—

१. खेती के लिए कुआ बनाना या पानी जमा करनें के लिए प्रबन्ध करना;

२. बाढ़ तथा पानी से फसल की रक्षा के लिए नालियाँ बनाना;

३. जमीन की सफ़ाई करना, घेरा लगाना तथा उसे समतल बनाना;

४. जोत के समीप आराम के लिए मकान बनाना;

५. खेती के लिए तालाब बनाना;

६. उपर्युक्त कामों को फिर से बनाना।

उसकी डिग्री हुई हो या न हुई हो, वसूल करने का जमींदार को हक़ न होगा।

(११) यदि कोई काश्तकार अपनी जोत से वेदखल कर दिया गया हो तो उसे उस गाँव में उसके रहने के मकान से वेदखल न किया जा सकेगा।

इस क़ानून में संयुक्तप्रान्त के ३४ लाख से ऊपर खेतिहर मजदूरों को कोई अधिकार नहीं दिया गया है। इन खेतिहर मजदूरों की दशा अत्यन्त शोचनीय है। शहरों में, मिलों में काम करनेवाले मजदूरों के लिए मजूरी, काम के घंटे तथा छुट्टियों आदि के सम्बन्ध में क़ानून वन गये हैं परन्तु खेतों पर काम करनेवाले किसानों के सम्बन्ध में अभीतक कोई क़ानून नहीं है। उनसे दिन-रात काम लिया जाता है और दो या ढाई आने मजदूरी दे दी जाती है। अक्सर यह मजदूरी भी नहीं मिलती। प्रायः जमींदार वेगार में ही उनसे काम लेते हैं। फसल काटनें के समय मजदूरी कुछ वढ़ा दी जाती है। स्त्रियों को दो आने रोज से अधिक मजदूरी नहीं दी जाती। खेतिहर मजदूर वास्तव में गुलामी की दशा में हैं। वे अधिकांश में उस वर्ग में से हैं जिसे 'दलित' कहा जाता है।[1]

वैसे तो समस्त भारत में खेतों पर काम करनेवाले मजदूरों की अवस्था बुरी है परन्तु विहार और गुजरात प्रान्त में तो उनकी दशा गुलामों की तरह है। गुजरात में इन्हें हाली और विहार में भूमिया कहा जाता है। हाली खेतों पर काम करनेवाले मजदूर हैं जो अपनी मर्जी से मजदूरी पर काम नहीं करते; परन्तु उन्हें वड़े-वड़े जमींदारों द्वारा स्थायी रूप से पुश्तैनी नौकर वनाकर रखा जाता है और उनके खानें तथा रहने का प्रवन्ध जमींदारों द्वारा ही किया जाता है। वे अपने काम को छोड़कर दूसरी जगह काम नहीं कर सकते। इस प्रकार इन हालियों और अमरीका के खेतों पर काम करनेवाले उन गुलामों में कोई अन्तर नहीं है, जो गृहयुद्ध से पूर्व अमरीका में पाये जाते थे। वस, अन्तर केवल इतना

---

१ डॉ० जेड० ए० अहमद : 'द एग्रेरियन प्रॉब्लम इन इंडिया'

ही है कि अदालतें इन मजदूरों तथा इनकी मजदूरी पर जमींदारों का निरपेक्ष स्वामित्व नहीं स्वीकार करतीं। ये क़ानूनी रूप से स्वतन्त्र हैं पर वस्तुतः गुलाम हैं।[१]

किसानों का कर्ज़ा

किसान न केवल गरीब, नासमझ और अत्याचार-पीड़ित ही हैं, वल्कि उनके सिर पर कर्ज़ का वड़ा वोझ भी है जिससे वे दवे जा रहे हैं। सन् १९३० में प्राविन्श्यल वैंकिंग इन्क्वायरी कमिटी ने किसानों के कर्ज़ का जो अनुमान लगाया था, यद्यपि वह सर्वांश में सत्य नहीं है, तो भी उससे यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि किसानों पर कर्ज़ का कितना भारी वोझ है। प्रत्येक प्रान्त में किसानों पर कर्ज़ा करोड़ रुपयों में इस प्रकार था—

वम्वई-सिन्ध	८१	विहार-उड़ीसा	१५५
मद्रास	१५०	आसाम	२२
वंगाल	१००	केन्द्रीय प्रदेश	.१८
संयुक्तप्रान्त	१२४	व्रह्मा	५०.५
पंजाव	१३५	कुर्ग	३५.५५ लाख
मध्यप्रान्त-वरार	३६.५		

उद्योग-व्यवसाय

विगत अर्द्धशताब्दी में, विशेष रूप से विगत महायुद्ध के वाद से, भारत में उद्योग-धन्धों की पर्याप्त उन्नति हुई है। एक समय था जव भारत में उँगलियों पर गिनी जाने लायक मिलें थीं और उनमें जो माल तैयार होता था वह विदेशी माल के मुकाविले वहुत ही घटिया था। इस समय (सन् १९४०-४१) व्रिटिश भारत में कुल रजिस्टर्ड कारखानों की संख्या १०,७८२ है। ९,७४३ कारखाने चले जिनमें ६,०८६ कारखाने सालभर काम करते रहे और ३,६५७ ऋतु-विशेष में।

१ जे० एम० मेहता : 'ए स्टडी ऑव रूरल इकनॉमी ऑव गुजरात'

कारखाने

रुई की धुनाई, कपड़े की बुनाई, कोच बनाने, मोटरकारों की मरम्मत करनें, इंजीनियरिंग, छपाई, जिल्दसाजी और चावल के उद्योगों में काफी उन्नति हुई है। मोजे, तेल, ग्लास, सीमेंट, ईंट, टाइल, चाय और चमड़ा बनाने के उद्योगों का भी पर्याप्त विस्तार हुआ है।

इन कारखानों में काम करनेंवाले मजदूरों की संख्या सन् १९३८ में १७,३८,००० थी। यह अबतक की संख्याओं में सबसे अधिक है। रुई के उद्योग में ५,१२,००० और जूट के उद्योग में २,९५,००० मजदूर लगे हुए हैं। जिनमें २४१,००० स्त्री-मजदूर और १०,७४२ बालक हैं।

पैदावार

महायुद्ध के बाद भारतीय उद्योग-धन्धों में जो प्रगति हुई उसका अनुमान निम्नलिखित विवरण से भली भाँति लग जाता है:

भारत में विदेशों से आनेंवाला माल

वस्तुएँ	सन् १९१३-१४	सन् १९३८-३९
सूती वस्त्र	५३,२०,५१,०००	२२,६६,२०,०००
लोहा व इस्पात	१२,४८,५०,०००	६,६७,२०,०००
ऊनी कपड़ा	३,२४,६०,०००	२,८१,९०,०००
काँच का सामान	१,६१,९२,०००	१,२५,१२,०००
तम्बाकू	५२,७४,०००	४०,२७,०००
सीमेंट	५२,७७,०००	१०,०५,०००
शक्कर	१२,९२,५०,०००	४५,४८,०००
मिट्टी का सामान	५२,१९,०००	३९,१९,०००
खिलौनें	४०,०५,०००	३७,३०,०००
दियासलाई	१,५३,३१,०००	२३,५२,०००
साबुन	६१,८७,०००	२२,४४,०००
छाते	४१,९४,०००	१४,८७,०००
	८८,२,९१,००० रु०	३६,२४,२४,००० रु०

सन् १९३८-३९ में भारत से निम्नलिखित माल विदेशों में भेजा गया :

चीजें	रुपये	चीजें	रुपये
कच्चा जूट	१३,३९,६७,०००	खाने-पीने की चीजें	५९,३२,०००
तैयार जूट	२६,२६,११,०००	रंगने तथा चमड़ा बनाने की चीजें	५९,११,०००
कच्ची रुई	२४,६६,६५,०००		
तैयार रुई	७,११,७९,०००	खाद	३७,२२,०००
चाय	२३,४२,४७,०००	मोम	३६,२५,०००
बीज	१५,०९,२२,०००	दवाइयाँ	२७,८३,०००
अनाज,आटा-दाल	७,७४,१२,०००	सुअर के बाल	२६,३२,०००
चमड़ा	५,२७,५८,०००	शक्कर	२४,१८,०००
धातु	४,९१,०२,०००	हड्डियाँ	२३,७१,०००
ऊन	३,८४,९५,०००	लकड़ी	२३,६६,०००
कच्चा चमड़ा	३,८४,६७,०००	ब्रुश तथा झाड़न	१५,७१,०००
खली	३,०१,२०,०००	इमारती सामान	१४,७५,०००
तम्बाकू	२,७५,६७,०००	पोशाक	१२,६२,०००
फल-तरकारी	२,२६,८६,०००	गन्धक	१०,८९,०००
कोयला व कोक	१,३६,२५,०००	चारा	८,९६,०००
लाख	१,२६,६५,०००	जानवर (जीवित)	८,२३,०००
भोङर	१,१४,१२,०००	रस्सी	८,१२,०००
तेल	१,०३,३९,०००	रेशम	४,२६,०००
तांबा	९६,०१,०००	टैलो	३,२७,०००
मसाले	७३,६६,०००	सींग	२,३६,०००
कहवा	७५,११,०००	बत्तियाँ	२,०००
गांजा	७१,९८,०००	अफीम	१,०००
कच्ची रबड़	७१,५८,०००	दूसरी चीजें	५,८०,७७,०००
मछलियाँ	६९,२९,०००		१,६२,९२,५५,००० रुपये

भारत के आयात-निर्यात का तुलनात्मक अध्ययन निम्नलिखित अंकों से किया जा सकता है—

वर्ष	आयात (रुपयों में)	निर्यात (रुपयों में)
१९३५	१,१५,३५,७०,१४४	१,४७,२५,०६,८२०
१९३६	१,३२,२८,६४,६५३	१,५१,६६,९७,४९७
१९३७	१,२५,२४,०५,४२५	१,९६,१२,४६,२८६
१९३८	१,३४,४२,३२,३८५	१,६०,५२,३६,९९४
१९३९	१,७३,७८,७६,०८९	१,८०,९२,४२,२२१

ज्वायण्ट स्टॉक कम्पनियों की पूँजी

भारत में इस समय विविध उद्योग-धन्धों में कंपनियों की जो पूंजी लगी हुई है, उसका अध्ययन यह वताता है कि देश में उद्योग-धन्धों में वढ़ती हो रही है। १९३६-३७ के अंकों के अनुसार भारत के वैंकिंग, वीमा, जहाज़ी, रेलवे तथा ट्रामवे कंपनियों, रुई, जूट, ऊनी तथा रेशमी मिल, रुई व जूट के प्रेस, आटे के मिल, चाय, दूसरे मिल, कोयला शक्कर आदि उद्योग-धन्धों और व्यवसायों की भारत में रजिस्टर्ड कम्पनियों में २ अरव ९७ करोड़ ९३ लाख ४४ हजार रुपये की और विदेशों में रजिस्टर्ड कम्पनियों में ७ अरव २५ करोड़ ३९ लाख २ हजार पौंड की पूंजी लगी हुई ह।

मजदूरों की दशा

भारतीय उद्योग-धन्धों के विकास में पूंजी और उत्पादन के अन्य साधनों का तो महत्त्व है ही मानव की श्रम-शक्ति का महत्त्व भी कम नहीं है। पूंजीपति और मिल-मालिक, वास्तव में, मजदूरों की इस श्रम-शक्ति से ही मालामाल होते हैं। अतः मजदूरों का उद्योग में विशेष स्थान है। जवसे उद्योग-धन्धों में प्रगति होने लगी है, तवसे मिल में काम करनेवाले मजदूरों की समस्या भी विकट होती जा रही है।

मजदूरों की मजदूरी, काम करने के घन्टे, उनके साथ मालिकों का व्यवहार, उनके रहने की व्यवस्था, उनके स्वास्थ्य की रक्षा का प्रवन्ध, उनके

वालकों की शिक्षा तथा स्वास्थ्य-रक्षा की व्यवस्था, अपाहिज तथा वृद्ध मजदूरों की वृद्धावस्था में सहायता, छुट्टियों के नियम, वेतन-वृद्धि तथा भत्तों के नियम आदि ऐसे प्रश्न हैं जिनका अभीतक समुचित समाधान नहीं हो सका है। यही कारण है कि आज मजदूरों में घोर असन्तोष और अशान्ति है। उनके पास अपनी शिकायतों के दूर कराने के लिए केवल एक ही साधन है और वह है—हड़ताल।

मजदूरों के पारिश्रमिक (मजदूरी) का प्रश्न वड़ा विकट है। वड़े-वड़े औद्योगिक नगरों में मिलों और कारखानों में काम करनेवाले मजदूर अक्सर ग्रामों से आते हैं। अपने परिवारों को अपने ग्राम में छोड़कर, वे शहरों में मजदूरी करने जाते हैं। ऐसे भी मजदूर हैं जो अपनी स्त्री-वच्चों को साथ ले आते हैं। कारखानों में उन्हें वेतन कम मिलता है और इस पर उन्हें शहर के खर्चीले जीवन का सामना करना पड़ता है। शहरों में मकानों का किराया अधिक होता है। एक-एक छोटी सी कोठरी में चार-चार-छः-छः स्त्री-पुरुष रहते हैं। एक-एक कोठरी में, जिसका क्षेत्रफल १२×१२ वर्गफ़ीट होता है, कभी-कभी दो-दो तीन-तीन मजदूरों को सपरिवार रहना पड़ता है! खाना खाने, वैठने, सोनें आदि के लिए ऐसे छोटे-छोटे कमरों का एक भाग ही उन्हें मुशकिल से मिलता है।

अहमदावाद और वम्वई में मजदूरों के रहने के लिए चालें वनायी गयी हैं जिनका किराया उन्हें देना पड़ता है। ये चालें इतनी गन्दी तथा अस्वास्थ्यकर हैं कि इनमें पशुओं को वाँधना भी अन्याय होगा।

मिल-मालिकों की ओर से अथवा म्यूनिसिपल वोर्डों ने शहरों में मजदूरों के लिए क्वार्टर वनाने का प्रयत्न किया है। परन्तु अभी तक इधर जो प्रयत्न हुआ है वह संतोषप्रद नहीं है। संयुक्तप्रान्त में ४५४ क्वार्टर वनाये गये हैं। ये अधिकांश में शक्कर-मिलों की तरफ से वनाये गये हैं। मद्रास में मजदूरों के लिए कम किराये पर क्वार्टर वनाये गये हैं। कुछ साल पहले डेवलपमेंट डिपार्टमेंट द्वारा वम्वई में मजदूरों के लिए चालें वनायी गयी थीं। अब उनमें सुधार किया गया है और उनमें

मजदूरों को रहने के लिए प्रोत्साहित किया जा रहा है। २०७ चालों में से १९२ में अब मजदूर रहने लगे हैं। इन चालों में ६३,००० मजदूर रहते हैं। अहमदाबाद में म्यूनिसिपल बोर्ड नें १५६ क्वार्टर मजदूरों के लिए बनवा दिये हैं। बंगाल में २० मिलों ने अपने मजदूरों के लिए मकान बनवा दिये हैं। अजमेर-मेरवाड़ा, बिहार-उड़ीसा, मध्यप्रदेश-बरार, देहली तथा सीमाप्रांत में मजदूरों के लिए अभी कोई योजना नहीं बनायी गयी है।

कानपुर के मजदूरों की दशा की जाँच के लिए ३० अगस्त १९३७ को संयुक्तप्रान्त की सरकार ने एक जाँच-कमेटी बनायी थी। इस कमेटी के सामने कानपुर की मजदूर-सभा की ओर से एक वक्तव्य दिया गया जिसमें मजदूरी के विषय में लिखा है—

"मिलों में प्रधान-निरीक्षक के कथन से विदित होता है कि संयुक्त-प्रान्त में, जहाँ का मुख्य व्यावसायिक केन्द्र कानपुर है, कपड़ों की मशीनों पर काम करनेवाले मजदूर को ३३ रुपये और सूत कातने की मशीन पर काम करनेवाले मजदूर को २५ रुपये मासिक मिलते हैं। पंजाब, दिल्ली और बंगाल में इससे अधिक मजदूरी नहीं मिलती। बम्बई की चुनी हुई १९ मिलों की जाँच करने से पता चलता है कि वहाँ मजदूरों को ४० रुपये १२ आने २ पाई से ५४ रुपये ७ आने तक मज-दूरी मिलती है।"

मजदूर-जाँच-समिति को यह विश्वास है कि संयुक्तप्रान्त में वस्त्र-व्यवसाय की काफी उन्नति हुई है और उसने यह सिफारिश की है कि कानपुर के मजदूरों की मजदूरी म १० से १२ प्रतिशत वृद्धि करदी जाये। कमेटी ने मजदूरों को पाँच श्रेणियों में विभाजित कर दिया है और उनकी मजदूरी में इस प्रकार वृद्धि करने की सिफारिश की है :

श्रेणी		वृद्धि		कुल वेतन
१३) से १९)	रु० तक	२½ आने	प्रति रु०	अधिक से अधिक २१।)
१९) से २५)	,, ,,	२ आने	,,	,, ,, २७।)
२५) से ३२)	,, ,,	१½ आने	,,	,, ,, ३५)
३२) से ४०)	,, ,,	१ आना	,,	,, ,, ४१।)

४०) से ५९) रु० तक ३ आना प्रति रु० अधिक से अधिक ६०॥)

मजदूरों को ४ श्रेणियों में विभाजित किया गया है जिनका वेतन क्रमश: ४०) रुपये से अधिक, ३०) से ४०) तक, १५) से ३०) तक और १५) रुपये तक है और उन मजदूरों का औसत आय-व्यय रुपयों में इस प्रकार है :

श्रेणी	आय	व्यय	बचत	घाटा
पहली	५३–८–५	५३–५–९	०–२–८	०–०–०
दूसरी	३५–२–२	३७–५–११	०–०–०	२–३–९
तीसरी	२०–११–२	२२–२–३	०–०–०	१–६–११
चौथी	१२–१०–२	१५–५–६	०–०–०	२–११–४

३०) वेतन पानेवाले मजदूर का औसत व्यय इस प्रकार होता है—

	सपरिवार	अकेला
आटा	३)	२)
दाल	१॥)	१)
शाक-सब्जी	१)	॥)
नमक	।=)	≡)
मसाले	१)	।॥)
शक्कर-मिठाई	१)	
दूध-घी	२॥)	
अन्य खाद्य-पदार्थ	१)	॥)
लकड़ी-तेल	३)	२)
वस्त्र	४)	१)
मकान-किराया	२॥)	२)
नाई-धोबी	१)	॥)
तम्बाकू	।॥)	॥–)
शराब	१॥)	१)
ऋण पर व्याज	२)	२)
सफर-खर्च	२)	१)
	२८=)	१५)

मजदूरों के हित के लिए कानून

मजदूरों के हितों की रक्षा के लिए प्रान्तीय सरकारों ने कुछ कानून हाल में बनाये हैं जिनमें से निम्नलिखित कानून उल्लेखनीय हैं—

(१) प्रसूता-सहायक-कानून—इससे कारखानों व मिलों में काम करनेवाली स्त्री-मजदूरों के लिए प्रसव से पूर्व और उसके बाद निर्धारित समय के लिए सवेतन अवकाश देने की व्यवस्था की गयी है।

(२) मजदूर-संघ-कानून—इसके अनुसार मजदूरों को अपने कल्याण के लिए संगठन करने तथा आन्दोलन करने का अधिकार प्राप्त है।

(३) मजदूर-विवाद-कानून—इसके अनुसार मिल-मालिकों तथा मजदूरों के पारस्परिक झगड़ों को शान्तिपूर्वक निपटाने की व्यवस्था की गयी है।

(४) मजदूर-क्षतिपूर्ति-कानून—कार्यकाल में किसी मजदूर की मृत्यु हो जाये या उसे कोई शारीरिक हानि पहुँचे तो इससे उसे मुआविजा देने की व्यवस्था की गयी है।

: १६ :

राष्ट्रीय जीवन

शासन-पद्धति

आजकल भारत का शासन सन् १९३५ के भारत-सरकार-कानून के अनुसार चल रहा है। इस कानून से पहले सभी भारत-सरकार-कानून केवल ब्रिटिश भारत में ही लागू होते थे लेकिन इस शासन-विधान का संबंध प्रान्तों और देशी राज्यों दोनों से है। इस विधान के दो प्रमुख भाग हैं। एक भाग में संघ-शासन की योजना है और दूसरे भाग में प्रान्तीय शासन की।

भारतीय संघ-शासन

भारतीय संघ-राज्य के दो प्रधान अंग निर्धारित किये गये हैं—(१) गवर्नरों के प्रान्त और (२) देशी राज्य। इसमें चीफ कमिश्नर के प्रान्त भी शामिल हैं।

भारतीय शासन में गवर्नर-जनरल और वायसराय ये दो अलग-अलग पद हैं। गवर्नर-जनरल सम्राट की ओर से भारतीय संघ का सर्वोच्च शासक होगा। वायसराय की हैसियत से वह उन देशी नरेशों का नियंत्रण करेगा जो संघ-राज्य में शामिल न होंगे और उन विषयों का भी जो सम्राट् उसे सौंप दे। गवर्नर-जनरल की नियुक्ति के समय सम्राट् की ओर से आदेश-पत्र दिया जायेगा जिसके अनुसार वह भारत का शासन करेगा। इस आदेश-पत्र में दो बातें विशेषत: उल्लेखनीय हैं। गवर्नर-जनरल उस व्यक्ति के परामर्श से मंत्रियों को नियुक्त करेगा जिसके साथ उसके विचार में व्यवस्थापक सभा का बहुमत होगा। वह अपने अधिकारों का प्रयोग मंत्रियों के परामर्श से उस समय तक करेगा जबतक कि उसकी विशेष जिम्मेदारियों में कुछ बाधा न पड़े।

भारतीय संघ-शासन की मुख्य विशेषता है उत्तरदायित्व का अभाव तथा द्वैध-शासन-प्रणाली की स्थापना। सन् १९३५ से पहले जिस प्रकार

भारत के प्रान्तों में शासन होता था, केन्द्र में भी उसी पद्धति की स्थापना की गयी है।

सेना, ईसाई-धर्म, पर-राष्ट्र-नीति और पिछड़े प्रदेशों का शासन सुरक्षित विषय' कहे गये हैं। इन विषयों का शासन-प्रवन्ध गर्वनर जनरल भारत-मंत्री के नियंत्रण में स्वेच्छानुसार करेगा। वह अपनी सुविधा के लिए सुरक्षित विषयों के प्रवन्ध में सहायता के लिए तीन परामर्शदाता नियुक्त कर सकेगा। इस प्रकार उपर्युक्त सुरक्षित विषय और अपनी विशेष जिम्मेदारियों को छोड़कर संघ-शासन के अन्य विषयों का राज-प्रवन्ध गवर्नर-जनरल मंत्रि-मंडल के परामर्श से करेगा। मंत्रि-मंडल में १० सदस्य होंगे जिनकी नियुक्ति गवर्नर-जनरल के द्वारा होगी।

गवर्नर-जनरल के विशेष उत्तरदायित्व निम्नलिखित हैं—

(१) भारतवर्ष या उसके किसी भाग में शान्ति-भंग करनेवाले खतरों का निवारण;

(२) संघ-शासन की आर्थिक स्थिरता और साख का सुरक्षित रखना;

(३) अल्प-संख्यक जन-समुदायों के उचित हितों की रक्षा करना;

(४) सरकारी नौकरियों के सदस्यों और उनके आश्रितों को शासन-विधान द्वारा दिये गये अधिकार दिलाना और उनकी रक्षा करना;

(५) व्यापारिक और जातिगत भेदभाव-संबन्धी उन नियमों पर अमल करना जिनकी व्यवस्था विधान के पांचवें भाग के तीसरे अध्याय में की गयी है;

(६) ब्रह्मा और इंग्लैंड के बने हुए आयात-माल के संबंध में ऐसे कामों को रोकना जिनके कारण इस माल के साथ भेद-भाव की नीति का व्यवहार होता हो;

(७) देशी रियासतों और उनके नरेशों के अधिकारों व मर्यादा की रक्षा करना;

(८) इस बात का प्रबंध करना कि अपने विवेक एवं व्यक्तिगत निर्णय द्वारा किये जानेवाले कार्यों के संपादन में अन्य किसी संबंधित विषय से बाधा न पड़े।

उपर्युक्त विषयों के शासन में गवर्नर-जनरल अपनी नीति और कार्यों के लिए भारतमंत्री के प्रति उत्तरदायी होगा और अपने व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार कार्य-संपादन करेगा। गवर्नर-जनरल पर भारतमंत्री का नियंत्रण है। इसके अतिरिक्त उसपर किसी भारतीय संघ-संस्था या जनता का नियंत्रण नहीं है और न वह संघ के प्रति उत्तरदायी ही है। वह भारत का सर्वेसर्वा है।

संघीय व्यवस्थापक-मण्डल में सम्राट का प्रतिनिधि गवर्नर-जनरल, कौंसिल ऑव स्टेट और हाउस ऑव असेम्वली शामिल हैं। कौंसिल ऑव स्टेट में २६० सदस्य होंगे। इनमें से १५६ ब्रिटिश भारत के और १०४ देशी राज्यों के होंगे। चुनाव साम्प्रदायिक प्रणाली के आधार पर होगा। उसके अधिकांश सदस्यों का चुनाव जनता द्वारा होगा। हिन्दू, सिख तथा मुस्लिम प्रतिनिधियों का चुनाव उन्हींके सम्प्रदायों के निर्वाचकों द्वारा होगा। वड़े देशी राज्यों को अकेले एक सदस्य और छोटी रियासतों को कई मिलकर एक प्रतिनिधि मनोनीत कर भेजने का अधिकार होगा। एंग्लो-इंडियन, यूरोपियन, भारतीय ईसाई और दलित जातियों के प्रतिनिधि परोक्ष निर्वाचन द्वारा चुने जायेंगे और इनके चुनाव में वे ही व्यक्ति मताधिकारी होंगे, जो प्रान्तीय व्यवस्थापक-मण्डल के सदस्य होंगे। इस कौंसिल का कार्य-काल ९ वर्ष का होगा। एक तिहाई सदस्य ३ साल के लिए, एक तिहाई ६ साल के लिए और शेष एक तिहाई ९ साल के लिए होंगे। $\frac{१}{६}$ सदस्यों का कोरम होगा और साल में एक वार अधिवेशन अवश्य होगा।

हाउस ऑव एसम्वली में ३७५ सदस्य होंगे। इनमें से २५० ब्रिटिश भारत के और १२५ देशी राज्यों के होंगे। ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि विभिन्न प्रान्तों में इस प्रकार होंगे—मद्रास ३७, वम्बई ३०, वंगाल ३७, संयुक्तप्रान्त ३७, पंजाव ३०, विहार ३०, मध्यप्रान्त व वरार १५, आसाम १०, सीमाप्रान्त ५, उड़ीसा ५, सिन्ध ५, ब्रिटिश विलोचिस्तान १, दिल्ली २, अजमेर १ और कुर्ग १। ३ प्रतिनिधि उद्योग-धन्धों के और १ मजदूरों का होगा। चुनाव साम्प्रदायिक आधार पर होगा।

असेम्बली का जीवन-काल ५ वर्ष होगा। उसकी अवधि नहीं बढ़ायी जायेगी। असेम्बली के सदस्यों का चुनाव परोक्ष रूप से प्रान्तीय असेम्बली के सदस्यों के आनुपातिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त के आधार पर होगा।

उपर्युक्त संघीय व्यवस्थापक-मण्डल के तीन अधिकार होंगे। (१) शासन-निरीक्षण (२) नियम-निर्माण और (३) आर्थिक।

गवर्नर-जनरल के सुरक्षित विषयों, विशेष उत्तरदायित्वों और व्यक्तिगत निर्णयों के कामों को छोड़कर, संघीय-मंत्रि-मंडल हस्तान्तरित विषयों के शासन में सामूहिक रूप से संघीय व्यवस्थापक-मण्डल के प्रति उत्तरदायी होगा। प्रत्येक सदस्य को नियमानुसार मंत्रियों से उनके कार्यों के बारे में प्रश्न पूछकर उत्तर माँगने का अधिकार होगा। वे शासन-विभाग की आलोचना करते हुए स्थगित प्रस्ताव भी रख सकेंगे। कानून बनाने की सुविधा के लिए शासन-विधान द्वारा समस्त विषय प्रान्तीय और संघीय दो श्रेणियों में विभाजित कर दिये हैं। संघीय व्यवस्थापक-मण्डल को सम्पूर्ण संघीय विषयों पर कानून बनाने का अधिकार होगा।

कौंसिल ऑव स्टेट तथा असेम्बली दोनों का एक-एक निर्वाचित अध्यक्ष-उपाध्यक्ष तथा प्रधान-उपप्रधान होगा।

प्रत्येक कानून दोनों सभाओं की स्वीकृति से बनाया जायेगा। गवर्नर-जनरल क़ानून बनाने के लिए दोनों का संयुक्त अधिवेशन भी आमंत्रित कर सकेगा। उसकी स्वीकृति के बिना कोई भी 'बिल' ऐक्ट नहीं बन सकेगा। गवर्नर-जनरल को स्वेच्छानुसार आर्डिनेंस जारी करने तथा कानून बनानें का भी अधिकार होगा। आवश्यकता पड़ने पर वह सारे शासन-विधान को स्थगित कर उसकी बागडोर अपने हाथ में ले सकेगा।

भारतीय संघ के प्रान्तों व राज्यों के पारस्परिक झगड़ों, विधान-संबंधी निर्णय तथा व्याख्या के लिए एक संघीय-न्यायालय होगा। इस न्यायालय में कोई भी मामला नियमानुसार निर्णय के लिए प्रस्तुत किया जा सकेगा और अपील भी की जा सकेगी। प्रान्तों में या देशी राज्यों

में यदि किसी अधिकार के संबंध में झगड़ा होगा, तो संघीय न्यायालय को निर्णय देने का अधिकार होगा।

संक्षेप में यह भारत के केन्द्रीय शासन की रूप-रेखा है। विधान के अनुसार-संघ शासन की स्थापना के लिए दो शर्तों की पूर्ति आवश्यक है :

(१) कम-से-कम इतने देशी राज्य संघ में शामिल होने के लिए तैयार हो जायें जो कौंसिल ऑव स्टेट में ५२ सदस्य भेज सकें और जिनकी जन-संख्या समस्त देशी राज्यों की जन-संख्या की आधी हो।

(२) प्रथम शर्त की पूर्ति के पश्चात, यदि ब्रिटिश पार्लमेंट की दोनों सभाएँ सम्राट से संघ-राज्य स्थापित करने की प्रार्थना करें, तो सम्राट इस आशय की घोषणा करेंगे कि अमुक तिथि से सम्राट के अधीन संघ-शासन स्थापित किया जाये।

जब सन् १९३५ में ब्रिटिश पार्लमेंट ने भारत का शासन-विधान स्वीकृत किया तभी से भारत के वायसराय लार्ड लिनलिथगो द्वारा देशी राज्यों को संघ में शामिल कराने के लिए प्रयत्न हो रहा था। परन्तु नरेशों ने अपनी स्वीकृति नहीं दी थी। इतने ही में सितम्बर १९३९ में इंग्लैंड और जर्मनी में युद्ध छिड़ गया और सरकार ने भारतीय संघ की स्थापना के प्रयत्न को अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया।

भारतीय लोकमत ब्रिटिश पार्लमेंट द्वारा प्रस्तावित इस संघ-योजना के विरुद्ध शुरू से ही है। कांग्रेस तो सम्पूर्ण शासन-विधान को अस्वीकार्य घोषित कर चुकी है और संघ-योजना के अनुसार शासन की स्थापना न होने देने के लिए भी वह प्रयत्न कर रही थी। मुस्लिम लीग भी संघ-योजना के विरुद्ध है, परन्तु उसका दृष्टिकोण और उद्देश्य भिन्न है। देशी राज्यों के नरेश भी इसके विरुद्ध हैं।

ऊपर कहा जा चुका है। कि भारतीय शासन-विधान के 'संघ-शासन' और 'प्रान्तीय स्वराज्य' दो प्रमुख अंग हैं। इनमें से 'प्रान्तीय स्वराज्य' की स्थापना भारत के ग्यारहों प्रान्तों में १ अप्रैल १९३७ से हो गयी है। अब प्रश्न यह है कि 'प्रान्तीय स्वराज्य' की स्थापना के बाद से 'संघ-शासन'

तक के काल में भारत का केन्द्रीय शासन किस प्रणाली पर होगा ? इस संक्रमण-काल में सपरिषद् गवर्नर-जनरल संघीय शासन-विभाग का काम करेगा और केन्द्रीय व्यवस्थापक-मण्डल संघीय व्यवस्थापक-मण्डल का। गवर्नर-जनरल की सारी जिम्मेदारियाँ नये विधान के अनुसार होंगी। वह भारत-मंत्री के आधीन होगा। फेडरल पबलिक सर्विस कमीशन, फेडरल रेलवे ऑथारिटी तथा फेडरल कोर्ट की स्थापना हो चुकी है। शासन-विधान में परिवर्तन पार्लमेंट द्वारा अथवा आर्डर-इन-कौंसिल द्वारा ही हो सकेगा।

प्रान्तीय शासन-प्रणाली

भारत में दो प्रकार के प्रान्त हैं (१) गवर्नर के प्रान्त और (२) चीफ कमिश्नर के प्रान्त। गवर्नरों से शासित ११ प्रान्त हैं—बंगाल, मद्रास, बम्बई, संयुक्त-प्रान्त, पंजाब, बिहार, उड़ीसा, आसाम, सिंध, सीमा-प्रान्त और मध्यप्रान्त तथा चीफ कमिश्नरों के प्रान्त हैं—ब्रिटिश बिलोचिस्तान, अजमेर-मेरवाड़ा, दिल्ली, कुर्ग, अन्डमान-निकोबार और पंथ-पिपलोदा।

सन् १९३५ के विधान के अनुसार केवल उपर्युक्त ११ गवर्नरों के प्रान्तों में ही उत्तरदायी शासन की स्थापना की गयी है। इसीको 'प्रान्तीय स्वराज' कहा जाता है। गवर्नर-जनरल की भाँति गवर्नरों को भी नियुक्ति के समय आदेश-पत्र मिलता है। इस आदेश-पत्र में यह बतलाया जाता है कि वे अपने अधिकारों का प्रयोग किस प्रकार कर सकते हैं ? गवर्नर उस व्यक्ति के परामर्श से अपने मंत्रियों को नियुक्त करेगा जिसके साथ, उसके विचार में, प्रान्तीय व्यवस्थापिका-सभा (असेम्बली) का बहुमत हो। वह अल्पसंख्यक जन-समुदायों के प्रतिनिधियों को जहाँ-तक संभव होगा, मिलाने की कोशिश करेगा और इस बात का ध्यान रखेगा कि समस्त मंत्रि-मंडल में व्यवस्थापक-मंडल को विश्वास हो। वह मंत्रि-मण्डल के संयुक्त उत्तरदायित्व पर जोर देगा। प्रान्तीय गवर्नर अपने शासन-संबंधी अधिकारों का उपयोग मंत्रियों के परामर्श से तबतक

करेगा जबतक उसके विशेष उत्तरदायित्वों को पूरा करने में कोई बाधा न पड़े। विशेष उत्तरदायित्वों को पूरा करने में बाधा पड़ने पर वह मंत्रियों के परामर्श से प्रतिकूल व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार कार्य-संपादन करेगा।

प्रत्येक प्रान्त के शासन में गवर्नर की सहायता करने और उसे परामर्श देनें के लिए एक मंत्रि-मंडल होता है। मंत्रि-मंडल के सदस्यों की संख्या निर्धारित नहीं है। किसी प्रान्त में ३ मंत्री हैं, किसी में १०, किसी में ६। मंत्रियों की नियुक्ति व्यवस्थापक-मंडल में बहुमत-दल के नेता के परामर्श से गवर्नर द्वारा की जाती है। उसी बहुमत-दल का नेता प्रधान-मंत्री होता है। प्रत्येक मंत्री का व्यवस्थापक-मण्डल का सदस्य होना आवश्यक है।

गवर्नरों के विशेष उत्तरदायित्व इस प्रकार हैं—

(१) प्रान्त या उसके किसी भाग में शान्ति-भंग करनेवाले खतरों को दूर करना;

(२) अल्प-संख्यक जनसमुदायों के उचित हितों की रक्षा करना;

(३) सरकारी नौकरियों के सदस्यों और उनके आश्रितों को शासन-विधान द्वारा दिये गये अधिकारों को दिलाना और उनके उचित अधिकारों की रक्षा करना;

(४) इंग्लैंड और ब्रह्मा के बने हुए आयात माल के संबंध में ऐसे कामों को रोकना जिनके कारण इस माल के साथ भेदभाव-संबंधी नीति का व्यवहार होता हो;

(५) प्रान्त के जिन भागों को नये शासन-विधान के अनुसार पृथक् घोषित किया जाये उनके शासन तथा सुव्यवस्था का प्रबंध करना;

(६) देशी राज्यों के अधिकारों और उनके नरेशों के अधिकारों और मर्यादा की रक्षा करना;

(७) गवर्नर-जनरल के उन आदेशों पर अमल करना जो वह अपने व्यक्तिगत निर्णय अथवा विवेक के द्वारा किये गये कार्यों के लिए जारी करे।

उपर्युक्त विषयों का शासन प्रान्तीय गवर्नर स्वेच्छानुसार करते हैं। इस प्रकार प्रान्तों में आज भी पूर्ण उत्तरदायी शासन-प्रणाली जारी नहीं है। उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त और भी कार्य हैं जिन्हें गवर्नर अपने विवेक या व्यक्तिगत निर्णय से करते हैं और जिनके लिए वे प्रान्तीय व्यवस्थापक-मण्डल के प्रति उत्तरदायी नहीं होते।

गवर्नरों के अधिकार

गवर्नरों को तीन प्रकार के अधिकार प्राप्त हैं—शासन-संबंधी (Executive), व्यवस्था-संबंधी (Legislative) तथा आर्थिक (Financial)।

(१) शासन-सम्बन्धी अधिकार—

(१) मंत्रि-मंडल की नियुक्ति;

(२) मंत्रि-मंडल के अधिवेशनों का सभापतित्व;

(३) एडवोकेट जनरल की नियुक्ति तथा पदच्युति;

(४) आतंकवाद के दमन के लिए विशेष व्यवस्था;

(५) मंत्रि-मंडल के कार्यों के संचालन के लिए नियम बनाना;

(६) वैधानिक शासन-पद्धति के असफल होने पर अपने विवेक के अनुसार घोषणा द्वारा उसके अन्तर्गत उल्लिखित सारे काम अपने विवेक या इच्छानुसार कर सकते हैं और आवश्यकतानुसार, हाई-कोर्ट के अधिकारों के अतिरिक्त, किसी भी प्रान्तीय शासन-संस्था के अधिकारों को स्वयं प्रयोग कर सकते हैं। इस प्रकार की घोषणा की सूचना भारत मंत्री द्वारा पार्लमेंट को देनी पड़ती है। छः मास बाद इसका कार्यकाल पार्लमेंट की स्वीकृति से बढ़ाया जा सकता है। इस घोषणा के अनुसार शासन अधिक-से-अधिक तीन वर्ष तक किया जा सकता है।[१]

---

१. यूरोपीय युद्ध के प्रश्न पर कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों द्वारा त्याग-पत्र दे देने के बाद नवम्बर सन् १९३९ से भारत के उन प्रान्तों (मद्रास, बम्बई, संयुक्तप्रान्त, मध्यप्रदेश, बिहार, उड़ीसा तथा सीमाप्रान्त) में गवर्नरों द्वारा परामर्शदाताओं की सहायता से शासन होरहा है। प्रान्तीय व्यवस्थापक-मण्डल स्थगित कर दिये गये हैं।

(२) व्यवस्था-संबंधी अधिकार—

(१) व्यवस्थापक सभाओं के अधिवेशन आमंत्रित करने तथा विसर्जन करने का अधिकार;

(२) व्यवस्थापक-मंडल भंग करनें का अधिकार;

(३) दोनों सभाओं के संयुक्त अधिवेशन आमंत्रित करना;

(४) सदस्यों या मंत्रियों का त्यागपत्र मंजूर करना;

(५) प्रान्तीय व्यवस्थापक-मंडल द्वारा पास कानूनों पर स्वीकृति देना या न देना गवर्नर-जनरल के लिए सुरक्षित रखना;

(६) किसी भी कानून के मसविदे को पुर्नविचार के लिए पुनः व्यवस्थापक सभा में भेजना;

(७) आर्डिनेंस जारी करना;

(८) गवर्नर के कानून वनाना और जारी करना;

(३) आर्थिक अधिकार—

(१) प्रान्तीय व्यय की सारी माँगें गवर्नर की सिफारिश पर प्रान्तीय व्यवस्थापक सभा में पेश की जाती हैं। व्यय के दो भाग हैं—

(अ) प्रांतीय व्यय का वह भाग जिसका उल्लेख विधान में किया गया है।

(ब) वह व्यय जिसकी माँग प्रथम भाग के अतिरिक्त पेश की जाती है।

अमुक माँग प्रथम भाग की है या द्वितीय की—इसका निर्णय गवर्नर पर निर्भर है। प्रथम भाग की माँग पर व्यवस्थापक सभा को मत देने का अधिकार नहीं है। द्वितीय भाग की माँगों पर सभा की राय जरूरी है।

प्रान्तीय व्यवस्थापक-मंडल

नये विधान के अनुसार भारत के केवल छः प्रान्तों वंगाल, मद्रास, वम्वई, संयुक्तप्रान्त, विहार और आसाम में व्यवस्थापक-मंडल के अन्तर्गत दो सभाएँ हैं जो कौंसिल और असेम्वली कहलाती हैं। शेष ५ प्रान्तों में केवल एक व्यवस्थापक सभा है जो असेम्वली कहलाती है। प्रान्तीय कौंसिलें स्थायी संस्थाएँ हैं और उनका कार्यकाल ९ वर्ष का है। प्रति

तीसरे वर्ष एक तिहाई सदस्य नये चुने जाते हैं। उसके संगठन का आधार सांप्रदायिकता है। असेम्बली की रचना भी साम्प्रदायिक हैं।[1]

व्यवस्थापक-मण्डल के अधिकार तीन प्रकार के हैं—(१) शासन-नियंत्रण (२) कानून निर्माण (३) आर्थिक।

(१) शासन-नियंत्रण—

प्रान्तीय गवर्नर अपने विवेक और व्यक्तिगत निर्णय के कामों को छोड़कर शेष सब कार्य अपने मंत्रि-मंडल की सहायता एवं परामर्श से करते हैं। गवर्नर के द्वारा किये जानेवाले उन कार्यों पर जिन्हें वे अपने व्यक्तिगत निर्णय या विवेक से करते हैं प्रान्तीय व्यवस्थापक-मण्डल का कोई अधिकार नहीं है। व्यवस्थापक-मण्डल का कोई भी सदस्य किसी भी सरकारी विभाग की नीति व कार्य के संबंध में प्रश्न पूछ सकता है और मंत्रियों को ऐसे प्रश्नों का उत्तर देना होता है। शासन-नीति के विरोध के लिए व्यवस्थापक सभा के अधिवेशन को स्थगित करने के लिए प्रस्ताव पेश किया जा सकता है। अविश्वास का प्रस्ताव स्वीकार हो जाने पर मंत्रि-मंडल को त्याग-पत्र देना पड़ता है।

---

१. प्रान्तीय कौंसिलों का संगठन इस प्रकार है—

प्रांत	सामान्य	मु०	यूरो०	हि०ईसाई	असेंबली द्वारा नियुक्त	गवर्नर द्वारा नियुक्त	योग
मद्रास	३५	७	१	३	...	८ से १०	५६
बम्बई	२०	५	१	...	...	३ से ४	३०
बंगाल	१०	१७	३	...	२७	६ से ८	६५
संयुक्तप्रांत	३४	१७	१	...	...	६ से ८	६०
बिहार	९	४	१	...	१२	३ से ४	३०
असाम	१०	६	२	...	...	३ से ४	२२

प्रान्तीय असेम्बलियों का संगठन इस प्रकार है—

प्रान्त	कुल सदस्य	हिन्दू	दलितों के सुरक्षित स्थान	पिछड़ी जातियाँ व प्रदेश	सिक्ख	मुसलमान	एंग्लो इंडियन	यूरोपियन	हिं० ईसाई	व्यापार-संघ	मजदूर	जमींदार	विश्वविद्यालय	महिला
मद्रास	२१५	१४६	३०	१	०	२८	२	३	८	६	६	६	१	८
बंगाल	१७५	११४	१५	१	०	२९	२	३	३	७	७	२	१	६
बम्बई	२५०	७८	३०	०	०	११७	३	११	२	१९	८	५	२	५
संयुक्तप्रांत	२२८	१४०	२०	०	०	६४	१	२	२	३	३	६	१	६
पंजाब	१७५	४२	८	०	३१	८४	१	१	२	१	३	५	१	४
बिहार	१५२	८६	१५	७	०	३९	१	२	१	४	३	४	१	४
मध्यप्रान्त	११२	८४	२०	१	०	१४	१	१	०	२	२	३	१	३
आसाम	१०८	४७	७	९	०	३४	०	१	१	११	४	०	०	१
सीमाप्रान्त	५०	९	०	०	३	३६	०	०	०	०	०	२	०	०
उड़ीसा	६०	४४	६	५	०	४	०	०	१	१	१	२	०	२
सिन्ध	६०	१८	०	०	०	३३	०	२	०	२	१	२	०	२

(२) नियम-निर्माण--

प्रान्तीय व्यवस्थापक-मंडल को उन समस्त निर्धारित विषयों पर कानून बनाने का अधिकार है जो प्रान्तीय सूची के अन्तर्गत विधान में उल्लिखित हैं।

(३) आर्थिक अधिकार---

मंत्रि-मंडल प्रति वर्ष आर्थिक वर्ष के आरम्भ होने से पूर्व सरकारी आय-व्यय का ब्यौरा व्यवस्थापक-मण्डल के समक्ष स्वीकृति के लिए रखता है। निम्नलिखित मुद्दों पर असेम्बली और कौंसिल में बहस की जा सकती है; परन्तु उनपर मत देने का उन्हें अधिकार नहीं है—

१. गवर्नर का वेतन, भत्ते और उसके कार्यालय का वह खर्च जिसकी व्यवस्था सपरिषद सम्राट द्वारा की गयी हो;

२. प्रान्तीय सरकारी ऋण-सम्बन्धी खर्च;

३. मंत्रियों तथा एडवोकेट जनरल का वेतन और भत्ता;

४. हाईकोर्ट के न्यायाधीशों का वेतन व भत्ता;

५. पृथक् प्रदेशों के शासन का व्यय;

६. किसी न्यायालय के निर्णय के अनुसार चुकायी जानेवाली रक़म;

७. कोई और खर्च जो शासन-विधान और प्रान्तीय व्यवस्थापक-मण्डल द्वारा इस प्रकार का घोषित किया गया हो।

स्थानिक स्वायत्त शासन

प्रत्येक गवर्नर का प्रान्त कई भागों में विभक्त होता है—प्रान्त का सबसे बड़ा भाग कमिश्नरी कहलाता है। एक प्रान्त में कई कमिश्नरियाँ होती हैं। कई ज़िलों को मिलाकर एक कमिश्नरी बनती है। कमिश्नरी का शासन कमिश्नर के आधीन होता है। वह इंडियन सिविल सर्विस (आई० सी० एस०) का सदस्य होता है। वह मालगुजारी तथा भूमि सम्बन्धी कार्यों का नियंत्रण करता है। वह जिलों के शासन का भी निरीक्षण करता है तथा स्थानिक बोर्डों का नियंत्रण भी उसीके अधी होता है।

प्रत्येक जिले का शासन-प्रवंध कलेक्टर के हाथ में होता है। वह जिले का प्रमुख शासक है। मुख्यतः उसके अधिकार मालगुजारी, शासन-प्रवन्ध, न्याय और निरीक्षण-सम्बन्धी हैं। मालगुजारी वसूलकरना कलेक्टर का प्रमुख काम है (जो कि नाम से ही स्पष्ट है)। जिले के शासन की देखभाल, जनता में शान्ति-व्यवस्था तथा नागरिकों के अधिकारों की सुरक्षा आदि उसके आनुषंगिक कार्य हैं। कलेक्टर जिले का प्रधान मजिस्ट्रेट भी होता है। शासन-प्रवंध के अतिरिक्त वह मुकद्दमों के फैसले करता है तथा डिप्टी कलेक्टरों के फैसलों की अपील सुनता है। जिले के प्रत्येक सरकारी विभाग के निरीक्षण करने का अधिकार कलेक्टर को है। वह भी इंडियन सिविल सर्विस का सदस्य होता है। कुछ डिप्टी कलेक्टर भी कलेक्टर वना दिये जाते हैं। सिविल सर्जन, जेल सुपरिन्टेण्डेन्ट, पुलिस सुपरिन्टेण्डेन्ट आदि उसके कार्य में योग देते हैं।

प्रत्येक जिले में कई तहसीलें होती हैं। इन्हें परगना भी कहते हैं। प्रत्येक परगना या कई परगने का एक अफ़सर होता है जो डिप्टी कलेक्टर कहलाता है। डिप्टी कलेक्टर प्रान्तीय सिविल सर्विस का सदस्य होता है। डिप्टी कलेक्टर के कार्य भी कई प्रकार के हैं। अपनें परगनें के शासन-प्रवंध की देख-रेख उसका प्रमुख कार्य है। वह फौजदारी और मालगुजारी के मुकद्दमे लेता है तथा तहसीलदारों के फैसलों की अपील भी सुनता है। प्रत्येक डिप्टी कलेक्टर जो परगना का अफसर होता है, प्रथम दर्जे का मजिस्ट्रेट होता है। प्रत्येक तहसील में एक तहसीलदार और उसकी सहायता के लिए एक नायव-तहसीलदार होता है।

म्यूनिसिपल वोर्ड

सामान्य तया औद्योगिक नगरों के प्रवंध के लिए चार प्रकार की स्थानीय संस्थाएँ होती हैं—(१) कॉरपोरेशन (२) म्यूनिसिपैलिटी (३) पोर्ट-ट्रस्ट (४) इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट।

मद्रास, वम्वई, कलकत्ता, करांची आदि वड़े-वड़े नगरों में म्यूनिसिपल वोर्ड को 'कॉरपोरेशन' और उसके अध्यक्ष को 'मेयर' कहते हैं।

म्युनिसिपैलिटी का शासन एक समिति के हाथ में होता है, जिसे 'म्युनिसिपल वोर्ड' कहते हैं। इस वोर्ड का चुनाव मतदाताओं द्वारा साम्प्रदायिक आधार पर होता है। निर्वाचन की सुविधा के लिए प्रत्येक शहर को कई वार्डों (हल्कों) में बांट दिया जाता है। प्रत्येक वोर्ड से सामान्यतया जनसंख्या के आधार पर १ से ३ तक सदस्य चुने जाते हैं। कुछ म्युनिसिपल वोर्डों में महिलाओं तथा दलित वर्गों के प्रतिनिधि सरकार द्वारा मनोनीत किये जाते हैं।

म्युनिसिपल वोर्ड के उम्मीदवारों की योग्यताएँ—वोर्ड के उम्मीदवारों की योग्यताएँ एकसी हैं। संयुक्तप्रान्त में प्रत्येक म्युनिसिपल मतदाता जो अंग्रेजी, हिन्दी या उर्दू पढ़ लेता हो, जो म्युनिसिपल नौकर न हो, जो म्युनिसिपल वोर्ड के किसी ठेके का ठेकेदार या हिस्सेदार न हो, जो वैतनिक मजिस्ट्रेट या पुलिस का अफसर न हो, या सरकारी कर्मचारी न हो, म्यूनिसिपल वोर्ड का सदस्य चुना जा सकता है।

निर्वाचन—पहले चुनाव के लिए मतदाताओं की सूची तैयार होती है। एक निश्चित तारीख तक प्रस्तावकगण उम्मीदवारों का (नाम-पता सहित) प्रस्ताव और अनुमोदन आवेदनपत्रों द्वारा पेश करते हैं और निश्चित तिथि को रिटर्निंग अफसर उनकी जाँच करके उन्हें स्वीकृत या रद्द करता है। प्रत्येक आवेदन-पत्र के साथ ५०) दाखिल करने पड़ते हैं। म्युनिसिपल वोर्ड के चुनाव के दिन सरकार छुट्टी घोषित करती है। फिर प्रत्येक वोर्ड में पर्चियों द्वारा उम्मीदवारों के मत लिये जाते हैं।

पदाधिकारी—जब इस प्रकार म्यूनिसिपल वोर्ड के सदस्यों का चुनाव हो जाता है तो सबसे पहली बैठक में उसके अध्यक्ष (चेयरमैन) और उपाध्यक्ष चुने जाते हैं।

वोर्ड में कुछ वेतनभोगी म्युनिसिपल पदाधिकारी भी होते हैं। जिनमें से मुख्य ये हैं—एक्ज़ीक्यूटिव ऑफिसर, हेल्थ ऑफिसर, म्युनिसिपल इञ्जीनियर, वाटर वर्क्स सुपरिण्टेण्डेण्ट, एजूकेशन सुपरिण्टेण्डेण्ट। इन उच्च पदाधिकारियों और अन्य छोटे कर्मचारियों की नियुक्ति वोर्ड

करता है और सुचारु रूप से काम चलाने के लिए अर्थ-समिति, शिक्षा-समिति, जल-व्यवस्था-समिति, पब्लिक वर्क्स कमेटी आदि उपसमितियाँ निर्वाचित करता है।

म्युनिसिपल बोर्ड अपने कार्य-संचालन में एक बड़ी सीमा तक स्वतन्त्र हैं; परन्तु कमिश्नर और सरकार का उनपर नियंत्रण होता है। नागरिक जीवन को अधिक-से-अधिक सुखी बनाना ही इनका मुख्य लक्ष्य है। वे जनता की प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था करते हैं, स्वास्थ्य की रक्षा के लिए नियमों का पालन कराते हैं, भोजन की शुद्धि और पवित्रता की रक्षा कराते हैं, मकान आदि बनाने के लिए मंजूरी देते हैं और अपने नगरवासियों पर अनेक तरह के कर भी लगाते हैं।

ज़िला-बोर्ड

ज़िले के प्रबन्ध के लिए प्रायः प्रत्येक ज़िले में एक बोर्ड होता है, जिन्हें प्रान्तीय सरकार बनाती है। भारत में कुल २०७ ज़िला बोर्ड हैं। इनकी भी रचना, संगठन, कार्य-प्रणाली, अधिकार इत्यादि म्युनिसिपल बोर्ड के समान ही हैं और चुनाव भी साम्प्रदायिक प्रणाली के आधार पर होता है।

ग्राम-पंचायतें

प्रत्येक प्रान्तीय सरकार अपने प्रान्त में ग्राम-पंचायत-क़ानून द्वारा ग्राम-पंचायतों की स्थापना करती है। (बंगाल में इन्हें यूनियन-बोर्ड कहा जाता है) ये ग्राम-पंचायतें ग्रामों के स्थानीय मामलों से सम्बन्ध रखती हैं। प्रत्येक ग्राम या कई ग्रामों की एक ग्राम-पंचायत होती है। इसकी सदस्य-संख्या ५ या इससे अधिक होती है। ग्राम-पंचायत के सदस्य, जिन्हें सरकार मनोनीत करती है, 'पंच' कहलाते हैं। कहीं-कहीं (जैसे मध्यप्रान्त में) पंचों का चुनाव होता है और कहीं-कहीं (जैसे संयुक्तप्रान्त में) उनकी नियुक्ति कलेक्टर करता है।

इन पंचायतों के अधिकार दो प्रकार के हैं—(१) न्याय-संबंधी और (२) शासन-संबंधी।

संयुक्त-प्रान्त में ग्राम-पंचायतें निम्नलिखित फ़ौजदारी-दीवानी झगड़ों की जाँच करतीं और फ़ैसले देती हैं—

(१) २५) रुपये तक के रुपये-पैसे के मुकद्दमे;

(२) साधारण मार-पीट या १०) रुपये तक की चोरी या १०) रुपये तक की हानि या जानबूझकर अपमान करने के फ़ौजदारी मुकद्दमे;

(३) जानबूझकर जानवर पकड़ने और स्वास्थ्य-सम्बन्धी बातों पर ध्यान न देने के मुकद्दमे।

ग्राम-पंचायतों को फ़ौजदारी के मामलों में १०) रुपये, मवेशियों के मामलों में ५) रुपये और स्वास्थ्य-सम्बन्धी मामलों में १) रुपये तक जुर्माना करने का अधिकार है, परन्तु मुचलके की कार्रवाई करने पर जमानत लेने अथवा क़ैद की सजा देने का अधिकार नहीं है।

पंचायतों के शासन-सम्बन्धी-कार्य निम्नलिखित हैं—

ग्रामों में सड़कें बनाना, रास्ते बनाना, नये कुएँ बनाना, तालाबों और कुओं की सफ़ाई, स्वास्थ्य-सम्बन्धी बातों की देखभाल; ग्रामवालों की शिक्षा, उनके खेल-तमाशों का प्रबन्ध, स्मशान-भूमि की व्यवस्था आदि। लेकिन बंगाल के 'यूनियन बोर्ड' के अधिकार क्षेत्र में सफ़ाई, सार्वजनिक हित के काम आदि की भी देखभाल होती है।

राष्ट्रीय नवजागरण

राष्ट्रीयता का उदय

पृथ्वीराज के पतन के बाद से ही मुस्लिम शासन की जड़ जमी, जो मुगल साम्राज्य के निर्मूल होने पर उखड़ी; किन्तु उसको निर्मूल करनेवाली भी एक विदेशी सत्ता ही थी। मुगल खानदान के सदियों लम्बे शासन-काल में ही अंग्रेजों ने भारतवर्ष में अपना सिक्का जमाने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया था। सन् १६०८ में व्यापार के लिए आये हुए अंग्रेजों ने सूरत नगर में अपनी पहली व्यापारिक कोठी बनायी। इसके तीन साल बाद इंग्लैण्ड के राजा ने सर टामस रो को जहाँगीर के दरबार में अपना राजदूत नियुक्त करके भेजा। इसी समय से भारत में

अंग्रेजी व्यापार की जड़ जम गयी। धीरे-धीरे तराजू के साथ-साथ तलवार का राज्य भी जमने लगा।

मुगल शासन-काल और कम्पनी के शासन-काल में भारतीय जनता पतन की सीमा तक पहुँच चुकी थी। राजनीतिक पराधीनता के साथ-साथ भारतवासियों में सामाजिक तथा धार्मिक पतन के लक्षण भी साफ़-साफ़ दिखायी देने लगे। दस्तकारियों और ग्रामोद्योगों के नाश के साथ-साथ संस्कृति, कला तथा साहित्य का भी ह्रास होने लगा। हिन्दू लोग ईसाई धर्म के प्रति आकर्षित होने लगे और अपनी भाषा, साहित्य और धर्म का परित्याग कर विदेशी (ईसाई) धर्म, संस्कृति तथा भाषा को अपनाने लगे।

एक ओर भारतीय जीवन में इस अवांछनीय परिवर्तन ने हिन्दू समाज के सामने एक भयानक समस्या ला दी; दूसरी ओर कम्पनी के शासक मनमाने ढंग से जनता का शोषण करने लगे। सन् १८५७ में जो भारतीय विद्रोह (ग़दर) हुआ वह इसी दुःशासन के प्रति विद्रोह था। यह भारत का अन्तिम सशस्त्र विद्रोह था जिसमें राजा-रंक सभी ने भाग लिया था।

इस प्रकार भारत में राष्ट्रीयता के उदय का बीज वहाँ के विदेशी शासन की दमन और शोषण-नीति में ही छिपा हुआ है।

हमारे आचार-विचार, धर्म, संस्कृति आदि की भावनाओं को बदलनेवाली हानिकर पाश्चात्य शिक्षा का एक लाभ यह भी हुआ कि भारतीयों में पश्चिम के नवीन राजनीतिक आदर्शों तथा सिद्धान्तों को ग्रहण करने की प्रवृत्ति हुई। भारतवासी विदेशों में अध्ययन के लिए गये और वहाँ के स्वतन्त्र वातावरण में उन्होंने नयी प्रेरणाएँ पायीं। विदेशों में स्वतन्त्रता और समानता का जैसा स्वरूप उन्होंने देखा, स्वदेश में वापस आने पर उसका उन्होंने अभाव पाया। इससे उन्हें अपनी हीन स्थिति का बोध हुआ। फलतः शिक्षित वर्ग में असन्तोष उठ खड़ा हुआ।

उन्नीसवीं सदी में राष्ट्रव्यापी धार्मिक पुनरुद्धार-आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। राजा राममोहनराय ने बंगाल में ब्राह्म-समाज की

स्थापना की। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर और श्री केशवचन्द्रसेन ने उनके कार्य में सहयोग दिया। बम्बई में प्रार्थना-समाज स्थापित हुआ। न्यायमूर्ति रानाडे, सर रामकृष्ण भंडारकर और सर नारायण चन्द्रावरकर ने बम्बई में हिन्दू-समाज-सुधार आन्दोलन की नींव डाली। श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने विधवा-विवाह आन्दोलन का श्रीगणेश किया। श्री प्यारीचरण सरकार ने मद्य-निषेध-आन्दोलन द्वारा जनता के स्वास्थ्य-निर्माण में योग दिया। महर्षि दयानन्द ने 'आर्य-समाज' की स्थापना करके उसके द्वारा ज्ञान-प्रचार से अंधविश्वासों या रूढ़ियों को छिन्न-भिन्न करने का काम किया। स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थ "सत्यार्थ-प्रकाश" में लिखा है कि "विदेशी राज्य से, चाहे वह कितना ही अच्छा क्यों न हो, स्वदेशी राज्य, चाहे उसमें कितनी ही त्रुटियाँ क्यों न हों, अच्छा होता है।" आर्य-समाज ने भारत में धार्मिक जाग्रति के साथ-साथ सामाजिक सुधार तथा राजनीतिक स्वाधीनता का भी मार्ग दिखाया।

मद्रास प्रान्त में थियोसॉफिकल सोसायटी (ब्रह्मविद्या-समाज) की स्थापना हुई। इसकी संचालिका श्रीमती ब्लावस्टकी और उनके सहयोगी कर्नल आलकर ने राष्ट्रीय जागरण में प्रमुख योग दिया। श्रीमती वासन्तीदेवी (ऐनी बीसेंट) ने इस कार्य को आगे बढ़ाया। प्राचीन भारतीय संस्कृति के पुनरुद्धार के लिए समाज ने पर्याप्त उद्योग किया। रामकृष्ण परमहंस और उनके योग्य शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने वेदान्त का भारत में ही नहीं विदेशों में, और विशेपरूप से अमरीका में भी प्रचार किया।

यद्यपि मूलतः ये आन्दोलन धार्मिक थे, किन्तु उनका एकमात्र लक्ष्य विदेशी जाति द्वारा शासित प्रजा में नवचेतना तथा नवजागरण की भावना उत्पन्न करना ही था। इन आन्दोलनों ने भारतवासियों के हृदय पर पुनः यह छाप लगादी कि आर्य-संस्कृति ही सर्वश्रेष्ठ है, वैदिक धर्म ही प्राचीन और सर्वश्रेष्ठ धर्म है, भारत का प्राचीन इतिहास बड़ा गौरवपूर्ण है आदि। इस विचारधारा से जनता में देशभक्ति की भावना उत्पन्न हुई।

धार्मिक पुनरुत्थान के साथ-साथ कला, साहित्य तथा औद्योगिक

क्षेत्रों में भी राष्ट्रीयता की भावना का प्रचार होने लगा। साहित्यकारों ने अपने नाटकों, काव्यों, कहानियों, उपन्यासों और लेखों द्वारा जनता में देशभक्ति तथा राष्ट्रीयता के भाव भरना शुरू किया।

राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना

जब भारत में हिमाचल से लेकर कन्याकुमारी और सिन्ध से लेकर ब्रह्मा तक राष्ट्रीय भावना का जागरण हो गया तो एक राजनीतिक संगठन की स्थापना की आवश्यकता अनुभव होना स्वाभाविक ही था। फलतः बंगाल में सन् १८५१ में **'ब्रिटिश भारतीय सभा'** (British Indian Association) की स्थापना हुई।

बम्बई तथा पूना में भी **'बाम्बे प्रेसीडेन्सी एसोसियेशन'** तथा **'पूना सार्वजनिक सभा'** खोली गयीं। सन् १८७६ में बंगाल में श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के नेतृत्व में **'इंडियन एसोसियेशन'** की स्थापना हुई, जिसका उद्देश्य बंगाल और सामान्यतया समस्त भारत में राजनीतिक आन्दोलन करना था। श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने उत्तरी भारत में भ्रमण करके अपने ओजस्वी व्याख्यानों तथा भाषणों द्वारा राजनीतिक चेतना उत्पन्न की। सन् १८७७ में देहली में राज-दरबार हुआ। इसमें भारत के सभी प्रसिद्ध नेता तथा राजा-महाराजा सम्मिलित हुए। ऐसा कहा जाता है कि इस सुविशाल दरबार को देखकर श्रीसुरेन्द्रनाथ बनर्जी के हृदय में एक अखिल भारतीय संस्था स्थापित करने का विचार आया और जब सन् १८८३ में कलकत्ता के एलबर्ट हाल में एक राजनीतिक सम्मेलन हुआ तो उसमें श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने एक अखिल भारतीय संस्था स्थापित करने पर जोर दिया। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि राष्ट्रीय महासभा की स्थापना के लिए सबसे पहले किसके हृदय में विचार पैदा हुआ; परन्तु यह तो निश्चित है कि देश में ऐसी संस्था की स्थापना के लिए वातावरण पहले से तैयार था। इंडियन सिविल सर्विस के अवकाश-प्राप्त सदस्य श्री एलेन ऑक्टेवियन ह्यूम ने इस दिशा में आगे पग बढ़ाया और २३ मार्च १८८५ में पूना में प्रथम राष्ट्रीय सभा (Indian National Union) बुलायी।

राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) की स्थापना

पूना में हैज़े के प्रकोप के कारण उपर्युक्त निश्चय के अनुसार सभा न हो सकी। इसलिए प्रथम अधिवेशन बम्बई में ता० २८ दिसम्बर १८८४ को हुआ। इसमें देश के ७२ प्रमुख नेता शामिल हुए। इस अधिवेशन में केवल ९ प्रस्ताव स्वीकार किये गये। इन प्रस्तावों का सारांश इस प्रकार है—

भारत में शासन-प्रबन्ध की जाँच की जाये; भारत-मन्त्री की कौंसिल भंग कर दी जाये; धारा-सभाओं में सुधार किये जायें; आई० सी० एस० की परीक्षाएँ भारत और लन्दन में साथ-साथ हों; सेना-व्यय में कमी की जाये तथा भारत में ब्रह्मा को न मिलाया जाये।

कांग्रेस का दूसरा अधिवेशन कलकत्ता में दादाभाई नौरोजी के सभापतित्व में हुआ। इसमें ४४० प्रतिनिधि शामिल हुए। प्रारम्भ में दो-तीन वर्षोंतक सरकारी अफ़सर तथा अंग्रेज कांग्रेस के कार्य में सहयोग देते रहे; परन्तु बाद में सरकारी अफ़सर इसके विरोधी हो गये।

वंग-भंग और स्वदेशी आन्दोलन

कुछ वर्षों तक कांग्रेस के कार्यक्रम में कोई रचनात्मक प्रवृत्ति नहीं रही। वह एक सुधारवादी वैधानिक संस्था थी। जनता से भी उसका सम्पर्क नहीं के बराबर था। उसके नेता उच्च-मध्यमवर्ग के धनी और उच्च-शिक्षित जन थे। लार्ड कर्जन की दमन-नीति और बंगाल के विभाजन से जनता में असन्तोष उठ खड़ा हुआ। इसके फलस्वरूप जनता राजनीतिक आन्दोलन में दिलचस्पी लेनें लग गयी। पूना में महामारी के प्रकोप के अवरोध के लिए जो उपाय काम में लाये गये, वे इतने कठोर थे कि जनता उनके कारण बड़ी पीड़ित थी। वंग-भंग का उद्देश्य सरकार ने बताया यह कि इससे शासन-प्रबन्ध में सुविधा मिलेगी; परन्तु वास्तव में इसका उद्देश्य भारतीय राष्ट्रीय जागरण को शिथिल कर देना था।

सरकार पूर्वी बंगाल में मुसलमानों का बहुमत बनाकर एक

समूचा मुस्लिम प्रान्त वना देना चाहती थी, जिससे वे हिन्दुओं के विरुद्ध हर समय आन्दोलन में लगे रहें। १९०५ की १९ जुलाई को सरकार ने वंग-भंग का प्रस्ताव स्वीकृत किया। इसके विरोध में वंगाल में घोर आन्दोलन किया गया; परन्तु इस विरोध पर भी सरकार ने १६ अक्टूबर १९०५ को वंगाल को दो प्रान्तों में वाँट ही दिया। इसी समय वंगाल में स्वदेशी-आन्दोलन का जन्म हुआ। विलायती वस्तुओं का वहिष्कार किया जाने लगा। वंग-भंग के दो परिणाम निकले। एक तो यह कि समस्त भारत में स्वदेशी-आन्दोलन व्याप्त हो गया और दूसरा यह कि इसके गर्भ से साम्प्रदायिकता को जन्म मिला। अवतक हिन्दू-मुस्लिम नाम की कोई समस्या नहीं थी। परन्तु इसी समम से यह समस्या अपने उग्ररूप में हमारे सामनें आ खड़ी ; ई।

स्वराज की माँग

सन् १९०८ में कांग्रेस का ध्येय इस प्रकार निश्चित किया गया:—

'कांग्रेस का उद्देश्य भारत की जनता के लिए एक ऐसी शासन-प्रणाली की स्थापना करना है जैसी ब्रिटिश साम्राज्यान्तर्गत उपनिवेशों में प्रचलित है। इसके साथ ही साथ ब्रिटिश साम्राज्य के दायित्वों एवं अधिकारों में समानता के साथ भाग लेना भी उसका एक उद्देश्य है। इन उद्देश्यों की प्राप्ति वैधानिक उपायों द्वारा ही की जाये……।'

सन् १९०६ में दादाभाई नौरोजी की अध्यक्षता में कांग्रेस ने अपना लक्ष्य 'स्वराज' की प्राप्ति घोषित कर दिया था। लोकमान्य वाल गंगाधर तिलक के शब्द—'स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है'—सारे देश में प्रतिध्वनित होने लगे। इसी समय कांग्रेस में दो दल पैदा हो गये—-नरम और गरम। जव सूरत में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ तो इन दोनों दलों में तीव्र मतभेद पैदा हो गया। इस अधिवेशन में गरम तथा नरम दोनों दलों में संघर्ष हो गया। लोकमान्य तिलक गरम-दल के नेता थे और सर फीरोजशाह मेहता तथा श्री सुरेन्द्रनाथ वनर्जी नरम-दल के। नरम-दल के नेताओं ने कांग्रेस का अधिवेशन हो जाने पर एक कमेटी

बनायी जिसमें कांग्रेस का विधान तैयार किया गया। वैध उपायों द्वारा भारत के लिए औपनिवेशिक स्वराज प्राप्त करना उसका लक्ष्य निर्धारित किया गया। गरम-दल के नेता इसके विरुद्ध थे, इसलिए सन् १९१६ तक वे कांग्रेस से पृथक् रहे और कांग्रेस पर नरम-दल का पूरा प्रभुत्व स्थापित हो गया।

यद्यपि लार्ड कर्जन भारत से विदा हो चुके थे तो भी सरकार का दमन-चक्र पूर्ववत् चल रहा था। कांग्रेस के गरम-दल के नेताओं का देश से निर्वासन किया गया और राजद्रोह के अपराध में नेताओं को राज-बन्दी बनाया गया। इसी काल में मिन्टो-मार्ले शासन-सुधार योजना के अनुसार भारत में नये शासन-सुधारों को कार्यान्वित किया गया। इस योजना द्वारा सर्वप्रथम साम्प्रदायिक चुनाव-प्रणाली को स्वीकार किया गया।

राष्ट्रीय आन्दोलन

गांधी-युग का आरम्भ

सन् १९१४ में यूरोप में जर्मनी और ब्रिटेन में महायुद्ध छिड़ा। ब्रिटिश सरकार की ओर से कांग्रेस के नेताओं को यह आश्वासन दिया गया कि महायुद्ध की समाप्ति पर भारत की आकांक्षा पूरी कर दी जायेगी। इस आशा से लाखों की संख्या में वीर भारतीयों ने यूरोप की रणभूमि में अपने प्राणों का होम किया तथा करोड़ों रुपये युद्ध-संचालन के निमित्त ब्रिटिश सरकार को दिये। महात्मा गांधी स्वयं युद्ध में घायलों की सेवा के लिए गये और बारडोली तथा खेड़ा आदि ग्रामों में उन्होंने सेना में भर्ती के लिए प्रचार किया। उस समय गांधीजी गाँव-गाँव में यह सन्देश सुनाते थे कि साम्राज्य की रक्षा से ही हमें स्वराज मिलेगा।

परन्तु राजभक्ति का पुरस्कार मिला—रौलट-कानून[१] के रूप में दमन। इस कानून का समस्त देश में घोर विरोध किया गया।

---

१ सन् १९१५ में भारत में क्रान्तिकारी-दल ने विप्लव की एक योजना बनायी; किन्तु उसका रहस्योद्घाटन हो जाने से वह सफल न

महात्मा गांधी ने रौलट-कानून के विरोध में सत्याग्रह-आन्दोलन शुरू किया। उनके आदेशानुसार ६ अप्रेल १९१९ को समस्त भारत में हड़ताल की गयी और सार्वजनिक उपवास रखा गया। पंजाब में घोर दमन हो रहा था। वहाँसे गांधीजी को निमंत्रण मिला। ८ अप्रैल १९१९ को जब वे मथुरा होकर रेल द्वारा पंजाब के लिए जा रहे थे, तब पलवल स्टेशन पर पुलिस ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया और बम्बई ले जाकर छोड़ दिया। अमृतसर के जलियाँवाला बाग और अहमदाबाद में हत्याकांड हुए और वहाँ मार्शल-लॉ (फौजी-कानून) जारी किया गया। नेताओं और कार्यकर्ताओं की गिरफ्तारी से देश में अशान्ति की आग सुलगती गयी।

दमन तथा शासन-सुधार

भारत में अंग्रेजी शासन की यह एक विशेषता रही है कि वह दमन के साथ-साथ शासन-सुधार की योजनाएँ भी तैयार करके उदार-दली भारतीयों का सहयोग प्राप्त करने के लिए उद्योग करती रही है। एक ओर १३ अप्रेल १९१९ को अमृतसर के जलियाँवाला बाग में एक सार्वजनिक सभा पर, जिसमें कोई २०,००० स्त्री-पुरुष मौजूद थे, जनरल डायर ने १५० सैनिकों से गोली चलवा दी, जिसमें ४०० व्यक्ति मारे गये तथा लगभग २००० व्यक्ति घायल हुए और दूसरी ओर भारत के वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड तथा भारत-मंत्री मि० माण्टेग्यू भारत में शासन-सुधार के लिए योजना तैयार कर रहे थे।

जब अमृतसर में दिसम्बर १९१९ में कांग्रेस का अधिवेशन होनेवाला था, तो उससे २-३ दिन पहले २४ दिसम्बर को ब्रिटिश सम्राट की ओर से भारत के शासन-विधान पर स्वीकृति के हस्ताक्षर कर दिये गये।

हो सकी। भारत सरकार ने दमन के लिए भारत-रक्षा-कानून बनाया। यह युद्ध-काल में जारी रहा और युद्ध के बाद भी इसे जारी रखा गया। स्थिति पर विचार करने के लिए जस्टिस रौलट की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की गयी जिसने यह सिफारिश की कि दमन जारी रखा जाये।

कांग्रेस के दोनों दलों में मतभेद इतना अधिक बढ़ गया था कि उनका मिलकर काम करना असंभव था। नरम-दल के कांग्रेसी शासन-सुधारों को कार्यान्वित कर प्रान्तों में पदग्रहण करना चाहते थे और गरम-दल इससे विरुद्ध था। अतः बम्बई में नरम-दल के लोग कांग्रेस से अलग हो गये और उन्होंने उसी वर्ष कलकत्ता में अखिल भारतवर्षीय उदार-संघ (All India Liberal Federation) की स्थापना की।

असहयोग-आन्दोलन

सन् १९२० में महात्मा गांधी ने 'असहयोग आन्दोलन' का श्रीगणेश किया। कलकत्ता-कांग्रेस ने महात्मा गांधी के नेतृत्व में असहयोग की नीति को स्वीकार किया। विद्यार्थियों ने सरकारी स्कूलों का बहिष्कार किया, वकीलों ने न्यायालयों का बॉयकॉट किया, व्यापारियों ने विदेशी कपड़ों का बहिष्कार किया तथा कांग्रेस-जनों ने धारासभाओं से त्याग-पत्र दे दिये। प्रान्तीय कांग्रेस कमिटियों को अपने-अपने प्रान्त में व्यक्तिगत सत्यागह संचालन करने की आज्ञा मिली। सबसे पहले गुजरात के बारडोली और आनन्द स्थानों में आन्दोलन किया गया।

इसी समय 'खिलाफ़त आन्दोलन' भी बड़े जोर से चलने लगा। मौलाना मुहम्मदअली और मौलाना शौकतअली गांधीजी के दाहिने हाथ थे। कांग्रेस में मुसलमानों की संख्या भी बढ़ गयी। १ फर्वरी १९२२ को गांधीजी ने वायसराय को इस आशय का एक पत्र लिखा कि एक सप्ताह में सरकार अपनी नीति में परिवर्तन कर दे अन्यथा बारडोली में सत्याग्रह किया जायेगा। यह पत्र वायसराय के पास नहीं पहुँचा कि गोरखपुर में चौरीचौरा की दुर्घटना से सारे देश में क्षोभ पैदा होगया। चौरीचौरा के पुलिस थाने पर कांग्रेस-भीड़ ने आक्रमण करके उसमें आग लगादी। १३ मार्च १९२२ को गांधीजी गिरफ्तार कर लिये गये। उनपर राजद्रोह का अभियोग लगाया गया और उन्हें ६ वर्ष क़ैद की सजा दी गयी। इसके बाद कांग्रेस-आन्दोलन में शिथिलता आगयी और कांग्रेस-जन कौंसिल-प्रवेश के लिए लालायित हो उठे।

स्वराज-दल का जन्म

दिसम्बर १९२२ में गया में देशबन्धु श्री चित्तरंजन दास के सभापतित्व में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। कांग्रेस में इस समय दो दल थे—एक परिवर्तनवादी और दूसरा अपरिवर्तनवादी।

परिवर्तनवादी कांग्रेस की नीति और कार्यक्रम में परिवर्तन चाहते थे। वे कांग्रेस द्वारा कौंसिल-प्रवेश का कार्यक्रम स्वीकार कराने के पक्ष में थे। स्वर्गीय श्री चित्तरंजनदास, पं० मोतीलाल नेहरू, श्री श्रीनिवास अयंगार, हकीम अजमल खाँ, श्री विट्ठल भाई पटेल आदि परिवर्तनवादी थे और श्री राजगोपालाचार्य, डा० अन्सारी आदि नेता अपरिवर्तनवादी थे। गया-कांग्रेस में पिछले दल का बहुमत था। इसलिए कौंसिलवादियों की इसमें पराजय हुई। सितम्बर १९२३ में मौलाना अबुलकलाम आज़ाद के सभापतित्व में देहली में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ जिसमें कौंसिल-प्रवेश का कार्य-क्रम स्वीकार किया गया। इस प्रकार कांग्रेस के अन्तर्गत स्वराज-दल की स्थापना की गयी। कांग्रेसवादी प्रान्तीय तथा केन्द्रीय धारासभाओं में सदस्य चुने गये। बंगाल की धारा-सभा में देशबन्धु चित्तरंजनदास के नेतृत्व में स्वराज-दल ने कार्य किया। केन्द्रीय धारासभा में पं० मोतीलाल नेहरू स्वराज-दल के नेता चुने गये। इस प्रकार अगले सत्याग्रह (१९३०) तक कांग्रेसवादी सदस्य कौंसिलों के भीतर कार्य करते रहे। वे असहयोग की जिस नीति को स्वीकार करके कौंसिलों में गये उसका पालन न कर सके। इसम शक नहीं कि विरोधी दलों के रूप में इन्होंने अवरोध-नीति का काफी प्रयोग किया।

सन् १९२७ में ब्रिटिश पार्लिमेंट ने भारतीय शासन-सुधारों की जाँच के लिए एक शाही कमीशन सर जान साइमन की अध्यक्षता में नियुक्त किया जिसमें ७ अंग्रेज सदस्य थे। इसमें एक भी भारतीय सदस्य नियुक्त नहीं किया गया। अतः कांग्रेस ने कमीशन का पूर्ण बहिष्कार किया। इसमें कांग्रेस को पूरी सफलता मिली।

पूर्ण स्वराज की ओर

मद्रास-कांग्रेस के प्रस्तावानुसार कांग्रेस कार्य-समिति ने भारत के लिए शासन-विधान बनाने के निमित्त एक सर्व-दल सम्मेलन (All Parties' Conferenec) आमंत्रित किया। फलतः फर्वरी १९२८ में भारत के सभी दलों का सम्मिलित अधिवेशन हुआ जिसमें निश्चय किया गया कि भारत में उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिए शासन-विधान की रचना की जाये। मई १९२८ में बम्बई में सम्मेलन का दूसरा अधिवेशन हुआ जिसने पं० मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में विधान की रूप-रेखा बनाने के लिए एक समिति नियुक्त की। इसने अगस्त १९२८ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। यह रिपोर्ट 'नेहरू-रिपोर्ट' के नाम से प्रसिद्ध है। लखनऊ के सर्वदल सम्मेलन के तीसरे अधिवेशन में वह स्वीकृत हुई। कलकत्ता में समस्त राजनीतिक दल, व्यापारिक तथा मजदूर-संघ विधान-निर्मात्री परिषद् (Constituent Assembly) के रूप में सम्मिलित हुए और एक प्रस्ताव द्वारा 'नेहरू-रिपोर्ट' को शासन-विधान के रूप में स्वीकार किया गया। परन्तु साम्प्रदायिक प्रश्न पर अन्तिम रूप से निर्णय न हो सका।

दिसम्बर १९२८ में कलकत्ता में पं० मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में कांग्रेस हुई। इसमें पूर्ण स्वराज तथा औपनिवेशिक स्वराज के प्रश्न पर बड़ा वादविवाद हुआ। पं० जवाहरलाल नेहरू तथा श्री सुभाषचन्द्र पूर्ण स्वराज के पक्ष में थे और पं० मोतीलाल नेहरू औपनिवेशिक स्वराज के पक्ष में। अन्त में एक प्रस्ताव द्वारा यह निश्चय किया गया कि ब्रिटिश सरकार 'नेहरू रिपोर्ट' को ३१ दिसम्बर १९२९ तक स्वीकार न करे तो कांग्रेस अपना ध्येय 'पूर्ण स्वराज' घोषित कर देगी। ३१ दिसम्बर १९२९ तक ब्रिटिश सरकार ने 'नेहरू-रिपोर्ट' को स्वीकार नहीं किया। पं० जवाहरलाल नेहरू के राष्ट्रपतित्व में लाहौर-कांग्रेस में 'पूर्ण स्वराज' का प्रस्ताव स्वीकार किया गया।

सत्याग्रह-आन्दोलन

सन् १९३० की २६ जनवरी को कांग्रेस की ओर से देशभर में

965

'स्वाधीनता-दिवस' मनाया गया। इस अवसर पर सार्वजनिक सभाओं में एक प्रतिज्ञा पढ़ी गयी। तबसे प्रति वर्ष यह राष्ट्रीय दिवस मनाया जाता है। कार्य-समिति नें १७ फर्वरी १९३० को सत्याग्रह-आन्दोलन शुरू करने का निश्चय किया। गांधीजी संचालक नियुक्त हुए। ✓ मार्च १९३० को महात्मा गांधी ने वायसराय लार्ड इर्विन के समक्ष अपने पत्र में निम्नलिखित ११ माँगे रखीं : मादक-द्रव्य-निषेध; एक रुपया १६ पैंस के बराबर माना जाये; मालगुजारी में ५०% कमी की जाये; सरकारी कर्मचारियों के वेतनों में ५०% कमी हो; सामुद्रिक तटकर-संरक्षण कानून बनाया जाये; राजनीतिक बन्दियों को रिहा कर दिया जाये; सन् १८१८ के रेग्यूलेशन ३ तथा दण्ड-विधान की धारा १२४ अ (राज द्रोह) को रद्द कर दिया जाये; निर्वासित भारतीयों को भारत में आनें की आज्ञा दी जाये; खुफिया विभाग या तो बन्द कर दिया जाये या भारतीय मंत्रियों के नियंत्रण में कर दिया जाये ;स्वदेशी वस्त्र-व्यवसाय के संरक्षण के लिए विदेशी वस्त्र-व्यवसाय पर अधिक कर लगाया जाये; आत्म-रक्षा के निमित्त अस्त्र-शस्त्रों के रखने की आज्ञा दी जाये।

वायसराय ने इन माँगों में से एक को भी स्वीकार नहीं किया। अत: १२ मार्च १९३० को गांधीजी ने नमक-कानून भंग करके सत्याग्रह आरम्भ कर दिया।

यह सत्याग्रह-आदोलन पूरे एक वर्ष तक जारी रहा। इसमें हजारों की संख्या में कांग्रेसवादियों को जेल-यात्रा करनी पड़ी। अन्त में सर तेजबहादुर सप्रू तथा श्री मुकुन्दराव जयकर के प्रयत्नों से लार्ड इरविन और गांधीजी में ५ मार्च १९३१ को समझौता हो गया। इसे 'गांधी-इर्विन समझौता' कहा जाता है। इसके अनुसार सत्याग्रह स्थगित कर दिया गया, ब्रिटिश मालका बहिष्कार बन्द कर दिया गया, कांग्रेस कानूनी संस्था घोषित कर दी गयी, समस्त कांग्रेसी बन्दी रिहा कर दिये गये, व्यक्तिगत उपयोग के लिए नमक बनाने की सुविधा मिल गयी; परन्तु नमक-कर कायम रहा।

गोलमेज-परिषद्

गांधी-इर्विन समझौते का भंग कई प्रान्तों में किया गया। कांग्रेस ने

सरकार पर इसका दोषारोपण किया और सरकार ने कांग्रेस पर। अन्त में महात्मा गांधी, पं० मदनमोहन मालवीय तथा श्रीमती सरोजिनी नायडू के साथ गोलमेज-परिषद (लन्दन) में कांग्रेस के प्रतिनिधि की हैसियत से भाग लेने गये।

जब २८ दिसम्बर १९३१ को वह वापस आये तो भारत की स्थिति बहुत ही नाजुक थी। किसानों में भारी संकट पैदा होगया था। महात्माजी के भारत आने से ५ दिन पूर्व ही पं० जवाहर लाल नेहरू, श्री तसद्दुक अहमद शेरवानी तथा श्री पुरुषोत्तमदास टंडन गिरफ्तार कर लिये गये। सीमाप्रान्त में खुदाई खिदमतगार नेता खान अब्दुलगफ्फ़ार खाँ और डा० खानसाहब भी गिरफ्तार किये जा चुके थे। जब गांधीजी भारत में आये तो उन्होंने वायसराय लार्ड विलिंगडन से भेंट करने के लिए आज्ञा माँगी; परन्तु उन्हें आज्ञा नहीं मिली। ४ जनवरी १९३२ को महात्माजी को भी राजबन्दी बना लिया गया।

ऐतिहासिक उपवास

१७ अगस्त १९३२ को ब्रिटिश प्रधान-मंत्री स्वर्गीय श्री रेमज़े मैकडानल्ड ने अल्प-संख्यक जातियों के प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में अपना 'साम्प्रदायिक निर्णय' (Communal Award) प्रकाशित कर दिया। गोलमेज परिषद में महात्माजी अपने एक भाषण में यह कह चुके थे कि यदि दलित जातियों को पृथक् निर्वाचन दिया गया तो मैं अपने प्राणों की आहुति देकर भी उसका विरोध करूँगा। इस निर्णय में दलित जातियों के लिए 'विशेष निर्वाचन-पद्धति' निर्धारित की गयी, जिसके अनुसार दलित जातियों के मतदाताओं को अपने निर्वाचन-क्षेत्र में अपने उम्मीदवारों को चुनने का अधिकार दिया गया और साथ ही उन्हें हिन्दुओं के चुनाव में मत देने और खड़े होने का भी अधिकार दिया गया।

गांधीजी ने इस निर्णय की दलित जातियों-संबंधी चुनाव-व्यवस्था के विरोध में यरवदा जेल में २० सितम्बर १९३२ को उपवास आरम्भ

किया। उनकी जीवन-रक्षा के लिए देश भर में प्रार्थनाएँ की गयीं तथा वम्वई और पूना में दलित जातियों तथा हिन्दू नेताओं का सम्मेलन हुआ जिसके अध्यक्ष पं० मदनमोहन मालवीय थे। इसमें परस्पर दोनों पक्षों में समझौता हो गया और २५ सितम्वर को गांधीजी ने व्रत छोड़ा। इसके वाद गांधीजी यरवदा जेल से 'हरिज़न-आन्दोलन' का संचालन करने लगे।

८ मई १९३३ में गांधीजी ने पुनः आत्म-शुद्धि के लिए व्रत रखा। गांधीजी जेल से मुक्त कर दिये गये। मुक्ति के वाद गांधीजी ने राष्ट्रपति से यह सिफारिश की कि सत्याग्रह-आन्दोलन १½ मास के लिए स्थगित कर दिया जाये। अतः आन्दोलन स्थगित हो गया।

१२ जुलाई १९३३ को पूना में कांग्रेस-जनों का एक सम्मेलन स्थिति पर विचार करने के लिए हुआ। इसमें यह निश्चय किया गया कि समझौते के लिए गांधीजी वायसराय से मिलें। परन्तु वायसराय नें इसे स्वीकार नहीं किया। १ अगस्त को गांधीजी ने पुनः रास गाँव में सत्याग्रह करने का विचार किया। परन्तु वह पहले ही गिरफ्तार कर लिये गये। ४ अगस्त १९३३ को वह छोड़ दिये गये और उन्हें कहा गया कि यरवदा से वाहर रहें। गांधीजी ने यह आज्ञा नहीं मानी, अतः उन्हें ½ ंटे में फिर गिरफ्तार कर लिया गया और १ वर्ष की सज़ा दी गयी। जेल में हरिजन-कार्य सम्वन्धी सुविधाओं के न मिलने पर उन्होंने फिर १६ अगस्त से व्रत रखा। २३ अगस्त को उनकी हालत वहुत नाजुक हो गयी, और उन्हें मुक्त किया गया। तव उन्होंने यह प्रण किया कि मैं ४ अगस्त १९३४ तक कोई ऐसा कार्य नहीं करूँगा जिससे जेल जाना पड़े। तवसे वह अपना सारा समय हरिजन-सेवा में लगाने लगे।

विधानवाद की ओर

देहली में ३१ मार्च १९३४ को डा० अंसारी के सभापतित्व में कांग्रेस-जनों का एक सम्मेलन हुआ, जिसमें यह स्वीकार किया गया कि स्वराज-दल की पुनःस्थापना की जाये। यह भी निश्चय किया गया कि

केन्द्रीय धारासभा के चुनावों में भाग लिया जाये। मई १९३४ में राँची में कांग्रेसवादियों का एक दूसरा सम्मेलन हुआ। इसमें पहले सम्मेलन के प्रस्तावों को स्वीकार किया गया। १८ व १९ मई १९३४ को पटना में कांग्रेस-कार्य-समिति और अखिल भारतवर्षीय कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन हुए, जिनमें सत्याग्रह-आन्दोलन को स्थगित करने तथा कौंसिल-प्रवेश का कार्यक्रम स्वीकार करने के सम्बन्ध में प्रस्ताव स्वीकार किये गये।

तदनुसार दिसम्बर १९३४ में कांग्रेस ने केन्द्रीय चुनावों में भाग लिया और उसे आशातीत सफलता मिली।

नया शासन-विधान और कांग्रेस

सन् १९३५ में जो नया शासन-विधान बनाया गया था उसे कार्यान्वित करने के लिए तैयारियाँ होनें लगीं। सन् १९३६ के नवम्बर मास से ही चुनाव-संग्राम शुरू हो गया। भारत के ११ प्रान्तों में से ७ में धारासभाओं के चुनावों में कांग्रेस सफल हुई।

संयुक्तप्रान्त, बम्बई, मध्यप्रान्त, मद्रास, बिहार, उड़ीसा में और बाद में सीमा-प्रान्त में कांग्रेस का बहुमत हो गया। इन प्रान्तों में कांग्रेस शासन-भार को ग्रहण करनें में समर्थ थी। अतः कांग्रेस में दो प्रकार के दल पैदा हो गये। एक दल मन्त्रि-पद ग्रहण करने के पक्ष में था और दूसरा इसके विरुद्ध।

जब दिल्ली में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में पद-ग्रहण के प्रश्न पर विचार किया गया, तो ऐसा प्रतीत होता था कि इस विषय पर कांग्रेस में तीव्र मतभेद हो जायेगा; परन्तु महात्मा गांधी ने पद-ग्रहण का प्रस्ताव अपने प्रभाव से इस शर्त के साथ स्वीकार करा लिया, कि गवर्नर अपने विशेषाधिकारों को प्रयोग न करने का आश्वासन दे दें। ऐसा आश्वासन न मिलने के कारण, कांग्रेस ने ३ मास तक मन्त्रिमण्डल नहीं बनाये। अन्त में स्थिति का स्पष्टीकरण हो जाने पर जुलाई १९३७ में ६ प्रान्तों में कांग्रेस के मन्त्रि-मण्डल बने, बाद में

सीमाप्रान्त और आसाम में भी मन्त्रि-मण्डल बनाये गये। इस प्रकार ८ प्रान्तों में कांग्रेस का शासन स्थापित हो गया।

कांग्रेस संघ-शासन का विरोध तथा विधान का अन्त करने के लिए धारा-सभाओं में गयी थी। इस कार्य में उसे कहाँ तक सफलता मिली, यह नहीं कहा जा सकता, परन्तु इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि कौंसिलों में जाकर कांग्रेस अपने वास्तविक कार्यक्रम और लक्ष्य से दूर हटकर 'शासन-संचालन' में तल्लीन हो गयी। हाँ, कुछ रचनात्मक कार्य अवश्य आरम्भ हुआ, जिससे कई लोकोपकारी सुधार हुए—मादक द्रव्य-निषेध, ग्राम-सुधार, जेल-सुधार तथा शिक्षा-सुधार।

कांग्रेस मन्त्रि-मण्डलों का पद-त्याग

१ सितम्बर १९३९ को यूरोप में इंग्लैण्ड और जर्मनी में महायुद्ध छिड़ गया। भारत के वायसराय ने यह घोषणा कर दी कि इस यूरोपीय युद्ध में भारत भी ब्रिटेन के साथ है। ऐसी घोषणा करने का विधान के अनुसार वायसराय को पूरा अधिकार था। परन्तु कानूनी दृष्टि से अधिकार होनें पर भी नैतिक दृष्टि से यह उचित था कि भारत को युद्ध में सम्मिलित करनें से पहले भारतीय नेताओं से परामर्श किया जाता। इस स्थिति से भारतीय लोकमत बड़ा विक्षुब्ध हो गया और कांग्रेस भारत-सरकार की इस नीति से असन्तुष्ट हो गयी।

१४ सितम्बर १९३९ को कांग्रेस कार्य-समिति ने एक घोषणा-पत्र प्रकाशित किया। इसमें कांग्रेस ने अंग्रेज सरकार से कहा कि वह युद्ध और शान्ति के उद्देश्यों की घोषणा करे। यदि यह युद्ध वास्तव में प्रजातन्त्र और स्वाधीनता की रक्षा के लिए है, तो क्या ब्रिटिश-सरकार इन सिद्धान्तों को भारत में भी लागू करना चाहती है? इस घोषणा का सरकार ने कोई सन्तोषप्रद उत्तर नहीं दिया।

कांग्रेस की ओर से यह स्पष्ट कर दिया गया कि कांग्रेस पूर्ण स्वाधीनता चाहती है अतः भारत को स्वाधीन राष्ट्र घोषित कर दिया जाये। भारत का शासन-विधान-निर्माण करने का अधिकार वयस्क

मताधिकार द्वारा चुनी हुई विधान-निर्मात्री-परिषद् (Constituent Assembly) को ही होना चाहिए ।

ब्रिटिश सरकार ने भारत में 'औपनिवेशिक स्वराज' की स्थापना को अपना अन्तिम लक्ष्य घोषित कर दिया है, जैसा कि वह पिछली वार भी कई वार घोषित कर चुकी है। उसने इस वार यह और जोड़ दिया है कि औपनिवेशिक स्वराज शीघ्र से शीघ्र दिया जायेगा और वह सन् १९३० के वैस्टमिस्टर-कानून (Westminster Statute) के ढंग का होगा। परन्तु अभी तक पार्लिमेंट ने इस सम्बन्ध में कोई घोषणा नहीं की। यह भी निश्चय-पूर्वक नहीं कहा गया है कि औपनिवेशिक स्वराज कब स्थापित किया जायेगा ?

८ अगस्त १९४० को वायसराय ने जो घोषणा की, उससे स्थिति में परिवर्तन नहीं हुआ। इस प्रकार भारत की इस वैधानिक समस्या को सुलझाने का लगातार दोनों ओर से प्रयत्न किया गया, परन्तु इसमें सफलता नहीं मिली।

युद्ध-विरोधी सत्याग्रह

समझौते के लिए एक साल तक घोर प्रयत्न करने के वाद महात्मा गांधी ने प्रकट किया कि जव आज स्वयम् इंग्लैण्ड संकट में है, तो भारत को उससे अपनी स्वाधीनता मांगना उचित नहीं है। एक भाषण में गांधीजी ने स्पष्ट शब्दों में यह भी कहा कि स्वाधीनता मांगने से प्राप्त नहीं की जा सकती। उसके लिए शक्ति की आवश्यकता है।

तदनुसार स्वाधीनता के प्रश्न को अलग रखकर उन्होंने भाषण-स्वातन्त्र्य के प्रश्न पर अक्तूवर १९४० में देशव्यापी व्यक्तिगत सत्याग्रह आरम्भ किया। गांधीजी तथा कांग्रेस, जिसके वह अधिनायक हैं, वर्तमान युद्ध में इंग्लैंड को सहायता नहीं देना चाहती। साथ ही गांधीजी इस युद्ध में ब्रिटेन की हार भी नहीं चाहते। वह ब्रिटेन के युद्ध-प्रयत्न में किसी प्रकार की वाधा डालना नहीं चाहते। परन्तु वर्तमान युद्ध में भारत का भाग लेना या सहायता देना अनैतिक और हिंसात्मक मानते हैं। उनके

द्वारा संचालित इस सत्याग्रह-आन्दोलन में सत्याग्रहियों ने युद्ध-विरोधी नारा लगाकर सत्याग्रह किया और जेल गये।

मुस्लिम लीग की राजनीति

इसमें थोड़ा भी शक नहीं कि भारतीय राष्ट्रीय-जीवन को विषैला बनाने म सबसे अधिक काम साम्प्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली ने किया है। सन् १९०९ में ब्रिटिश सरकार ने भारत में मुसलमानों की पृथक चुनाव की माँग को मंजूर कर वास्तव में एक बड़ी भारी भूल की और सबसे भयंकर भूल तो कांग्रेस ने की—जब सन् १९१६ में उसनें लखनऊ-पैक्ट को स्वीकार करके साम्प्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली को भी स्वीकार कर लिया।

कांग्रेस की दुर्बल नीति तथा कांग्रेस-मन्त्रि-मण्डलों की मुस्लिम-पक्षीय नीति ने अखिल-भारतीय मुस्लिम लीग और उसके सर्वेसर्वा श्री मुहम्मदअली जिन्ना को एक शक्तिशाली व्यक्तित्व और सत्ता प्रदान कर दी। आज भारत की मुस्लिम राजनीति पर उनका प्रभाव है, चाहे मुस्लिम जनता पर उनका प्रभाव भले ही न हो। 'प्रजातन्त्र' अध्याय में कहा जा चुका है कि मुस्लिम लीग ने उनके सभापतित्व में मार्च १९४० के लाहौर-अधिवेशन तथा अप्रैल १९४१ के मद्रास-अधिवेशन में 'पाकिस्तान' का नारा लगाया है और आज वह भारत में 'पाकिस्तान' की स्थापना के लिए प्रयत्नशील हैं।

संकीर्ण साम्प्रदायिकता के फलस्वरूप ही सन् १९४१ के अप्रैल मास से पूर्व जिस मुस्लिम लीग का लक्ष्य भारत में पूर्ण स्वाधीनता की स्थापना करना था उसीका लक्ष्य उस वर्ष से भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना हो गया है।

इसमें सन्देह नहीं कि 'पाकिस्तान'-योजना का एक स्वर से सभी हिन्दुओं, कांग्रेस-जनों, सिक्खों तथा ईसाइयों ने विरोध किया है। भारत की दलित जातियाँ भी उसके विरुद्ध हैं। अप्रैल १९४० में दिल्ली में 'अखिल भारतीय आज़ाद-मुस्लिम-सम्मेलन' ने भी 'पाकिस्तान' का घोर विरोध किया।

इस सम्मेलन में मुसलमानों की प्रमुख प्रभावशाली संस्थाओं ने भाग लिया जिनमें निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय हैं—(१) मजलिसे अहरार (२) जमीयत-उल्-उलेमा-ए-हिन्द (३) विहार मुस्लिम स्वतन्त्र दल (४) अंजुमन-ए-वतन (५) अखिल भारतीय मोमिन सम्मेलन (६) राष्ट्रीय मुस्लिम।

इसमें शक नहीं कि भारत की वैधानिक उलझन के समाधान में साम्प्रदायिक समस्या एक वड़ी भारी अड़चन है। इसके समाधान पर ही भारत का भविष्य निर्भर है।

नरम-दल की राजनीति

आज से वीस वर्ष पूर्व भारत में पुराने नरम-दली कांग्रेसजनों नें त्याग-पत्र देकर अखिल-भारतीय उदार-संघ की स्थापना की।

यह उदार-संघ भारत के उच्चशिक्षित, सुसंस्कृत तथा अर्द्ध-सरकारी पूंजीपतियों का संघ है। इसका संगठन कांग्रेस-जैसा नहीं है, वल्कि उच्चकोटि के नेताओं का एक संघ है जिसका जनता से कोई सम्पर्क नहीं है। यही कारण है कि प्रान्तीय धारा-सभाओं में इसका कोई प्रतिनिधित्व नहीं है। हाँ, केंद्रीय व्यवस्थापक-मण्डल—लेजिस्लेटिव असेम्वली तथा कौंसिल ऑव स्टेट (जो मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड की योजना के अनुसार वनायी गयी थीं) में इनके कुछ सदस्य हैं। इस संघ के प्रसिद्ध नेताओं में सर तेजवहादुर सप्रू, पं० हृदयनाथ कुंजरू, माननीय प्रकाशनारायण सप्रू, सर कवासजी जहांगीर, सर चिमनलाल सीतलवाद, माननीय श्रीनिवास शास्त्री आदि प्रमुख हैं। इसका न कोई आर्थिक कार्यक्रम है न सामाजिक। इसका राजनीतिक लक्ष्य है—भारत में भारतवासियों के लिए औपनिवेशिक स्वराज प्राप्त करना। सीधी कार्रवाई से लिवरल लोग अलग रहते हैं। इसीलिए वे केवल प्रस्तावों द्वारा सरकार की नीति की आलोचना करने में ही सन्तुष्ट हो लेते हैं और उसके साथ सहयोग के लिए हर हालत में तैयार रहते हैं। वे स्थापित हितों(Vested Interests) की रक्षा तथा वस्तुस्थिति (Status quo) को ज्यों-का-त्यों कायम रखने के पक्ष में हैं।

उनका विकासवाद में विश्वास है, क्रान्ति में विश्वास नहीं है और वे शान्तिमय साधनों द्वारा अपनी उन्नति चाहते हैं। विधान-निर्मात्री-परिषद् का तरीका भी उनकी विचारधारा के अनुकूल नहीं है। वर्तमान् युद्ध में यद्यपि वे ब्रिटिश सरकार की भारत-सम्बन्धी-नीति से असन्तुष्ट हैं, तो भी सरकार को हर प्रकार की सहायता दे रहे हैं। उदार-दल के सरकारी तथा अर्द्ध-सरकारी नेताओं ने बम्बई में एक निर्दल-नेता-सम्मेलन का आयोजन किया था। सर तेजबहादुर सप्रू उसके अध्यक्ष थे। इस सम्मेलन के नरम प्रस्ताव तक को भारत-मन्त्री ने पसंद नहीं किया। इससे सर सप्रू तथा अन्य नेताओं को घोर निराशा हुई।

हिन्दू-महासभा की राजनीति

'हिन्दू महासभा' की स्थापना २० वर्ष पूर्व हिन्दू-धर्म, संस्कृति तथा हिन्दुत्व की रक्षा के उद्देश्य से की गयी थी। प्रारम्भ में यह धार्मिक संस्था थी। इसका कार्यक्रम भी सामाजिक तथा धार्मिक था; परन्तु विगत १० वर्षों में वह एक राजनीतिक संस्था के रूप में बदल गयी है। भाई परमानन्द तथा वीर विनायक दामोदर सावरकर के शक्तिशाली नेतृत्व में हिन्दू महासभा का आन्दोलन अब अत्यन्त शक्तिशाली हो गया है। हिन्दू महासभा का लक्ष्य हिन्दू संस्कृति, हिन्दू धर्म तथा हिन्दू-हितों की रक्षा करना तो है ही साथ-ही-साथ वह भारत की पूर्ण स्वाधीनता की प्राप्ति को भी अपना लक्ष्य मानती है। अभीतक वह वैध और शान्तिमय उपायों द्वारा आन्दोलन करती रही है। दिसम्बर १९४० में मदुरा-अधिवेशन में महासभा ने ब्रिटिश सरकार को यह चुनौती दी थी कि वह ३१ मार्च १९४१ तक भारत को औपनिवेशिक स्वराज प्रदान कर दे, अन्यथा महासभा उसके विरुद्ध सीधी कार्रवाई (Direct-Action) शुरू कर देगी। परन्तु इस अवधि के बीत जाने पर भी हिन्दू-महासभा ने ऐसा आन्दोलन आरम्भ नहीं किया। हाँ, हैदराबाद में हिन्दू-हितों की रक्षा के लिए महासभा ने सत्याग्रह किया जिसमें उसे सफलता भी मिली।

भारतीय ईसाई और राष्ट्रीयता

भारतीय ईसाई भारत के राष्ट्रीय जीवन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। समस्त भारत के भारतीय ईसाइयों की अखिल भारतीय संस्था 'अखिल भारतवर्षीय भारतीय ईसाई सम्मेलन' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके वर्त्तमान अध्यक्ष डा० रामचन्द्र राव हैं। यद्यपि भारतीय ईसाई अपने को अल्पसंख्यक मानते हैं, तो भी इस आधार पर मुस्लिम-लीगवालों की तरह वे भारत की वैधानिक प्रगति तथा राष्ट्रीय-जीवन के विकास में बाधक बनकर अपने को कलंकित करना नहीं चाहते।

भारतीय ईसाई-सम्मेलन भारत में पूर्ण स्वाधीनता और प्रजातंत्र राज्य की स्थापना चाहता है। सन् १९३८ में दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में अखिल भारतवर्षीय ईसाई सम्मेलन में यह प्रस्ताव स्वीकार किया जा चुका है कि भारतीय ईसाई सुरक्षित स्थानों के साथ संयुक्त-निर्वाचन-प्रणाली को स्वीकार करने के लिए तैयार हैं। दिसम्बर १९४० में लखनऊ में ईसाई सम्मेलन ने 'पाकिस्तान'-योजना की घोर निन्दा की और उसे देश के लिए घातक बतलाया। इससे प्रकट होता है कि वह साम्प्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली के विरुद्ध है। ईसाई वर्ग में राष्ट्रीयता की यह भावना भारत के लिए एक शुभ लक्षण है।

दलित-वर्ग और उसकी राजनीति

भारत में हिन्दू-समाज के अन्तर्गत ६ करोड़ ऐसी जातियाँ हैं, जो इस युग में भी राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक समान-अधिकारों से वंचित हैं। सन् १९१९ में जब मॉन्टेग्यू-चेम्सफोर्ड-योजना के अनुसार भारत में प्रान्तीय तथा केन्द्रीय धारा-सभाओं का संगठन किया गया, तब वायसराय तथा प्रान्तीय गवर्नरों को यह आदेश दिया गया कि प्रत्येक प्रान्त में दलित जातियों के एक-दो प्रतिनिधि नामजदगी द्वारा धारासभाओं में लिये जायें।

इसके अनुसार नियुक्तियाँ की गयीं। बाद में प्रत्येक प्रान्त के जिला-बोर्डों तथा म्यूनिसिपल बोर्डों के कानूनों में संशोधन किया गया और

प्रत्येक ज़िला-वोर्ड तथा चुंगी में इन जातियों का एक सदस्य मनोनीत किये जाने की व्यवस्था की गयी। नये क़ानून के कार्यान्वित होने तक यही व्यवस्था क़ायम रही। दलित-वर्ग के प्रसिद्ध नेता वैरिस्टर भीमराव अम्वेडकर तथा रायवहादुर एम० सी० राजा ने गोलमेज-परिषद् के समक्ष दलित समुदाय की ओर से पृथक् निर्वाचन की माँग रखी। प्रधान-मन्त्री श्री रेमजे मैकडानल्ड ने इसे स्वीकार कर लिया। महात्मा गांधी के अनशन के फलस्वरूप इसमें संशोधन किया गया और सरकार ने इसे स्वीकार कर लिया। यह संशोधन ही 'पूना समझौता' के नाम से प्रसिद्ध है। जिसकी धाराएँ इस प्रकार हैं :

१. प्रान्तीय धारा-सभाओं में दलित-वर्ग के लिए सामान्य निर्वाचन-क्षेत्रों में कुल १५१ स्थान (मद्रास में ३०, वम्वई में १५, पंजाव में ८, विहार में १५, उड़ीसा में ६, मध्यप्रान्त में २०, संयुक्तप्रान्त में २०, आसाम में ७ और वंगाल में ३०) सुरक्षित किये जायें।

२. इन सुरक्षित स्थानों के लिए संयुक्त-चुनाव-प्रणाली इस प्रकार होगी—

दलित जातियों के सदस्य निर्वाचन-क्षेत्र की सामान्य निर्वाचन-सूची (General Electoral Roll) में अपना नाम दर्ज करायेंगे। वे सदस्य एक निर्वाचन-मण्डल वनायेंगे जो उनके लिए प्रत्येक स्थान के निमित्त ४ उम्मीदवारों का एक मण्डल (पेनल) चुनेगा। प्रत्येक मतदाता को एक मत देने का अधिकार होगा। प्रथम चुनाव में जिन चार उम्मीदवारों को सवसे अधिक मत प्राप्त होंगे, वे सामान्य संयुक्त चुनाव में खड़े हो सकेंगे।

३. केन्द्रीय धारा-सभा में दलित वर्ग का प्रतिनिधित्व संयुक्त चुनाव के आधार पर होगा और सुरक्षित स्थानों के लिए प्राथमिक चुनाव दूसरी धारा के अनुसार होगा।

४. केन्द्रीय धारा-सभा में व्रिटिश भारत के लिए सामान्य निर्वाचन-क्षेत्रों की १८% जगहें दलित जातियों के लिए सुरक्षित रहेंगी;

५. प्राथमिक चुनाव की प्रणाली, यदि पहले से पारस्परिक चुनाव

द्वारा रद्द न करदी गयी हो, १० वर्ष तक कायम रहेगी।

६. सुरक्षित स्थानों के लिए दलित-वर्ग के लिए निर्वाचन-प्रणाली, जिसका उल्लेख धारा १ से ४ तक है, उस समय तक जारी रहेगी जब-तक कि परस्पर समझौते द्वारा उसका अन्त न कर दिया जाये।

७. प्रान्तीय तथा केन्द्रीय धारासभाओं में दलित-वर्ग के लिए मताधिकार लोथियन रिपोर्ट के अनुसार होगा।

८. किसी भी व्यक्ति को केवल दलित-समुदाय का सदस्य होने के कारण स्थानीय बोर्डों के चुनावों में खड़ा होने या सरकारी नौकरियों में भरती होनें के अयोग्य न माना जायेगा। इन दोनों में दलित-वर्ग के पर्याप्त प्रतिनिधित्व के लिए प्रयत्न किया जायेगा; परन्तु प्रत्येक नौकरी के लिए निर्धारित योग्यता आवश्यक होगी।

९. प्रत्येक प्रान्त में शिक्षा के लिए स्वीकृत कोष में से यथेष्ट धन दलित-वर्ग की शिक्षा के लिए निर्धारित कर दिया जायेगा।

पूना-समझौते की उपर्युक्त धाराओं पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसके मुख्य उद्देश्य दो हैं। पहला तो यह कि सामाजिक तथा राजनीतिक दृष्टि से पिछड़े हुए दलित-वर्ग की उन्नति के लिए पर्याप्त संरक्षण और सुविधाएँ मिलें और दूसरा यह कि दलित-वर्ग हिन्दू-समाज से अभिन्न बन जाये।

इसमें सन्देह नहीं कि नये शासन-विधान में धारासभाओं में पर्याप्त प्रतिनिधित्व मिलनें के कारण इन जातियों को अपनी उन्नति के लिए पर्याप्त सुयोग मिला; परन्तु वे उनसे वास्तविक लाभ न उठा सके। उन्हें राजनीति में, समाज-नीति की भाँति, राजनीतिक दलों के शोषण का शिकार बनना पड़ा। वे ग्रामों में जमीदारों के आतंक के कारण अपने मताधिकार का प्रयोग स्वतंत्र रीति से न कर सके। भारत में उनके कुल १५१ सदस्यों में से १०-२० सदस्यों को छोड़कर शेष सभी या तो निरक्षर हैं या अर्द्ध-साक्षर। यद्यपि त्येक निर्वाचन-क्षेत्र से सुयोग्य कार्यकर्त्ता और शिक्षित व्यक्ति इन जातियों में मिल सकते थे, परन्तु ऐसा नहीं किया गया।

यद्यपि मद्रास, संयुक्तप्रान्त, बिहार—इन तीनों प्रान्तों में दलित-वर्ग के कांग्रेसी सदस्यों का बहुमत है, तो भी इन प्रान्तों के दलित-समुदाय की जनता में कांग्रेस के सदस्य बहुत ही कम हैं। कांग्रेसी उम्मीदवार के लिए मत प्राप्त कर लेना दूसरी बात है। यही कारण है कि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटियों में भी इनके बहुत ही कम सदस्य हैं—शायद उंगलियों पर गिनने लायक। इसका मुख्य कारण यह है कि अभी तक इन जातियों ने कांग्रेस के सन्देश को ग्रहण नहीं किया है।

दलित जातियों का कोई अखिल भारतवर्षीय दृढ़ और देशव्यापी संगठन नहीं है। इनके सुधार के लिए जो कुछ कार्य हो रहा है, वह प्रान्तीय आधार पर ही हो रहा है। प्रत्येक प्रान्त में अलग-अलग संगठन है। आवश्यकता है अन्तर्प्रान्तीय संगठन की।

दलित जातियों में प्रभावशाली नेतृत्व का भी अभाव तो है ही; पर उच्च शिक्षाका अभाव, आर्थिक कठिनाइयाँ, उच्च संस्कृति तथा प्रगतिशील विचार धारा का अभाव भी इनकी अवनति का एक मूल कारण है। इनके अतिरिक्त दलित जातियों पर ग्रामों में बड़े भीषण और अमानुषिक अत्याचार किये जाते हैं।

दलित जातियाँ, हिन्दू-समाज का ही अंग हैं, इसलिए हमारा कर्तव्य है कि सामाजिक दृष्टि से इनकी समस्या के समाधान के लिए प्रयत्न किया जाये। केवल राजनीतिक दृष्टि से इन्हें हिन्दू समाज का अंग मान लेने से न तो इनका कल्याण हो सकेगा और न वे राष्ट्र के उपयोगी अंग ही बन सकेंगे।

965

सहायक ग्रन्थों की सूची

अंग्रेजी

1. Atharvaveda : Harward Oriental Series.
2. Old Testament (Bible.)
3. G.D.H. Cole : Review of Europe to-day (1933).
4. Leonard Woolf : Intelligent Man's Way to Prevent War (1933).
5. A. Drault : Social and Political Problems at the end of the 19th century.
6. Ramsay Muir : Nationalism and Internationalism
7. Beni Prasad : The State in Ancient India.
8. Beni Prasad : Theory of Government in Ancient India.
9. K. P. Jayaswal : Hindu Polity.
10. Freda and Bedi : India Analysed, Vol I.
11. W. B. Curry : The Case for Federal Union.
12. S. Mussolini : The Political and Social Doctrine of Fascism in Encyclopaedia Italiana (1932).
13. M. K. Gandhi : Mahatma Gandhi's Speeches and Writings.
14. Hobhouse : Elements of Social Justice.
15. H. J. Lasky : Liberty in the Modern State (1937).
16. K. T. Shah : Federal Structure (1938).
17. Shrinivas Iyengar : The Problem of Democracy in India (1939).
18. James Bryce : Modern Democracies.
19. K. M. Panikkar : Hinduism and the Modern World.
20. Prof. Wadia : Contemporary Indian Philosophy.
21. B. R. Ambedkar : Annihilation of Caste.
22. D. F. Mulla : Principles of Mohammadan Law.
23. B. P. Sitaramayya : History of the Congress.
24. Herr Hitler : My Struggle.

25. The Harijan, Poona.
26. The Leader (19.6.1941).
27. The Hindustan Review (July 1934).
28, The Indian Information (Government of India, New Delhi).
29. League of Nations' Statute of Court.
3c. League of Nations' Statistical Year Book, 1930-31.
31. The Constitution of Socialist Soviet Russia.

हिन्दी

१. जवाहरलाल नेहरू : मेरी कहानी
२. मोहनदास करमचन्द गांधी : हिन्द-स्वराज
३. रामदास गौड़ : हमारे गाँवों की कहानी
४. महाभारत
५. वेनीप्रसाद : नागरिक-शास्त्र
६. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् : गांधी अभिनन्दन-ग्रन्थ
७. हरिभाऊ उपाध्याय : स्वामीजी का बलिदान और हमारा कर्त्तव्य
८. नान्हालाल चमनलाल मेहता : भारतीय चित्रकला
९. भगवानदास केला : नागरिक-शास्त्र
१०. मो० क० गांधी : हमारा कलंक
११. रामनारायण यादवेन्दु : राष्ट्रसंघ और विश्व-शान्ति
१२. रामनारायण यादवेन्दु : भारतीय शासन-विधान
१३. वर्धा-शिक्षा-समिति की रिपोर्ट
१४. 'सरस्वती' (जनवरी, १९३७), प्रयाग
१५. 'हरिजन-सेवक', पूना
१६. 'विश्वमित्र' (अगस्त १९४०), कलकत्ता
१७. 'कर्मयोगी' (जनवरी, १९३७), प्रयाग

सस्ता साहित्य मण्डल के प्रकाशन

सर्वोदय-साहित्य माला

पुस्तक	लेखक	मूल्य
१. दिव्य-जीवन	स्वेट मार्डेन	।=)
२. जीवन-साहित्य	काका कालेलकर	॥=)
३. तामिल वेद	ऋषि तिरुवल्लुवर	॥)
४. भारत में व्यसन-व्यभिचार	वैजनाथ महोदय	॥।=)
८. ब्रह्मचर्य-विज्ञान	जगन्नारायण देव शर्मा	॥।=)
१४. द० अ० का सत्याग्रह	महात्मा गांधी	१॥)
१६. अनीति की राह पर	"	।=)
१८. कन्या-शिक्षा	स्व० चन्द्रशेखर शास्त्री	।)
१९. कर्मयोग	अश्विनीकुमार दत्त	।=)
२०. कलवार की करतूत	महात्मा टॉल्स्टॉय	=)
२१. व्यावहारिक सभ्यता	गणेशदत्त शर्मा 'इन्द्र'	॥)
२२. अंधेरे में उजाला	महात्मा टॉल्स्टॉय	॥)
२५. स्त्री और पुरुष	"	॥)
२६. सफ़ाई	गणेशदत्त शर्मा 'इन्द्र'	।=)
२७. हम क्या करें ?	महात्मा टॉल्स्टॉय	१)
३१. जब अंग्रेज नहीं आये थे	स्व० दादाभाई नौरोजी	≡)
३९. तरंगित हृदय	आचार्य देवशर्मा 'अभय'	॥)
४१. दुखी दुनिया	राजगोपालाचार्य	॥)
४२. जिन्दा लाश	महात्मा टॉल्स्टॉय	॥)
४३. आत्मकथा	महात्मा गांधी	१), १॥)
४५. जीवन विकास	सदाशिव नारायण दातार	१।), १॥)
४७. फाँसी	विक्टर ह्यूगो	।=)
५०. मराठों का उत्थान और पतन	गोपाल दामोदर तामसकर	२॥)
५१. भाई के पत्र	रामनाथ 'सुमन'	१॥)

५४. स्त्री-समस्या	मुकुटविहारी वर्मा	१॥)
५८. इंग्लैंड में महात्माजी	महादेव देसाई	॥।)
५९. रोटी का सवाल	प्रिंस क्रोपाटकिन	१)
६०. दैवी संपद्	रामगोपाल मेहता	।=)
६४. संघर्ष या सहयोग ?	प्रिंस क्रोपाटकिन	१॥)
६५. गांधी विचार दोहन	किशोरलाल मशरूवाला	॥।)
६७. हमारे राष्ट्रनिर्माता	रामनाथ 'सुमन'	१॥)
६९. आगे बढ़ो	स्वेट मार्डेन	॥)
७०. बुद्ध-वाणी	वियोगी हरि	॥=)
७१. कांग्रेस का इतिहास	पट्टाभि सीतारामैया	२॥)
७२. हमारे राष्ट्रपति	सत्यदेव विद्यालंकार	१)
७३. मेरी कहानी	जवाहरलाल नेहरू	३)
७४. विश्व-इतिहास की झलक	" "	८)
७५. हमारी पुत्रियाँ कैसी हों ?	चतुरसेन शास्त्री	॥।)
७६. नया शासन-विधान (प्रान्तीय स्वराज्य)	हरिश्चन्द्र गोयल	॥।)
७७. गाँवों की कहानी	स्व० रामदास गौड़	॥)
७८. महाभारत के पात्र (दो भाग)	आचार्य नानाभाई	१)
७९. गाँवों का सुधार और संगठन	स्व० रामदास गौड़	१)
८०. संतवाणी	वियोगी हरि	॥)
८१. विनाश या इलाज ?	म्यूरियल लेस्टर	॥।)
८३. लोक-जीवन	काका कालेलकर	॥)
८४. गीता-मंथन	किशोरलाल मशरूवाला	१॥)
८५. राजनीति प्रवेशिका	हेरल्ड लास्की	॥)
८६. हमारे अधिकार और कर्तव्य	कृष्णचन्द्र विद्यालंकार	॥)
८८. स्वदेशी और ग्रामोद्योग	महात्मा गांधी	॥)
८९. सुगम चिकित्सा	चतुरसेन शास्त्री	॥)
९०. प्रेम में भगवान्	म० टॉलस्टॉय	॥।)
९१. महात्मा गांधी	रामनाथ 'सुमन'	।=)

९२. ब्रह्मचर्य	महात्मा गांधी	।।)
९३. हमारे गाँव और किसान	मुख्तारसिंह	।।)
९४. गांधी-अभिनन्दन ग्रन्थ	सर्वपल्ली राधाकृष्णन्	१।), २)
९५. हिन्दुस्तान की समस्याएँ	जवाहरलाल नेहरू	१)
९६. जीवन-सन्देश	खलील जिब्रान	।।)
९७. समन्वय	भगवान्दास	२)
९८. समाजवाद : पूँजीवाद	बर्नार्ड शॉ	।।।)
९९. मेरी मुक्ति की कहानी	म० टॉलस्टॉय	।।)
१००. खादी मीमांसा	वालूभाई मेहता	१।।)
१०१. बापू	घनश्यामदास बिड़ला	।।=), २)
१०२. मधुकर	विनोबा	१)
१०२. लड़खड़ाती दुनिया	जवाहरलाल नेहरू	१)
१०४. सेवाधर्म : सेवामार्ग	कृष्णदत्त पालीवाल	१)
१०५. दुनिया की शासन-प्रणालियाँ	रामचन्द्र वर्मा	१।।)
१०६. डायरी के पन्ने	घनश्यामदास बिड़ला	।।।), १।)
१०७. तीस दिन : मालवीयजीके साथ	रामनरेश त्रिपाठी	२)
१०८. युद्ध और अहिंसा	महात्मा गांधी	।।।)
१०९. महावीर वाणी	बेचरदास दोशी	१।।)
११०. भारतीय संस्कृति	रामनारायण यादवेन्दु	१।)
१११. बिखरे विचार	घनश्यामदास बिड़ला	।।।)
११२. अहिंसा-विवेचन	किशोरलाल मशरूवाला	।।।)

नवजीवन-माला

१. गीता-बोध २. मंगलप्रभात	म० गांधी	-) -)
३. अनासक्तियोग म० गांधी	सादी =) श्लोक सहित ≡) सजिल्द	।)
४. सर्वोदय	”	-)
५. नवयुवकों से दो बातें	प्रिंस क्रोपाटकिन	-)
६. हिन्द-स्वराज्य	म० गांधी	≡)
७. छूतछात की माया		-)

८. किसानों का सवाल	जेड. ए. अहमद	=)
९. ग्राम-सेवा	म० गांधी	=)
१०. खादी और गादी की लड़ाई	विनोवा	=)
११. मधुमक्खी पालन		=)
१२. गाँवों का आर्थिक सवाल		≡)
१३. राष्ट्रीय गीत		=)
१४. खादी का महत्व	गुलजारीलाल नन्दा	-)॥
१५. जब अंग्रेज नहीं आये थे		≡)
१६. सोने की माया	किशोरलाल मशरूवाला	-)
१७. सत्यवीर सुकरात	म० गांधी	-)

सामयिक साहित्य माला

१. कांग्रेस-इतिहास	(१९३५–१९३९)	।-)
२. दुनिया का रंगमंच	जवाहरलाल नेहरू	=)
३. हम कहाँ हैं ?	,,	=)
४. युद्ध-संकट और भारत : म० गांधी, राष्ट्रपति आदि के वक्तव्य		।)
५. सत्याग्रह क्यों, कब और कैसे ?	म० गांधी	≡)
६. राष्ट्रीय पंचायत : महात्माजी, जवाहरलाल नेहरू, राजाजी		।)
७. देशी राजाओं का दरजा	प्यारेलाल	।)
८. यूरोपीय युद्ध और भारत	म० गांधी, जवाहरलाल	।)
९. रचनात्मक कार्य-क्रम	म० गांधी	=)

विविध प्रकाशन

१. पण्डित मोतीलाल नेहरू	रामनाथ 'सुमन'	।)
२. पण्डित जवाहरलाल नेहरू	,,	=)
३. सप्त सरिता	काका कालेलकर	=)
४. चारा दाना और उसके खिलाने के उपाय : परमेश्वरीप्रसाद गुप्त		≡)
५. पशुओं का इलाज	परमेश्वरीप्रसाद गुप्त	॥)
६. उपनिषदों की कथाएँ	शंकर दत्तात्रेय देव	।)
७. आदर्श बालक	चतुरसेन शास्त्री	।।।